त्रिशतसांवत्सरिक शिव-स्मारक-ग्रंथावली शाके १८५१

अनुक्रम २. खंड ३

शिवाजी--निबंधावली भाग २

SIVAJI-NIBANDHAVALI ~~Part 2~~

PART - 2



१८५१] श्रीशिवचरित्रकार्यालय [इ. स. १९३०
पुणे

प्रकाशक--

रायगड-स्मारक मंडळ आणि भारत-इतिहाससंशोधक मंडळ, पुणें यांच्या सहकार्यानें चाललेल्या श्रीशिवचरित्र-कार्यालयातर्फे कार्यालयाचे चिटणीस नरसिंह चिंतामण केळकर व दत्तात्रेय विष्णु आपटे, ३१२ सदाशिव, पुणें नं. २.

मराठी विभाग

मुद्रक--

पृष्ठें १-८ रा. रा. वामन वासुदेव अतीतकर, बी. ए., नवीन समर्थ विद्यालयाचा समर्थभारत छापखाना, घ. नं. १४७ सदाशिव, पुणें शहर.

" ९-१६ रा. रा. श्रीपाद रघुनाथ राजगुरु, राजगुरु कंपनीज प्रेस, घर नंबर ५१३ शनिवार पेठ, पुणें २.

„ १७-१५४ रा. रा. अंनत विनायक पटवर्धन, आर्यभूषण छापखाना घर नं. ९३६।२ पेठ भांबुर्डा पुणें शहर.

इंग्रजी विभाग

रा. रा. वामन वासुदेव अतीतकर, समर्थ भारत छापखाना, घ. नं. १४७ सदाशिव पुणें २.

प्रस्तावना.



१. या ग्रंथांत, श्री शिवाजी महाराजांच्या चरित्रावर अप्रत्यक्षपणें प्रकाश पाडणारे व शिवकालीन परिस्थितीचें वर्णन करणारे लेख संग्रहित केले आहेत. कोणत्याहि विवक्षित कालाचा इतिहास चांगला समजण्यासाठीं त्या वेळच्या समाजाची शक्य तितकी संपूर्ण माहिती मिळविण्याकडे शास्त्रीय इतिहासाचा कल वळल्यापासून या प्रकारच्या अभ्यासाला महत्त्व आलें आहे. कोणताहि कालखंड नानाविध शास्त्रांचा अभ्यासविषय होऊं शकतो; यामुळें शिवकालाचाच अभ्यास राजकीय किंवा राजकारणी दृष्टीशिवाय, आर्थिक, शैक्षणिक, भाषिक, वैय्यापारिक इत्यादि अनेक दृष्टींनीं करतां येण्यासारखा आहे. याचें अगदीं अल्पसें दिग्दर्शन मात्र या संग्रहांत करतां आलें. याला अनेक कारणें आहेत, तथापि, शिवचरित्रकार्यालयानें अगदीं अल्पकालांत पुरे करण्यासाठीं अंगावर घेतलेल्या अनेक उद्योगांपैकीं हा एक होय, असा विचार करून पाहिला म्हणजे शिवाजीविषयक भावी ज्ञानकोशाचा मूळारंभ या नात्यानें हा संग्रह आदरणीय ठरेल अशी अपेक्षा आहे.

२. शिवकालाचा सांगोपांग अभ्यास करण्याकरितां अनेक शास्त्रांत पारंगत अशा विद्वानांचें सहकार्य झालें पाहिजे आणि तशा तऱ्हेचीं नांवें या ग्रंथाच्या लेखकवर्गांत खास पहावयास सांपडतील. अनुक्रमणिकेमध्यें ग्रथित झालेलीं नांवें हिंदुस्थानच्या अनेक प्रांतांचें सहकार्य सुचवीत असल्यामुळें, आहे. या स्वरूपांतहि हा ग्रंथ पूर्णपणें प्रातिनिधिक स्वरूपाचा आहे हें प्रामुख्यानें लक्षांत येतें आणि शिवाजीविषयक अभ्यास दिवसेंदिवस ऊर्जितावस्थेला येऊन लवकरच तो पूर्णतेला पोंचण्याचा सुदिन प्राप्त होईल अशी आशा वाटते.

३. आमच्या विनंतीला मान देऊन किंवा स्वयंस्फूर्तीनेंहि अखिल भारतवर्षांतील व परद्वीपांतीलहि विद्वानांनीं निबंध पाठविले याबद्दल आम्ही त्या सर्वांचे आभारी आहोंत. त्या सर्वांमध्यें एकसूत्रीपणा रहावा म्हणून श्री. न. चिं. केळकर, प्रो. वा. गो. काळे आणि रा. सा. ना. गो. चापेकर यांना त्या निबंधांचें अवलोकन करून सूचना करण्याबद्दल विनंति केली होती. त्याप्रमाणें त्यांनीं ते सर्व निबंध वाचून उपयुक्त सूचना केल्या. त्यामुळेंच या ग्रंथांमध्यें नीटनेटकेपणा आला आहे. रा. ब. बेंद्रे डकर वगैरेंनी पाठविलेले आणखी कांहीं निबंध छापणें आमच्या आटोक्याबाहेरचें असल्यामुळें कित्येक निबंधांचा त्रुटित सारांश देण्यापलीकडे आम्हांला कांहीं करतां आलें नाहीं, याबद्दल वाईट वाटतें. तसें करण्याचें कारण अर्थात् पुरेशा जागेचा अभाव एवढेंच आहे.

४. लेखकवर्गांबरोबरच, त्यांचे परिश्रम योग्य स्वरूपांत जनतेपुढें मांडण्यासाठीं छपाई इत्यादि करितां द्रव्यसहाय्य करणारे कऱ्हाडचे सुप्रसिद्ध पुढारी **श्रीमंत पांडु अण्णा शिराळकर** यांचे मनःपूर्वक आभार मानले पाहिजेत. शिवाजी–निबंधावलीचा संपूर्ण छपाईच्या खर्चासाठीं एक हजार रुपये बिनव्याजी देऊन ह्या पुस्तकाच्या तोट्याची जबाबदारी त्यांनीं अंगिकारिली आहे. पुढें हें पुस्तक आटोक्याबाहेर वाढून चरित्र-विषयक निबंधाचें पुस्तक निराळें करणें भाग पडलें. त्याबरोबर खर्चाच्या रकमे-चाहि आंकडा चढूं लागला. त्यामुळें या दोन पुस्तकांपैकीं एका पुस्तकास पुनः मदत देण्याबद्दल इंदूरच्या **ग्रंथोत्तेजक मंडळाला** विनंति करण्यांत आली. आणि ह्या दुसऱ्या ग्रंथाच्याहि पुरस्कारानें, पूर्वजांच्या स्मृतिरक्षणाचें पवित्र कार्य अढळ निष्ठेनें पत्करल्याचें ते जाहीर करतील अशी आशा आहे. त्यांचें साभार अभिनंदन प्रत्येक सहृदय वाचक करील यांत शंका नाहीं.

पुणें,
शिवाजी–जयंती १८५१.

नरसिंह चिंतामण केळकर
दत्तात्रेय विष्णु आपटे

अनुक्रमणिका

(इंग्रजी विभाग)

नुस्रतीकृत अलीनामा

(लेखक—प्रो. **नवाब आगा हैदर हसन, हैदराबाद**)

अलीनामे के मुसन्निफ मुल्ला नुस्रती को किसी ने तलवार से सन १०८१ हिजरी [श. १५९२ = इ. १६७०] में शहीद कर दिया.

नुस्तती की तसानीफ में एक और मस्नवी है जिसका मोजू किस्सा ' लालहीरा ' है. इस मस्नवी का मजकूर मुनशी जसवंतने अपनी मस्नवी ' गुलदस्ते इश्क ' में जो, फर्रुखसियर के जमाने में दक्नी उर्दू में लिखी गई है किया है. यह मस्नवी मुल्लानुस्रती की मस्नवी ' लालहीरा'से माखूज है.

मुल्ला नुस्रती की इस् मस्नवीका जिक्र किसी और तजकिरा नवीस ने नही किया है. इन की दीगर तसानीफ का हाल मै पहिले दे चुका हूं, और मालूम नही क्या क्या तसानीफ होंगी जो पर्दए आदम् में है; और रसाई तो कुजा, हम् को उन का इल्म भी नही. अब मै अलीनामे के मुतल्लिक जो मुल्ला नुस्रती की रज्मिया मस्नवी है कुछ अर्ज करूं गा.

मेरे कुतुबखाने में जो अलीनामा है वह ना किसुल्-अव्वल व ना किसुल्-आखिर है. १८४ वरक हैं, जिन के ३६८ सफ्हे हुवे. चौदह् मासुमीन अलेहिस्सलाम की रियातसे हर सफहे में चौदह् सतरें हैं इस्स नाकिस् नुसखे में ५४ सुरखियों की जगह छूटी हुई है. ५१०० अश्-आर हैं. मालूम नहीं कामिल नुसूखे में कितनी तादाद होगी. येह् रज्-मिया मस्नविओं में बेह्तरीन दक्नी उर्दूकी मस्नवी है. इस् से बेहतर उर्दू में मेरी नजर से कोई रज्मिया मस्नवी नही गुज्री.

" बुज् दिल् पढे, बहादुर हो जाय. "

अली आदिलशाह् सानी वालिये बीजापूर के हालात इस में मन्जूम हैं. और बाज तारीखी वाकेआत का गैर मामूली इन्किशाफ होता है:—

" सीवाजी की चीरे दस्तियां; बीजापूरी फौज का उस के मुकाबिलेमें भेजा जाना; अफजलखां का मारा जाना; दूसरे जमींदारों का सर उठाना; आखिर बादशाह्का खुद् उन् की सरकोबी के लिए निकलना; सीवाजी का शिकस्त देना; दूसरे बागियों का सर कुचलना, जिन् में एक **जौहर** भी

है; हिंदू उमरा व उह्दूदेदारों की बादशाह् के साथ नमकूहलाली व खैर-ख्वाही; सीवाजी का सुरत और मुगल सरहद् पर हम्ला; शाहिन्शाहे देहली, हजरत् आलमगीर का जयसिंग के मातेहत सीवाजी की सरकोबी को फौज रवाना करना और अली आदिलशाह् से मदद की दरख्वास्त करना; दोनो हुकूमतों में एह्दूनामा होना; आदिलशाही फौज का बढकर सीवाजी पर हम्ला करना और उसके किलेजात को फतह् करना; सीवाजी का जैसिंग से हममजहबी का वास्ता देना, और ऊंच नीच समझा कर बताना की यह् मौका बेहतर है कि इन् दो इस्लामी हुकूमतों को लडा दिया जाये; आखिर जयसिंग बीजापूरी सरहद् पर चढ आता है; देहली और बीजापूर में ठन जाती है; सिवाजी देहली की तरफ रवाना हो जाता है, बीजापूरका मुहासिरा किया जाता है लेकिन अली आदिलशाह देहली की फौजों को शिकिस्त देता है; इन् जंगो के सिलसिले में और छोटी मोटी लडाइयां आ जाती है; और इन का समां ऐसा बांधा है कि गोया हम अपनी आंखो से देख रहे हैं.

फौजों की तरतीब, हतियारों के नाम, वेह् हिंदु और मुसलमान अकवाम जो फौज में भरती होती थीं, इन के सैंकूडो ही नाम है. जंग के बाद का समा कि किस तरह चुडें लें, जोगणिया और खब्बीस रूहे आती है और वे किस तरह शिकस्ते हतियारो और मुरदा सिपाहियों व जानवरों से खेल्ती, कूद्ती और नाच्ती हैं. शिकारी परिंद और जंगली दरिंद किस तरह मुर्दों को खाते और नोच्ते हैं. इस किस्म के मनाजिर तीन चार जगेह आए हैं. रात को पढो तो सारी रात डरो, ऐसा भयानक समा बांधा है. देहली की फौज को तहकीरन ' धेली ' की फौज लिखा है.

इस मस्नवी में पहिले हम्द है. हम्द में लोहे की तारीफ में वह अशआर हैं जो मेरी नजरसे किसी और जबान में नहीं गुजरे.

तजकिरए शुअराए दकन में मौलाना मौलवी अबदुल जब्बार खां साहेब मरहूम ने नुस्रती के हाल में अलीनामे का जिक्र किया है और उस का पाहिला शेर दिया है, वह मेरे नुसूखे में नहीं है.

' हम्द के बाद 'मुनाजात' शुरू होती है उस के बाद ' नात ' है फिर मिअराजका बयान है. मिअराज के ८९ अशआर है फिर हजरत अली की तारीफ शुरू होती है जो ५६ अशआर पर खत्म होती है. इस के बाद अली आदिलशाह की मदह १११ शेरों में है; इस के आखिर में

किताब का नाम भी आ जाता है, जो 'अलीनामा' लिखा है. यहां से 'सबबे नजमे किताब' १२१ अशआर में बयान हुवा है.

अली आदिलशाह ने जिस जमाने में मुगलों पर फतह पाई एक दरबार मुनअकिद किया. सब लोग जमा हुए और बडी खुशियां हुईं. हाजिरान में से एक साहब हाकिमे शरा काजी सैयद करीमुल्लाह ने नुस्रती से कहा कि आज तक किसी ने मुगलों को शिकस्त नहीं दी, अली आदिलशाह ऐसा बहादूर बादशाह है कि जिस ने मुगलों को हरा दिया, इसकी तारीख लिखनी चाहिये. नुस्रती ने खयाल किया कि 'सय्यदशाह नूरुल्लाह' अली आदिलशाह की तारीख लिख चुके हैं, जो बहुत उमदा है. लेकिन जब तक किसी आरिफ की नजर न पडे कोई चीज कमाल को नही पहुंचती.

अली आदिलशाह के मुसाहिबो में एक साहिबे दिल सय्यद शाह अबुल मआली भी थे उन्होंने भी मियां नुस्रती की हिंमत बंधाई. खुद बादशाह अली आदिलशाह का भी ईमा हुआ, तो नुस्रती ने अलीनामा लिखना शुरू किया. मुल्ला नुस्रती कहते है कि अलीनामे से पेष्तर किसीं ने इस रंग ढंग की रजमिया मस्नवी नहीं कही थी. उन्हों ने जबाने दकनी को चार चांद लगा दिए और वह इस काबिल हो गई की अगर कोई इस की बे बजाअती पर तान करे तो मिया नुस्रती के अशआरे अलीनामा सनद के तौर पर पेश करके मोतरीज का मुह बंद किया जा सकता है.

इस के बाद से अस्ल तारीख का आगाज है. बीजापूर का हाल लिखा है, फिर लिखा है की जब अली आदिलशाह तख्तपर बैठा नया बादशाह था. दुष्मनों ने मौका अच्छा जाना और बडी फिक्रों में पड गए. लेकिन बादशाह ने हिंमत बांधकर सब के दिमाग दुरुस्त कर दिये. इस जिम्न में सीवाजी का—जिसको 'सीव्या' करके लिखा है—हाल बयान किया है और जहां सीवाजी का मजकूर है वहां उस का नाम ऐसे मामुली तरीके से लिया है की जिस से मालूम होता है की उस जमानें में वह बिलकुल हकीरे जलील आदमी था और उसकी कोई इज्जत न थी, और न उसका शुमार बडे रुतबे के लोगों में होता था.

यह वह जमाना था जब की पुर्तगीजो के तअस्सुब और तंग खयाली ने मुसलमानों को यूरोपी अकवाम से खुसूसन दकनमें सख्त मुतनफ्फिर कर

दिया था और वह दुष्मनाने इस्लाम होने की हैसियत से जरबुल मसल थे

अली आदिलशाह ने सीवाजी की सरकोबी के लिए अफजलखां को तइनात किया. सीवाजी ने इसको दगा से शहीद किया और वह पन्हाले का किला दबा बैठा. इस जमाने में अली आदिलशाह का लश्कर फतह चिंचावर (चंजावर?) पर गया हुवा था जो दो महीने के दौरे पर था. अली आदिलशाह ने थोडी फौज समेट कर जौहर की मातेहती में रवाना की. जौहर की एक कलमी तसवीर मेरे जखीरे में मौजूद है. उसने पन्हाले का मुहासिरा कर लिया. सीवाजी तंग आकर चोर रास्ते से भाग निकला. और किले में अपने आदमी छोड गया. आसपास तमाम बगावत की आग भडक उठी और मखलूक बतंग आ गई. आखिर अली आदिलशाह खुद उस की सरकोबी के लिए निकला. अभी पन्हाला एक मंजिल पर था कि एहले किला शाहकी आमद की खबर से लरज उठे और अम्र के ख्वाहां हुए, बादशाहने उन की दरख्वास्त मंजूर फर्माई. मिया नुस्रती ने पन्हाले की तारीखे फतह कही है,

" अलीने पल् मे पनाला लिये सलाबतसो " अली आलिलशाह ने सीवाजीका तआकुब करना अपनी शान के खिलाफ समझा.

इसके बाद एक कसीदा है जिस के १४८ अशआर हैं. और अली आदिलशाह की खूब मद्हसराई की गई है. इस के बाद बादशहा का इरादा हुआ की मलनाड के बागी का सिर कुचलें. जौहर जिस को सलाबतखां का खिताब अता हुआ था और पनाले की फत्ह से दिमाग को गर्मी चढ गई थी बादशाहसे मुन्हरिफ हो गया. आखिर बादशाह ने उस को शिकिस्त दी. उस की तारीख मुल्ला नुस्रतीने एक कसीदे में कही है जिस के ५६ अशआर हैं.

जौहर अल्मुखातिब सलाबतखां अली आदिलशाहसे शिकिस्त खाकर भागा. और आखिर में मर गया.

सलाबतखां के मरने के बाद उस का लडका बादशाह की हुजूर में हाजिर हो कर अपने आबाई मनासिब पर सर्फराज होता है. इस के बाद नुस्रती ने अली आदिलशाह की शान में एक कसीदा कहा है जो उस के कसीदों में बेहतरीन है. इस कसीदे के २८ अशआर है. इस के बाद एक कसीदा जाडे की तारीफ में कहा है. इस के कुल २४ अशआर हैं इस के बाद नुस्रती ने गरमी की मदह में ६५ अशआर का कसीदा कहा है.

नुस्रती के बयान से मालूम होता है कि आदिलशाह को सिहाबे रसूल से भी आकीदत थी, अगरचे वह् शीआ था, लेकिन सिहाबे रसूल को मानता था. अली आदिलशाह की वालिदा के अकीदे पर भी रोशनी पडती है. यह हज्ज करने गईं उसी साल अली आदिलशाह तख्त-नशीन हुआ. और बडी साहब का हज्जे अकबर हुआ उन्हों ने एक बहुत बडा इमाम बाडा तामीर कराया. नुस्रती ने उस की बहुत तारीफ की है. मुहरम के मौके पर भी एक कसीदा कहा है. इस कसीदे के २८ अशआर है. और मतले सानी में ११५ अशआर और हुए हैं. इस मुहर्रम के बाद बाद-शाह को राजा मलनाड की सरकोबी का खयाल हुआ, शर्जेखां को उस की बीखकनी के लिये भेजा, और बाद अजां खुद भी रवाना हुआ. इस के मुल्क को फतह करने के बाद फिर राजा की खता मुआफ करके उस का मुल्क उसी को वापिस दे दिया. नुस्रती ने इस मोके पर दो मतलोंका कसीदा. लिखा है, जिन की मजमूई तादादे अशआर २१७ है.

इस अरसे में सीवाजी नें मोका पाकर शायस्तेखां पर शबखून मारा, उस के महेल मे घुस गया. महेल मे जो शायस्तेखां की रजपूत हरमे सोती थी वे सिपर होकर आडी आई, और बहुत सी मारी गईं. शायस्तेखां भी जखमी हुआ. हजरत औरंगजेब को जब इस की खबर हुई तो जसवंत-सिंग को सीवाजी की सरकोबी के लिए भेजा. जसवंतसिंग को गोता देकर सीवाजी सूरत की तरफ निकल भागा. और जाकर शहर लूट लिया. हज-रत आलमगीर को जब इस वाके का परचा गुजरा होंट चबाते रह गये. आखिर सलाह ठेरी की अली आदिलशाह से दोस्ती की जाय, और बीजा-पूरियों की मदद से इस बला को नेसतो नाबूद किया जाय. मिर्जा राजा जयासिंग को फौज की सरदारी दे कर सीवाजी की मुहिम पर रवाना किया. इधर अली आदिलशाह ने दरबार किया और इखलासखां को सीवाजी की मुहिम का सरदार किया. इखलासखां ने फौरन बढकर सीवाजी पर हम्ला किया. उस की फौज में सय्यद शाह हजरत, सय्यदी सुरूर और शेख मीरां ने बहुत कारनुमायां किये. आखिर सीवाजी को शिकिस्त हुई.

जब इस की खबर हजरत औरंगजेब को हुई तो उन्हों ने जयसिंग को लानत व मलामत की और गैरत दिलाई. जयसिंगने जिस किले में सीवाजी जा कर छुपा था उसका मुहासिरा कर लिया. सीवाजी ने जयसिंग

को ऐसे सब्ज बाग दिखाए कि वह आदिलशाह से खटकने लगा, और अपने आका औरंगजेब के आदिलशाह से वादा वईद को भूल गया. और फतूहे दनके खयाली पुलाओ पकाने लगा. यहां नुस्रतीने तमा की खिदमत में कुछ अशआर कहे हैं.

गरज जब सीवाजी और जयसिंग की मिली भगत हो गई तो चुप के चुप के से छेड छाड करने लगे. अली आदिलशाह को ताब न रही. उसने भी मुकाबिले की तैयारियां शुरू कर दीं. मुमालिके महरूसे में अहकामाते कुमक रवाना किये गए, बीजापूर को मुस्तेह कम गया. यहां मुल्ला नुस्रती ने इस्तेहकामात की तफसील दी है, और बीजापूर की मजबूती की खूब तारीफ की है, फिर आदिलशाह की फौज की खूब तारीफ की है; और देहली फौज की हिज्व और मजम्मत. बाद अजां अली आदिलशाह की फौज की तफसील दी है. इस में किस किस कबीले, कौम, मुल्क और मजहब के आदमी थे वह लिखा है.

अली आदिलशाह की तरफ से शर्जे खां फौज का कमानदार था और जयसिंग की तरफसे सर्फराजखां पंजहजारी बढा. दोनों फौजों की मुटभेड हुई. सर्फराजखां मारा गया. शर्जेखां की फतह् हुई. ताहम देहली की फौज आगे बढी. मुल्ला नुस्रती ने मुगलों की फौज की तफसील दी है की वह किस किस कौम, कबीले और मुल्कको थी * (अपूर्ण)

---

* नवाब आगा हैदर हसन (हैदराबाद, दक्षिण) यांनीं आमच्या विनंतीस मान देऊन आपल्या संग्रहीं असलेल्या अलीनाम्याचा सारांश पाठविला याबद्दल आम्ही त्यांचे फार आभारी आहों. नबाबसाहेब यांनीं आपला लेख उर्दू लिपींत लिहिला आहे व ठिकठिकाणीं त्यांनीं मूळ ग्रंथांतील उतारे दिले आहेत; पण भाषा जुनी दक्षिणी उर्दू असून पुनः बरींच दुर्बोध असल्याकारणानें येथें देणें प्रशस्त दिसलें नाहीं. उर्दू लिपीचें मराठींत लिप्यंतर करण्याचें काम प्रो. भगवद्दयाल वर्मा (फर्ग्युसन कॉलेज) यांनीं वेळ काढून मोठ्या कसोशीनें करून दिलें, याबद्दल त्यांचे आभार मानावे तेवढे थोडेच आहेत. नबाबसाहेबांच्या संग्रहांतील अलीनाम्याची प्रत अपूर्ण आहे. परंतु प्रो. वर्मा यांनीं पुरी प्रत मिळविली आहे; तिचें भाषांतर व मूळ प्रकाशित करून शिवाजी चरित्राच्या समकालीन सामुग्रींत महत्त्वाची भर टाकण्याची खटपट ते करणार आहेत.

शिवकालीन इटालिअन प्रवासी.

(लेखक—**दामोदर विश्वनाथ गोखले, पुणें**)

[पीटर डेला व्हॅले हा रोमन गृहस्थ हिंदुस्थान, अरबस्थान वगैरे देशांतून १६२३* च्या फेब्रुवारी महिन्यापासून १६२६ च्या जुलै अखेर पर्यंत फिरत होता. त्यानें आपलें प्रवासवर्णन, सविस्तर व मनोरंजक पद्धतीनें आपला मित्र मेरिओ शिपानो याला एकंदर १८ पत्रें लिहून कळविलें आहे. त्याचें पहिलें पत्र सुरत मुक्कामाहून ता. २२ मार्च १६२३ रोजीं लिहिलें असून शेवटचें पत्र रोमहून ता. १ आगस्ट १६२६ ला लिहिलें आहे. मूळ पत्रांचें भाषांतर जी. हॅवर्स ह्या इंग्रज गृहस्थानें केलें असून पुस्तक इ. स. १६६५ त छापलेलें आहे.]

पीटर हा गृहस्थ उच्चवर्णीय रोमन सरदारांपैकीं होता; देशाटन करून ज्ञान मिळवावें एवढाच त्याचा हेतु होता; पैशाचा पुरवठा त्याला रोममधून वारंवार होत असे; वगैरे गोष्टी त्यानें स्वतःच मंगलोरच्या राजपुत्रानें विचारलेल्या प्रश्नांस उत्तरें म्हणून सांगितलेल्या आहेत. व्यापार अगर राजकारण हा त्याचा हेतु नव्हता हें त्यानें केलेल्या वर्णनावरूनच स्पष्ट आहे. हा कट्टा ख्रिस्ती आहे. पोपसंबंधीं याची श्रद्धा अतिशय होती असें दिसतें. अर्थात् इतर धर्मासंबंधानें, विशेषतः मूर्ती–पूजा–प्रधान असलेल्या हिंदुधर्मासंबंधानें, त्यानें अत्यंत तिरस्कारानें लिहिलें आहे. किंबहुना या मूर्तीपूजकांसंबंधानें माहिती घेण्याचाच त्याचा विचार व उद्देश या प्रवासांत होता असें म्हणतां येईल. हा स्वतः विद्वान् व चतुरस्र होता. त्याला नौकानयनाची तसेंच वेध घेण्याची कला माहीत होती. निरनिराळ्या देशांतील ग्रंथ आपल्या संग्रहीं असावे या उद्देशानें त्यानें पौरस्त्य देशांतील पुष्कळ ग्रंथहि जमा केले होते. दक्षिण हिंदुस्थानांतील लोकांना तो रानटी समजतो. हिंदु देवळें व तेथील पूजा–अर्चा तसेंच लोकांच्या चालीरितींची चर्चा व त्यांचीं वर्णनें करतांना यानें निंदाप्रचुर भाषा वापरलेली आहे.

१ पत्र पहिलें (सुरत, मार्च २२ इ. स. १६२३.)

सुरतेस वाहनासाठीं बैलांचे रथ वापरतात. या रथांचें वर्णन करतांना तो लिहितो कीं, "रथाला किरमिजी रंगाच्या रेशमाचें आच्छादन असून रथभर पिवळ्या रेशमाचे गोंडे सर्वत्र सोडलेले होते. बैल मोठे, पांढरे असून उंटाच्या मदारी प्रमाणें त्यांच्या खांद्यावर मांसाचा गोळा असतो व ते घोड्याप्रमाणें पळतात. इकडे बेलाचें झाड पवित्र मानलें जातें व त्याची फळें पोटदुखी वगैरे रोगांवर फार औषधि आहेत व त्याचा उपयोग आपणहि केला; (पा. ११-१९)

---

*यांत आलेल्या तारखा न्यू स्टाइलप्रमाणें आहेत. त्यावरून ओल्ड स्टाइलच्या तारखा काढण्यासाठीं दहा दिवस कमी केले पाहिजेत.

सुरत येथील नाक्याचे कर फार कडक शिस्तीचे होते. प्रत्येक माल कसोशीनें तपासून मग सोडला जाई. त्याच्या बरोबर एक मुलगी होती. तिचीसुद्धां जकात-अधिकाऱ्यांनीं चौकशी व तपासणी केली; व तिला कोठें नेणार वगैरे विचारिलें. पण तिला कोणत्याहि तऱ्हेचा त्रास दिला जाऊं नये असे हुकूम पुढें अधिकाऱ्यांनीं दिले. त्या मुलीच्या रहाण्याची व्यवस्था कोठें करावयाची हा अवघड प्रश्न त्याच्यापुढें होता. त्याला पुढें त्याचा एक स्नेही भेटला. त्याच्या घरीं त्यानें तिला ठेविली. येथील डच लोकांनीं पुष्कळ हिंदुस्थानी आर्मीनियन व सिरियन बायकांशीं लग्न केलें होतें. जावा बेटांत डच लोकांनीं एक नवी वसाहत केली होती. या वसाहतींत कुटुंबवत्सल डच माणसांना निरनिराळ्या तऱ्हेचे इतरांपेक्षां अधिक असे पुष्कळ हक्क दिले होते. यांत डच अधिकाऱ्यांचा उद्देश हा होता कीं, डच लोकांची प्रजा त्या ठिकाणीं वाढावी, व त्यामुळें त्यांची वसाहत सुसंरक्षित व्हावी. डच लोक कोणाच्याहि बायका पळवून नेत असत. याचें वर्णन देतांना त्यानें असें लिहून ठेविलें आहे कीं, हॉलंडर डच लोकांनीं पोर्तुगालचें एक जहाज पकडलें व तें बुडविलें. जहाजाच्या लुटींत त्यांनीं तीन सुंदर स्त्रिया धरून आणिल्या. पोर्तुगालचा राजा आपल्या देशांतील पोरक्या मुली हिंदुस्थानांत लग्नाकरतां पाठवीत असे व त्यांच्या बरोबर तो हुंडाहि पाठवीत असे. या तीन मुली त्यांपैकींच होत्या. त्या सुंदर असल्यानें त्यांच्याशीं लग्न कोणीं करावें याबद्दल मोठा झगडा झाला व शेवटीं सर्वांत श्रीमंत असलेल्या एका व्यापाऱ्यानें एकीशीं लग्न केलें. या बाईनें पीटरबरोबरच्या मुलीस आपल्या घरीं रहावयास बोलाविलें. पण ती मुलगी हीन दर्जाची असल्यामुळें त्यानें तिच्याकडे आपल्या मुलीला पाठविलें नाहीं. पोर्तुगीज, डच वगैरे लोकांचे वसाहती वाढविण्याबद्दलचे प्रयत्न या गोष्टीवरून चांगले समजतात. मात्र इंग्रज व्यापाऱ्यांच्या बायका तेथें मुळींच नव्हत्या. (पा. १३-१४)

सुरत शहर सुंदर असून मोठें आहे. गांवाला तटबंदी आहे व वेशीचे दरवाजे रात्रीं बंद असतात. शहरांत लोकवस्ती पुष्कळ आहे. व घरेंहि चांगलीं आहेत. शहरांत हिंदूंची वस्ती अधिक. मुसलमानही बरेच आहेत. पण हे हिंदु व मुसलमान फार सलोख्यानें राहतात. कारण, बादशहा जरी मुसलमान असला तरी तो हिंदु व मुसलमान असा प्रजेमध्यें भेद करीत नाहीं. त्याच्या सैन्यांत, दरबारांत सर्वांना सारखाच दर्जा व बढती आहे. श्रेष्ठ दर्जाच्या जागा सुद्धा सर्वांना देण्यांत येतात. मुसलमानांपैकीं मोंगल वंशाचे लोक तेवढे थोडे चढेलपणानें वागतात. त्यांना हक्क व अधिकारहि इतरांपेक्षां थोडे अधिक आहेत. (पा. १६)

सुरतेच्या एका तलावाचें वर्णन करतांना तलाव शास्त्रीय पद्धतीनें व मोठ्या कौशल्यानें बांधला असल्याचें हा नमूद करतो. या देशांत पाण्याचा सर्वत्र तुटवडा असल्या कारणानें पावसाचें पाणी अशा तलावांत सांठवावें लागतें. अशीं तलावाचीं कामें करणें मोठें धर्मकृत्य समजलें जातें. सुरतेचा हा 'गोपीतलाव' गोपी नांवाच्या एका दानशूर गृहस्थानें बांधला. या तलावांत जनावरें व माणसें एकत्र पाणी पितात; तसेंच या तलावांत जनावरें

कपडेहि धुतले जातात. त्यामुळें पाणी फार अस्वच्छ असतें. जरूर तेवढें पाणी मिळालें म्हणजे तें स्वच्छ कीं, घाणेरडें आहे असला विचार हे लोक करीत नाहींत. (पा. १८)

हिंदूंचीं देवळें, देवता व त्यांचे पुजारी यांच्या संबंधानें अगदीं तिरस्कारबुद्धीनें हा लिहितो. सुरतेबाहेरील एका देवळाचें वर्णन करतांना निपुत्रिक स्त्रियांना या देवळांतील देवाची पूजा केली असतां मुलगा होतो वगैरे लोकप्रवादाचा उल्लेख करून त्यानें देवळांतील पुजारी अगर तेथील इतर लोक या निपुत्रिक स्त्रियांना फसवतात व दुर्वर्तन करतात; आणि अशा रीतीनें नवऱ्याचें व्यंग भरून काढतात असें हा लिहितो. (पान २१)

डच प्रेसिडेन्ट व इंग्रज प्रेसिडेन्ट रस्त्यानें जातांना त्यांच्यापुढें निशाण चालविलें जातें व त्यांचे बरोबर घोडेस्वार असतात. पायदळहि असतें. पण ते सर्व हिंदुस्थानी शिपाई असतात. हे शिपाई दिवसरात्र चोवीस तास ढाल, तरवार, जंबिया जवळ बाळगतात. तात्पर्य, या प्रेसिडेंटांचा थाट लहान प्रमाणांत बादशहासारखा असतो. या देशांत कोणीं कसेंहि वागावें बादशहाची अगर कायद्याची त्यांना आडकाठी नसते. श्रीमंतीचा थाट दाखविल्यास बादशहा कोणालाहि लुटीत नाहीं. त्यामुळें सर्वच श्रीमंत लोक वैभवानें रहातात. अर्थात् इंग्रज, डच वगैरे लोकांचे अधिकारीहि बादशहाप्रमाणें इतमामानें रहातात यांत नवल नाहीं. नोकरचाकरहि फार स्वस्त मिळत असल्यानें वाटेल तितके ठेवतां येतात. (पान. २२–२३)

हिंदु लोकांना खाण्याकरतां फक्त भात लागतो व तांदूळ अतिशय पिकत असल्यामुळें तो फारच स्वस्त विकत मिळतो. त्यांचीं वस्त्रें म्हणजे अंगांत अंगरखा, डोक्यावर पागोटें व पायांत तुमान शिवाय वर उपरणें असतें. पायांत पादत्राण असतें. पण तें असें असतें कीं, त्याला हात न लावतां पायांतून तें काढतां येतें. गरिबी–श्रीमंतीप्रमाणें त्या पादत्राणावर जरतारीचें काम केलेलें असतें. ढाल–तरवारहि सर्व लोक बाळगतात. शिवाय कट्यार अगर जंबिया हाहि असतोच. जंबिया हें शस्त्र याला इतकें आवडलें कीं, त्यानें आपल्याकरतां एक नवा जंबिया तयार करून घेतला. देशी पोषाख साधा व स्वच्छ असतो. कापडाचा रंग पांढरा शुभ्र असून कापड फारच चांगलें व बारीक असतें. त्यानें इतर कोणत्याहि देशांत इतका तलम कपडा पाहिला नव्हता. परंतु इकडे सर्व खाण्याचे वें वस्त्रप्रावर्णाचे जिन्नस अतिशय स्वस्त असल्यामुळें व सुरतेच्या व्यापाऱ्यांना खूप नफा मिळत असल्यामुळें तेथें नोकरचाकर वाटेल तितके ठेवणें रूढ होतें. मुसलमानी बायकांचा पेहराव पुरुषांसारखाच असून तो पांढरा स्वच्छ असतो क्वचित् तो तांबड्या रंगाचाहि असतो. बायका बाहेर जातांना क्वचित घोड्यावरूनहि जातात. पण त्या सर्व पांढऱ्या कपड्याचा बुरखा घेतात. हिंदु स्त्रिया मात्र तांबड्या रंगाचीं वस्त्रें नेसतात. दुसऱ्या रंगाचीं नेसत नाहींत. त्यावर कांहीं वेळां छाप मारलेले असतात व अशा वेलबुट्टीच्या वस्त्राला चीट असें म्हणतात. त्या फक्त एकच वस्त्र नेसतात व ते अशा रीतीनें नेसतात कीं, त्या योगानें सर्व अंग झांकलें जातें. कपड्याच्या आंत चोळी असते व ती कोपरापर्यंत असते. बायका हातांत सोन्याचीं, चांदीचीं अगर हस्तिदंती कांकणें घालतात (यांत कांचेच्या बांगड्यांचा

उल्लेख नाहीं.) कानांत भोंकें पाडून सोन्याचे व हिऱ्याचे दागिने घालतात. कानांतील भूषणें एक वीतभर लांब व वर्तुळाकृति असतात. नाकांतील दागिन्यांचें हा वर्णन करीत नाहीं. हिंदु स्त्रिया बुरखे न घेतां तोंडें उघडीं ठेऊन हिंडतात व कोणीहि त्यांच्याकडे पाहिलें तरी त्यांना त्याचें कांहींच वाटत नाहीं. तथापि या हिंदु स्त्रिया फार मर्यादशील असतात व त्यांना कुटुंबामध्यें मोठा मान दिला जातो. या हिंदुस्त्रियामध्यें गाण्यानाचण्याचा धंदा करणारी एकहि स्त्री नव्हती असें हा लिहितो. "मुसलमानांमध्यें हा नृत्यगायनाचा धंदा करणाऱ्या बायका फार. त्या कोठेंहि जातात व पैशाकरतां गातात व नाचतात व वेश्याव्यवसायास जरूर त्या सर्व गोष्टी करतात." इंग्रज व डच ज्यावेळीं चैन करीत असत त्यावेळीं या बायकांचे ताफे आणीत. (पा. २४)

आग्रा येथून टपाल आलें ता. २३ फेब्रुवारी. त्यांत सेलीमनें (जहांगीर) असफखान याला आग्रा येथें बोलाविलें असून सेलीमचा मुलगा खुर्रम (शहाजहान) हा आग्र्यास पोहचण्याच्या अगोदर तेथील खाजिना नेण्यास त्याला हुकूम केला होता. पितापुत्रांचें मोठेंच युद्ध जुंपणार व त्याचा परिणाम देशभर होणार अशी भीति सर्वत्र वाटत होती. (पा. २४)

भडोच या बंदरांतून नुसत्या आशिया खंडांतच नव्हे तर सर्व युरोपखंडांतील देशांत हिंदुस्थानांतील कापड पाठविलें जातें. दरवर्षीं मोठीं सहा जहाजें परदेशीं जातात. कापडाचा एक तुकडा टॉवेलएवढा असतो. व अलेप्पो येथें या तुकड्यास तीन किंवा चार 'पिझारे' (Piastre) व इटालींत सहा क्राऊन पडतात. यावरून बाहेरून केवढी संपत्ती या गांवांत येते याची कल्पना येईल. भडोच येथें पांढऱ्या व हिरव्या दगडांच्या खाणी आहेत. त्यांचे लहान मणी व त्यांच्या माळा व हार करून बाहेर पाठविले जातात. त्यालाहि फार किंमत येते. (पान ३२)

कँबे (खंबायत) येथें त्यानें दोन पांजरपोळ पाहिले. त्यांना हा 'इस्पितळें' म्हणतो. या पांजरपोळांत अनेक तऱ्हेचे पक्षी, लंगडीं, लुलीं व आजारी झालेलीं बकरीं, कोंबडीं वगैरे प्राणी ठेवले जातात. सर्व खर्च लोक चालवतात. हे प्राणी बरे झाले म्हणजे त्यांना रानांत सोडतात व जनावरें घरीं बाळगतात. एका ठिकाणीं उंदरांचीं लहान पोरें ठेविलीं होतीं व त्यांना एक वृद्ध गृहस्थ पिसानें दूध पाजीत होता. इतकेंच नव्हे तर एका मुसलमान चोराचे, चोरीच्या गुन्ह्याकरतां शिक्षा म्हणून हातपाय तोडले होते, तोहि या पांजरपोळांत होता. गांवांतहि आजारी, लंगड्या, पांगळ्या जनावरांची व प्राण्यांची काळजीपूर्वक शुश्रूषा केली जात असे. (पान ३२)

खंबायतमध्यें गाई, वासरें व बैल मारण्याची कडक बंदी होती. तेथील हिंदु लोकांनीं बादशहास मोठा करभार भरून हा हक्क संपादन केला होता. व एखाद्या मुसलमानानें सुद्धां जर गोहत्या केली तर त्याला देहान्त शासनाइतकी कडक शिक्षा दिली जात होती. (पान ३७)

१ या वेळीं शहाजहानानें बापाविरुद्ध म्हणजे नूरजहानविरुद्ध बंड पुकारलें होतें.

हिंदूंच्या मुख्य जाती चार आहेत. त्याच्या सात झाल्या व आतां ८४ आहेत. या जाती जन्मानें ठरतात व त्यांचे धंदेहि ठरलेले असतात. मुख्य धर्ममतें सर्वांचीं एकच आहेत. पुनर्जन्मावर सर्वांचाच विश्वास असल्यामुळें व आपल्या कर्माप्रमाणें जन्म येतो असें मानणारे हे सर्वच लोक असल्यामुळें त्यांच्यामध्यें तंटे होत नाहींत. शिवाय फक्त हिंदूंनाच शेवटीं मोक्ष आहे इतर धर्मीयांना नाहीं असा यांचा विश्वास आहे. इतर धर्मीय माणसें चांगली तपस्वी व सदाचरणी असलीं तर तीं शेवटीं हिंदुधर्मांत जन्मतात मग त्यांना मोक्ष मिळतो, अशी यांची कल्पना आहे. ब्राह्मण लोक खाण्यापिण्याच्या बाबतींत फारच कडक असतात. इतर जातीहि कमी असत नाहींत. कोणीहि एकत्र (एका ताटांत) जेवीत नाहींत; कोणीहि एकाच भांड्यानें पाणी पीत नाहींत. लग्नें आपापल्या जातींतच करतात. इतर जातींच्या व खालच्या कनिष्ठ जातींच्या माणसांना वरिष्ठ जातीचीं माणसें शिवत नाहींत. पाणी एका भांड्यानें पीत नसल्यामुळें कांहीं अडचण पडते म्हणून या लोकांनीं पाणी पिण्याची एक नवी युक्ती काढिली आहे. ती म्हणजे वरून पाणी हातावर ओतल्यानंतर (ओंजळीनें) पाणी प्यावयाचें. 'हवेंतून पाणी पिणें' असें यानें या पद्धतीला नांव दिलें आहे. तसेंच भांडें तोंडाला न लावतां पाणी घटघट पिणाऱ्यांचें यानें मोठें कौतुकास्पद वर्णन केलें आहे. हिंदुस्थानच्या नांवानें ' टोस्ट ' पितांना सर्वांनीं भांड्याला तोंड न लावतां टोस्ट प्याला पाहिजे असा गमतीचा नियम केल्याचा हा उल्लेख करतो. (पा. ४२-४३)

हे लोक फार नीतिमान् आहेत. दारू व व्यभिचार या दोन्ही गोष्टी ते अत्यंत निंद्य समजतात. गुलामांची चाल यांच्यांत नाहीं. ते गुलामांना मुक्त करतात व त्यांना कामाबद्दल पैसे देतात. त्यामुळें गुलामांच्या बायकाकडे दासी या दृष्टीनें पहात नाहींत. पुरुषांशीं व्यवहार करणें हें मोठें पाप आहे असें समजलें जातें. पण मुसलमानांत हा प्रचार असल्यामुळें त्यांचा हे लोक फार द्वेष करतात. लग्न एकच करतात व बायको मेल्यानंतर दुसरी करतात, राजे लोक तीन चार बायका करतात पण ही बहुपत्नीकत्वाची चाल सर्वत्र नाहीं व ती गौण समजली जाते. नवरा दुसरें लग्न करितो, पण बायकांना ही परवानगी नसल्यामुळें क्वचित तरुण विधवा स्त्रिया गुप्तपणें विशेषतः परधर्मीय माणसांशीं व्यवहार करतात.

मनुष्यवध करणें व नरमांस खाणें हें फार मोठें पाप समजलें जात असल्यामुळें जे नरमांस खातात अशा लोकांना हे राक्षस समजतात. प्राणिवध करणें हेंच पाप समजलें जातें. यामुळें मांस कोणी खात नाहींत. जितका वर्ग वरिष्ठ तितक्या प्रमाणांत तो मांसनिवृत्त असतो. ज्या भाज्यांतून लाल रस निघतो त्या भाज्यासुद्धां हे लोक खात नाहींत. खालील वर्णाचे लोक मांस खातात, पण ते स्वतः जनावर मारीत नाहींत. (पा. ४५)

गोमांस भक्षण तर सर्वांनाच सवर्था वर्ज्य आहे. गाईचें दूध पिऊन लोक वाढतात व बैलांच्या मशागतीवरच सर्व शेती अवलंबून असल्यामुळें गोमांस भक्षण हें महापाप समजलें जातें तें योग्यच आहे. (पा. ४५)

मद्य घ्यावयाचें नाहीं असा कडक निर्बंध आहे. खालचे लोक विशेषतः रजपूत मद्य पितात. पण त्यांनाहि आपण पाप करतों असें वाटतें. जानवीं कोण वापरीत असत यासंबंधीं हा लिहीत नाहीं. पण जानवें व लिंग हीं जिन्हें सन्मानाचीं व मोठेपणाचीं आहेत, तेव्हां तीं आपणास वापरूं द्या अशी बाटलेल्या ख्रिस्ती लोकांची मागणी आहे; त्यांना हीं चिन्हें ठेवून द्यावींत असें जेसूट लोकांचें म्हणणें; व देऊं नये असें इतर पाद्र्यांचें म्हणणें होतें. हा वाद तोडण्याकरतां पोपकडे लिहून गेला होता. मुसलमान झालेले लोकहि जानवें ठेवितात असें जेसूट लोकांचें म्हणणें होतें. जानवें व लिंग हीं दोन्ही धर्मदर्शक आहेत तेव्हां तीं ख्रिस्त्याजवळ ठेवूं देऊं नयेत असें यानें आपलें मत नमूद केलें आहे. (पा. ४७)

अहमदाबादेस 'व्हर्जिन मेरी' ची मूर्ती होती ती सेलीमनें दिली होती. परंतु पुढें ख्रिस्ती लोकांचा द्वेष्टा त्याचा मुलगा शहा खुर्रम यानें ती नेली असें हा लिहितो. (पान. ५१)

नागरा येथें ब्रह्मदेवाचें देऊळ त्यानें पाहिलें. मूर्तीखालीं सनकसनंदन व जवळ सावित्री व गायत्री यांच्या मूर्ती होत्या. (पा. ५७)

याच ठिकाणीं त्यानें अस्पृश्य धेड पाहिले. यांना हालालखोर म्हणजे फारसी भाषेप्रमाणें कांहींहि खाणारे असे म्हणत. हे लोक फार दरिद्री व दुष्ट असत.

मार्चच्या सहाव्या तारखेस त्यानें स्मशान पाहिलें. स्मशानें व प्रेतें वाहून नेण्याची पद्धत यानें वर्णन केली आहे. त्याप्रमाणें एका बांबूला प्रेत अडकवितात व दोन माणसें तें वाहून नेतात. प्रेताला तांबडें चीट गुंडाळलेलें असतें. प्रेतें समुद्र अगर नदी यांच्याकडे तोंडें करून जाळतात. तसेंच प्रेतें फक्त सकाळींच जाळतात. (पा. ६०)

मार्चच्या ७ तारखेस तो जेसूट फादरला भेटला. हा फादर प्रीस्ट नसून फ्रायर होता. त्यानें दमण येथील व वसई येथील त्यांच्या कॉलेजच्या रेक्टरला पीटरची गोव्यास जाण्याची सोय करून देण्याबद्दल पत्रें दिलीं. (पा. ६१)

आग्रा येथें असणाऱ्या त्यांच्या जेसूट फादरला यानेंहि पत्र दिलें व आग्रा येथें फारशी भाषेंत लिहिलेलीं पुस्तकें मिळवून आपल्यास पाठविण्याची विनंति केली. तीं त्याला रोमन भाषेंत छापावयाचीं होतीं. (पा. ६१)

रात्रीं त्यानें दोन भोपळे दोहींकडे असून मध्यें तारा असलेल्या अशा वाद्यावर वाजिवलेलें सुंदर वादन ऐकलें. वाजवणारा वाद्य डाव्या खांद्यावर घेऊन तारांच्या लहानशा नखीनें वाजवीत होता व तारांच्या खालीं लाकडाच्या पट्ट्या होत्या. हा गृहस्थ विजापूरच्या दरबारांतील होता. (पा. ६१)

मार्चच्या १० तारखेस सुरतेस पोंहोचल्यावर त्यानें अशी बातमी ऐकिली कीं, सुलतान खुर्रमनें आग्रा शहर काबीज केलें. पण किल्ला त्याच्या हस्तगत झाला नाहीं. शहर त्यानें लुटलें व लोकांचे फार हाल केले. बंडांत सामील असल्याच्या संशयावरून बादशहानें असफखानास कैदेंत टाकिलें व स्वतः आपण मुलाविरुद्ध लढण्याकरतां तो चाल करून

त होता. पण तो सावकाश येत होता. मार्च १५ ला होळीचा सण होता. त्यावेळीं लोक एकमेकावर रंग टाकीत होते इस्पहानमध्यें तेथें असलेले हिंदुलोक हा सण कसा पाळतात हें त्यानें पाहिलें होतें. त्या सारखाच पण मोठ्या प्रमाणावर हा उत्सव हिंदुलोक करतात इतकेंच. मार्च २१ ला आग्रा येथील डच व्यापाऱ्याकडून टपाल आलें. त्यांत सुलतान खुर्रमनें आग्रा शहर दुसऱ्यांदा लुटलें अशी बातमी होती. (पा. ३४).

पत्र २ रें (गोव्याहून एप्रील २७ इ. स. १६२३)

मार्च २६ ला तो दमणला आला. त्या दिवशीं रात्रीं जेवतांना तेथील फादर रेक्टरनें पपई, काजू, चांभूळ, आंबे, व अननस वगैरे हिंदुस्थानी फळें दिलीं. (पा. ६९)

त्या दिवशीं त्यानें असें ऐकिलं कीं, " दोन इंग्लिश जहाजें दाभोळला गेलीं होतीं. त्यांचें स्वागत करण्याकरितां तेथील मूर लोकांनीं तांबडे रुजामे पसरले होते. पण इंग्रजांनीं उतरल्याबरोबर धांवून जाऊन किनाऱ्यावरील तोफांच्या कान्यामध्यें खिळे ठोकले व लोकांवर हत्यार चालवून हल्ला केला. हा आकस्मिक हल्ला पाहून लोक पळूं लागले व त्यांचें फार नुकसान झालें. पुढें कांहीं पोर्तुगीज लोकांनीं त्यांना धीर देऊन इंग्रजावर परत हल्ला केला. लोकहि अर्थात् उलटले व त्यांनीं पुष्कळ इंग्रज ठार केलें मग इंग्रजांनीं पळून जाऊन आपलीं जहाजें गांठलीं. पण जातां जातां बंदरांतील दोन जहाजें लुटलीं. त्या योगानें लोकांचें फार नुकसान झालें. ज्या गांवांत इंग्रजांना व्यापार करूं देत नाहींत त्या गांवावर इंग्रज लोक असेच हल्ले करितात. (पा. ७०)

तो दमण, वसई, साष्टी, चौल, दंडाराजपुरी, केळशी, दाभोळ, राजापूर, खारेपाटण, तांबोणा (?) या मार्गानें गोव्यास गेला. या प्रांतांतील राज्यांचें वर्णन करतांना सर्वसाधारणपणें हा लेखक असें विधान करतो कीं, मूर मुसलमान लोक प्रथम गुलाम म्हणून इकडे आले. पण लवकरच आपल्या एतद्देशीय धन्यांना ठार मारून हे स्वतः बादशहा बनले. निजामशाहीचा प्रांत सर्वांत मोठा व महत्त्वाचा आहे. या शाहीचा बादशहा निजाम हा केवळ बारा वर्षांचा पोर आहे. म्हणून मलिकअंबर नांवाचा पूर्वीं अबिसिनीयांतून आलेला मूर गुलाम हाच आतां वजीर म्हणून राज्य करीत आहे. या राज्याला हल्लीं मलिकाचें राज्य असेंच म्हणतात. वस्तुतः मलिकंबर हा फार राजनिष्ठ आहे. त्यानें सर्व सत्ता हातीं असूनहि स्वतःकरतां राज्य बळकाविलें नाहीं. तर उलट निजामच्याच नांवानें हा राज्यकारभार हांकतो. त्यानें आपली मुलगी निजामाला देऊन त्याला आपला जांवई केलें आहे. यामुळें कदाचित् असें म्हणतां येईल कीं, त्यानें आपल्या हयातीपर्यंत कारभार आपल्या हातीं राहील अशी व्यवस्था केली आहे. हा लिहितो कीं, मलिकंबर हा फार पराक्रमी पुरुष आहे व राज्यकारभार हाकण्यासहि फार लायक आहे. परंतु असें म्हणतात कीं, तो नास्तिक असून त्याला जादुविद्येचा फार नाद आहे. किंबहुना या जादूविद्येच्या जोरावरच हा मोठमोठ्या इमारती बांधतो, मोठीं कामें करतो व आपली प्रतिष्ठा वाढवितो. जादुगिरीची विद्या साध्य होण्याकरितां त्या देवतांची तुष्टि व्हावी म्हणून यानें हजारों मुलांना बळी दिले आहेत.

या गोष्टी पीटरनें ऐकिल्या, प्रत्यक्ष कांहीं पाहिलें नाहीं. त्यावरून त्याचा त्यांवर विश्वास नव्हता असें दिसतें. (पा. ७४).

निजामशाहीमध्यें एक फार मोठी तोफ आहे. इतकी मोठी कीं, त्या तोफेला उडविण्याकरितां पंधरा हजार पौण्ड दारू तींत ठेचावी लागते. गोळ्याची उंची मनुष्याच्या उंचीएवढी व त्याची जाडी दोन विती असत. तोफ ओढण्यास कितीतरी हजार बैल व हत्ती लागतात. अर्थात ही तोफ किल्ल्यावरच ठेवलेली आहे. मुसलमान जरी मूर्तिपूजक नाहींत तरी निजामशहा या तोफेची पूजा करतो.* (पा. ७५)

मलिकंबर मोंगल बादशहाशीं लढाई पुकारण्यास भीत नाहीं. व तो शौर्यानें लढतोहि. कुतुबशाहीचा बादशहा मोगलाशीं जाहीर युद्ध पुकारण्यास भितो. पण निजामशहाला उघड मदत करतो. विजापूरचा आदिलशहा हाहि मदत करितो. पण अप्रत्यक्ष रीतीनें व फार गुप्त रीतीनें करितो. कारण हा बादशहा फार भित्रा आहे. वास्तविक इब्राहिम अदिलशहाजवळ एक लाख सैन्य असतांना त्यानें जगांत कोणालाहि भिऊं नये. परंतु हा भितो हें खरें. तो मोंगलाना खंडणी देतो. इतकेंच नव्हे तर मोंगल बादशहाकडून एखादा खलिता आला तर सर्व सैन्य घेऊन त्याला सामोरा जातो व ज्या शिपायानें अगर गुलामानें तो खलिता आणला असेल त्याला आसनावर बसवून आपण उभा राहातो व नंतर तीन वेळां त्या खलित्याला सलाम करून मग त्या खलित्याला स्पर्श करितो (पा. ७६)

कुतुबशाहीच्या बादशहाची मुलगी इब्राहिम आदिलशहाला दिली आहे व लग्नसंबंधानें निजामशाहीशींहि हा सलोखा ठेवितो यामुळें या तीन्ही शाहींमध्यें गट्टी आहे. इब्राहिम आदिलशहा हा लांब दाढी ठेवतो. परंतु निजामशहा व कुतुबशहा हे इराणी बादशहाप्रमाणें ती साफ काढून टाकितात. एप्रिल (पा. ७७)

ता. ८ एप्रिल रोजीं हा गोव्यास पोहोंचला. खुद्द गोव्याचें वर्णन करतांना तेथील इमारतींची हा फारशी स्तुती करीत नाहीं. तेथील लोकहि फारच ओंगळ व घाणेरडे असून जवळ जवळ नग्नच असतात. पोर्तुगीज लोक थोडे आहेत. पण आतां त्यांना इंग्रज व डच लोकांनीं फार लुटल्यामुळें ते दरिद्री झाले आहेत. वरवर ते श्रीमंतीचा थाट करितात. पण त्यांत कांहीं अर्थ नाहीं. ते वाटेल ते धंदे करतात व रात्रीं भीकहि मागतात. सर्व लोक हत्यारें जवळ बाळगतात. पोर्तुगीज लोक आपला दिमाख राखण्याकरतां शक्य ती खटपट करतात. त्यांचा पोषाख रेशमी असतो. (पा. ७८, ७९)

पोर्तुगीज लोकांच्या नीतिमत्तेसंबंधीं याचें मत फार वाईट झालेलें दिसतें. हा लिहितो कीं, ज्या मुलीला मीं लहानपणापासून स्वतःच्या मुलीसारखी वाढविली तिला सुद्धां हे पोर्तुगीज लोक माझ्या घरांत राहूं देईनात. कारण, त्यांची स्वतःची नीतिमत्ता

---

*हींच मालिकमदैान तोफ होय. परिंडा किल्ल्यावरून ती पुढें मुरारपंतानें विजापुरास नेली

इतकी खराब होती कीं, ते आपल्या स्वतःच्या वहिणी व मुलीं यांच्याबद्दलहि आदर भाव बाळगीत नाहींत. म्हणून इतर राष्ट्राच्या लोकांबद्दलहि त्यांचें तेंच मत असावें. (पा. ७२, ८०)

पत्र ३ रें (गोवा, आक्टोबर १० इ. स. १६२३)

ता. ९ जूनला कांहीं वनियांना पत्रें आलीं. त्यात अशी बातमी होती कीं, मोंगल बादशहानें सुलतान खुर्रमचा पराभव केला. व त्याला मंडूच्या किल्यांत पळून जावें लागलें. त्या किल्याला बादशाहानें वेढा घातला आहे. (पा. ८७)

विजयानगरला हा विद्यानगर म्हणतो. आक्टोबर १४ तारखेस गोव्याच्या व्हॉइसरायानें व्यंकटाप्पा नाईक यांजकडे आपला वकील म्हणून फर्नांडीस लेटन यांस पाठविलें. त्याला पोर्तुगालच्या राजाच्या नांवाचीं पत्रें दिलीं होतीं. अशा तऱ्हेनें वकील पाठविण्याचा हा त्याचा पहिलाच प्रसंग होता. (पा. ९३)

पत्र ४ थें (आक्टोबर ता. ३० इ. स. १६२३)

व्यंकटाप्पा नाईकाकडे जातांना त्याचा ब्राह्मण वकील आपल्यावरोबर होता. त्याचें नांव विठ्ठल शेणवी Vitula Sinai. पीटर आपल्या डाव्या कानांत डोळे बिघडल्यामुळें, एक लोंबता अलंकार घालीत असे. कारण त्या योगें दृष्टि साफ होते. या अलंकाराबद्दल तो वकील याची फार स्तुति करी. व पोर्तुगीज लोक तो घालीत नाहींत म्हणून त्यांना दोष लावी. याचें कारण इकडील हिंदू लोक दोन्हीं कानांत अशीं कुंडलें व अलंकार घालतात. (पा. ९५)

कर्नाटकांतील लोक गाईच्या शेणानें आपलीं घरें व जमीनी सारवतात. व जमिन सारवल्याशिवाय जमिनीवर जेवीत नाहींत. याला प्रथम वाटे कीं हें एक धर्मवेड आहे. पण अनुभवांतीं त्याची खात्री पटली कीं, स्वच्छतेच्या दृष्टीनें ही फार चांगली रीत आहे. त्या योगानें जमिनी तकतकीत दिसतात. गाई गवताशिवाय कांहीं खात नसल्यामुळें शेणांत घाण नसते. सर्व पोर्तुगीज लोकहि आपलीं घरें अशींच ठेवितात. आपण इटलींत गेल्यावर हा प्रचार सुरू करणार आहों. (पा. ११२)

ब्राह्मण हे दुसऱ्या कोणत्याहि जातीच्या घरीं जेवीत नाहींत. कारण इतर सर्व लोक मांसाहारी आहेत. ज्या ब्राह्मणाच्या जाती मांसाहारी आहेत, त्यांच्या घरीं सुद्धां मांसनिवृत्त ब्राह्मण जेवीत नाहींत. पण इतर सर्व लोक ब्राह्मणांच्या घरीं जेवतात. इतकेंच नव्हे तर तो सन्मान समजतात. (पा. ११३)

व्यंकटाप्पा नाईकाच्या राजधानींत यानें सती जातांना प्रत्यक्ष पाहिली. तिचें नांव जयकामा होतें. तिचा नवरा मेल्यानंतर वीस दिवसांनीं ती सती गेली. 'तिला पहाण्याकरितां गेलों असतांना मी कोण व तेथें कां आलों याची चौकशी लोक करूं लागले. त्यामुळें मला सतीशीहि बोलावयास मिळालें. तिनें सती जाऊं नये म्हणून सांगण्याचा मीं प्रयत्न केला. तिला दोन लहान मुलें होतीं. तरीहि ती स्वतः स्वखुषीनें व आनंदानें

सती गेली. ही बाई कनिष्ठ जातीपैकीं होती. सतीचें पावित्र्य सर्व जातींत सारखेंच मानलें जात असे. (पा. १३२)

व्यंकटाप्पा नाईकाच्या राजधानींतील देवळें तेथील पूजाअर्चा तसेच नाईकाचा राजवाडा वगैरेचें यानें पुष्कळ वर्णन दिलें आहे. यापुढें तो इक्केरी, गीरसप्पा, मंगलोर, कालिकत, वगैरे बंदरांवरून मलबारमध्यें गेला. मलबारांतील नंबुद्री व नागर यांच्या चालीरिती-चेंहि पुष्कळ वर्णन केलें आहे. हा स्वतः झामोरिनला भेटला होता. तिकडील वर्णनांत एकच विशेष गोष्ट आढळते ती ही कीं, लोक अतिशय काळे व कमरेपर्यंत वर जवजवळ उघडे असत. बायकाहि अशाच पोषाखांत असत. सुरत अहमदाबाद येथील लोकांचें वर्णन कर-तांना लोक अंगभर कपडे वापरीत, असें वर्णन आढळतें. त्याच्या उलट इकडे आहे.

जोगी लोकांचें वर्णन करितांना त्यांच्या डोक्यावरची तांबडी टोपी आपल्या देशांत बन-विली जाते असें हा लिहितो.

मार्च ता.८ सन १६२४ या दिवशीं गोव्यास अशी बातमी आली कीं, मोंगल बादश-हानें स्वतःच्या राजधानींत असलेल्या सर्व इंग्रजांची कत्तल केली आणि सुरत वगैरे ठिकाणीं असलेल्या इंग्रजांना कैद केलें. यांचें कारण असें सांगतात कीं, सुरतेच्या मोंगल अधिका-ऱ्यानें जकातीच्या वगैरे बाबतींत इंग्रजांना फार त्रास दिला व त्यांचें नुकसान केलें. याचा सूड घेयाकरतां इंग्रजांनीं मोंगलांचीं दोन जहाजें लुटलीं. ही त्यांची आगळीक बादश-हास सहन झाली नाहीं व त्यानें त्यांना कैद करण्याचे हुकूम दिले. इंग्रजांनीं ही मोठी चूक केली. (पा. २०९-२१०)

डिसेंबर १६ तारखेला पीटर डेला व्हॅले हा हिंदुस्थानचा किनारा सोडून अरबस्थान इराणी आखात इकडे जाण्याकरतां चौलहून गेला. त्याचें यापुढील पत्र ता. २० मे १६२५ ला बसऱ्याहून लिहिलें आहे.

शिवकालीन भाषेचा उलगडा

(लेखक—कृष्णाजी पांडुरंग कुळकर्णी, पुणें.)

श्री शिवछत्रपतींच्या राजवटीपर्यंत मराठी भाषा साधारणपणें सहाशें वर्षांची जुनी झाली होती. मराठीच्या उद्गमकालाविषयीं जरी वाद असला (राजवाडे यांच्या मतें ४०० शकोत्तर व गुणे, कुलकर्णी ह्यांच्या मतें शकोत्तर १०००) तरी त्या भाषेला विचारसंपत्ति, वर्णनकौशल्य, भाषासौष्ठव, शुचित्व, ओज वगैरे कल्याणगुणयुक्त असें स्वरूप रामचंद्र जाधवाच्या राजवटींत होतें ह्या विषयीं वाद नाहीं; तेव्हां ह्या काळापासून शिवकालापर्यंत भाषेंत काय काय फरक पडला हें पाहणें फार मनोरंजक होईल. भाषासरस्वतीचा ओघ हा एक जिवंत स्रोत असल्यामुळें इतर जिवंत संस्थांप्रमाणें हाहि विकृतिक्षम असणारच. ह्या नियमाप्रमाणें भाषेच्या व्यक्तिगत स्वरूपांत—विकृतीचें काळमान साधारणपणें २०० वर्षांचें ठरलें आहे—मराठीच्या उद्गमापासून शिवकालापर्यंत मराठीची कमींत कमी दोन तीन तरी अवस्थांतरें झालीं असलीं पाहिजेत व त्या प्रत्येक अवस्थांतराच्या वेळीं मराठी बोलणाऱ्या समाजांत कोणत्या तरी स्वरूपाची क्रांति झाली असल्याचा दाखला इतिहासांत मिळेल.

अशीं दोन अवस्थांतरें शकोत्तर १२००चे सुमारास एक आणि शकोत्तर १४०० च्या सुमारास दुसरें अशीं झालीं व ह्यानांच मी अनुक्रमें १ यादवकालीन मराठी, व २ बहामनीकालीन मराठी, असें म्हणतो. मराठी वगैरे वर्तमानकालीन बोलींच्या जन्माच्या वेळीं (श. १०००) एक प्रकारची धर्मक्रांति होत होती. आर्यसनातनी धर्म, बौद्ध धर्म, व महंमदी धर्म अशा तीन धर्मांचा झगडा चाललेला होता. कुमारिलभट्ट व शंकराचार्य ह्यांच्या निकराच्या हल्ल्यानें बुद्धधर्म लुळा-पांगळा झाला होता. पुढें त्याचा कायमचा उच्छेद मुसलमानांनीं केला. मराठीचा जन्म होतांच तिच्या सुदैवानें तिला सेउणदेशच्या यादव कुळांतील भिल्लम ह्यानें स्थापिलेल्या स्वतंत्र राजवटीचा आश्रय मिळाला. ह्या स्वराज्याच्या वैभवांत मराठी भाषेस आणि वाङ्मयास विशेष वैभ[illegible] प्राप्त

झालें. पुढें त्याच राजवटींत जैत्रपाळ, सिंघण, कृष्ण (कन्हर), महादेव, रामदेव असे कर्तृत्ववान् व वाङ्मयाचे अभिमानी राजे निघाले. कन्हराच्या आश्रयानें महानुभाव वाङ्मय तयार झालें. रामदेव जाधव तर " सकळकळा-निधान " व " न्यायातें पोषिता क्षितीशु " असा होता. ह्याच्याच पदरीं नृसिंह, शल्य, गोपाळ पंडित ऊर्फ आनेराजव्यास असे नामांकित कवि होते. ह्याच वेळेस मराठी वाङ्मयास भर आल्याचीं प्रत्यंतरें ज्ञानेश्वरी, सुभाषिताक्षरी, महदंबेचे धवळे, वच्छहरण, मूर्तिप्रकाश, शिशुपालवध, रुक्मिणीस्वयंवर हीं होत. या काळांत मराठी ही अस्सल मराठीच होती. हा कालखंड १२०० पासून १४०० पर्यंत मानिला आहे. दुसरी अवस्था बहामनी काळांतील. ती जाधवांचा शेवटचा शंकरदेव जाधव ह्याचा खिळजीनें पराभव केल्या वेळेपासून सुरू झाली. ह्या काळांत बहामनी नांवाच्या मुसलमानी राजांची राशियत मराठी भाषेच्या प्रांतावर सुरूं झाली व त्यामुळें भाषेच्या स्वरूपांतहि विलक्षण क्रांति झाली. हा काळ १४०० पासून १६०० पर्यंत मीं मानिला आहे. त्याच्यापुढें शिवकाल. मराठी भाषेचे अवस्थाकाल मीं राजवटींच्या नांवाप्रमाणें ठरविले आहेत. त्याचें कारण राजवटींच्या उत्कर्षापकर्षाबरोबर भाषेचा उत्कर्षापकर्ष होत असतो असा नियम आहे. शिवकालीन मराठी भाषेच्या बाबींचा उलगडा खालीं क्रमानें करून दाखवितों.

शिवकालीन भाषेची स्वरप्रक्रिया.

वर्तमान मराठीप्रमाणें शिवकालीन भाषेमध्यें बहुतेक सर्व स्वर आहेत. ऋ, ॠ, ऌ, ॡ हे चार स्वर फार करून उपयोगांत येत नाहींत. बाकीचे दहा स्वर प्रामुख्यानें उपयोजिले आहेत. ऱ्हस्व दीर्घाचा विधिनिषेध फारसा पाळलेला दिसत नाहीं. वर्तमानकालीन स्वरांचीं रूपें शिवकालीं कशीं होतीं हें खालील तक्त्यावरून दिसून येईल; व त्यावरून त्या कालच्या उच्चाराची दिशाहि कळेल. स्वरांचीं वर्तमानकालीन रूपें पुढें कंसांत दिलीं आहेत.

शिवकालीन स्वर	उदाहरणें.
अ.	अमच्या, अम्हास, अण, अश्रिवाद, असंका, (आ); सद्भट, हरकत, (इ), विस्णदास (उ);
आ	लाखोटा, काबजती, हिमात, पायमाली प्रामार्थीनाम (अ);
इ	माफिक, हरीवख्त (इ); सिलेमान (उ); क्रिष्णगौड (ऋ). ' गाइन्रीची, विषइ (यी).

उ लुखोबा, देउ, मशारनुले (अ); उचापती, उसुल, उलखिले (व). व्रुती, क्रुश्णा, त्रुणे, जाग्रुती, पित्रु, (ऋ).

ऊ धर्मादाऊ, पेडगाऊ, नाचणगाऊ (व).

ऋ ह्रवळांचा (उ)

ए सत्येस्वर, धर्मपरायेण, छेत्रपती, (अ); वेवसाव. (य).

ऐ सैद, गै (य)

ओ दुकोळ (आ); नोबत (औ); मोकाम (इ); अभ्योदयार्थ, (उ); मोरबा (उ); विस्तो (व); भोगोटा (व),

औ वडिगौ, पडिगौ, औलियाद, उपद्रौ (अव किंवा आँव याबद्दल) वौंस (ं अनुनासिक).

वर दिलेल्या स्वरप्रक्रियेच्या तक्त्यावरून दोन तीन गोष्टी नजरेस येतील. उच्चाराप्रमाणें लिहिण्याचा शिवकालीं रोख दिसतो. त्या उच्चारावर जरी ग्रामिक उच्चारांचा परिणाम झालेला दिसला तरी तो मुळाच्या जवळजवळ बराच येतो. उच्चारावर फारशी उच्चारांचा परिणाम झालेला उघड उघड दिसतो. " अ, इ, उ, ऋ, ऐ ह्या स्वरांना फारशी भाषेंत स्वतंत्र प्रतिकें नाहींत. त्यामुळें मराठींतील विशेष नामें फारशी बोलणाऱ्यांच्या तोंडून व फारशी नांवें मराठ्यांच्या तोंडून उच्चारिलीं जातांना वरील स्वरांच्या बाबतींत विशेष फरक झाला आहे.[1] " ह्या स्वरांचा परस्पर विपर्यय झालेला वरील उदाहरणांत दिसून येईल. सद्भट, विरणदास हीं त्याचीं उदाहरणें होत. वडिगौ, पेडिगौ, उपद्रौ, छेत्रपती, सत्येस्वर हे हि फारशी उच्चाराचेच परिणाम होत. अन्त्य ' व ' चा 'उ' करणें व त्याला पूर्वीच्या ' अ ' मध्यें सामावून ' ओ ' किंवा ' औ ' उच्चारण्याची लकब आर्योद्भव भाषांची सुद्धां समजली जाते.

व्यञ्जनप्रक्रिया—

क:—दुकोळ (ष्क).

ख:—खंदिल (क); लायख (क); झरोखा (क्षा); तुम्हाविखी (षी).

ग:—बग (क).

छ:—छवछर (सं, त्स); पस्छमेस (श्चि).

ज:—ज्याजती (स), जेष्ठ (ज्ये); जोखालत (चा); जूज (झुं).

ड:—देव्हडी, आशड (ढ).

---

१ राजवाडे खं. ८ प्रस्तावना.

ढः—ढीवर (ध).

थः—थापना, थीरावीळया (स् लोप)

दः—मज्बुद (त); अदिकारपण (ध); समुद्रि, (ध).
सरहद (द्द); विद्माने (द्य); आघाद (त).

धः—धाशत (दृह); साधर (द).

नः—गुजरान्, निशान्, काहडनी, तनाव, (ण); पनाळ, कोनेरीभट (न्ह). सिनलकी (द आगम नंतरचा).

बः—कार्बारी (भा), खूब (प), सिताबी (फी).

मः—समजी (संभाजी).

यः —यैस्यास (ऐ).

वः—वळखिले (ओ, अव); वोढियाचे (ओ).

शः—अशिवाद, आशाड (ष); विशइ, नामघोष, भूशेणें (ष).

षः—पलंगपोष (स). षाती, षदृषदा, दृषोनिया, खरे षोटे. पाषान, षडे(ख).

सः—सिवजा, स्रावण, स्याहाणे सुद यैस्यास, गोस्ट, सेणवी, मसाहती, विस्णदास, अभिसेक, साहाजी, स्याहाजी (श बद्दल); तसवीस,

ळः—ळाता. कळहो, ळहान, ळपवुनीया, ळिघाड, ळाजा (ल).

हः—निहकाम (ष्).

ह्या उदाहरणांवरून व्यञ्जनप्रक्रिया स्पष्टपणें नजरेंत भरेल. ण बद्दल न, आणि श आणि ष ह्याबद्दल स, सररहा येतात असें वरील उदाहरणांवरून दिसेल. त्याच-प्रमाणें ढ बद्दल ड, य बद्दल इ, ये, यै, ऐ असे वर्ण येतात. फारशी मराठीच्या संसर्गाचा परिणाम विशेषतः कंठस्थानीय वर्ण, दन्त्यतालव्य वर्ण, महाप्राणमिश्रित वर्ण इत्यादि वर्णांच्या बाबतींत झाला आहे. हा फरक स्पष्ट करून सांगणें फार कठीण आहे. हा प्रत्यक्ष उच्चारावरूनच कळण्यासारखा आहे. "काझी, कुराण" इत्यादि शब्दांचे उच्चार हीं त्याचीं उदाहरणें होत.

ह्याशिवाय वर्णप्रक्रियेचे महत्त्वाचे फरक खालीं दिले आहेत.

१ वर्णागमः—भगत (भक्त), लक्षम, लक्षुमी (लक्ष्म, लक्ष्मी); खातींरेस (खात्रेस, खात्रीस), प्रातिवरुसी (प्रतिवर्षी); दरामियान, सिकस्ती इ. इ.

२ वर्णसंयोग अथवा आन्तरस्वरलोपः—द्वा (दुवा); यांचेथे (यांचे येथें); त्यापण (त्यानी + आपण); ऱ्हातीच (रहातीच); उप्रांतीक (उपरांतीक)

३ अनुनासिकलोपः—चौसीचा (वं); आदेशा (अं), समजी (संभाजी), टकसाल (टं).

४ अक्षरलोपः—धर्माधिरण (क लोप) आपदेभट, महादेभट (व लोप) बुकोळ (षू लोष), थापना (स् लोप), विलातीत (यलोप) मशारा (हि लोप).

५ समानोच्चारितवर्ण लोपः—द्रोज (दररोज).

६ महाप्राणः—धाशत (दहशत).

७ अर्थभेदः—वजीर, गुजरान, अवलाद, काबाडी, कारकून.

८ लिंगभेदः—हजामत, सफर, नजर,(मूळचे नपुंसकलिंगी); बाग, पायपोस, खुर्दी–मूळचे नपुंसकलिंगी.

९ निभृत अः—नुक्सान, ज्वान, गफलत, लायक, गनीम, जाम्दार, कार्खाना, छप्रपलंग, हल्वादार, भर्जरी, पश्मी इ. इ.

वर्णप्रक्रियेचे निरनिराळे प्रकार येथवर सांगितले. ह्यावरून शिवकालीन मराठी भाषेंत औच्चारिक बाबतींत आर्यवंशाची मराठी आणि मोगल किंवा तुराणी वंशाची फारशी ह्या भाषांमध्यें कसा झगडा चालला होता हें दिसून येईल. एकीकडे मातृभाषेंतील जन्मापासून किंवा आनुवंशिक प्राप्त झालेले औच्चारिक संस्कार आणि दुसरीकडे राजदरबारांत व इतर व्यवहारांत क्षणोक्षणीं कानावर आघात करणारे राजपुरुष व त्यांचें अनुकरण करणारे इतर पांढरपेशे उपजीवी नोकर यांचे औच्चारिक संस्कार हे दोन झगडणारे पक्ष होते. “शब्द व्यंजनान्त न उच्चारितां स्वरान्त उच्चारण्याची लकब मराठी भाषेमध्यें आहे. ही लकब मराठीनें प्राकृत व अपभ्रंश ह्या भाषांपासून उचलली”[1] ह्या तिच्या स्वभावामुळें फारशी भाषेंतन मराठीमध्यें जे जे व्यंजनान्त शब्द आले ते सर्व शब्द स्वरान्त झाले. शब्दांत अंगभूत असलेलें आंतर व्यंजन सुद्धां स्वरान्त केलें. परंतु इतर स्वराच्या उच्चारांत आणि ह्या स्वरयुक्त व्यंजनाच्या उच्चारांत थोडा फरक राहिला. स्वरांचा निभृत उच्चार करण्याचा एक नवीनच प्रकार मराठींत चांगल्या जाणत्यांच्या तोंडांत रूढ होऊन बसला. पुणें, नगर, नाशीक, खानदेश ह्या महाराष्ट्रांतील जिल्ह्यांत विशेषतः गांवढळ लोकांच्या भाषेंत हा निभृत उच्चाराचा प्रकार तितकासा रुजलेला दिसत नाहीं. वर सांगितलेल्या प्रांतांच्या ग्रामिक भाषेंत

" पड'ला, घेत'ला, मारि'ला, जेव'तो, करि'तो, खे॰क'तो, जाग'तो, कुठ'ले, इथ'ले इत्यादि शब्दांतील आंतर स्वर साघात उच्चारिले जातात. आपल्या नागर भाषेसारखे पड्ला, घेत्ला, मार्ला, जेव्तो, कर्तो, खोक्तो जाग्तो, कुठ्ले, इथ्ले असा ते उच्चार करीत नाहींत. ह्यावरून नागर भाषेंतील औच्चारिक प्रक्रियेवर जितका फारशीचा परिणाम झाला तितका ग्रामिक भाषेवर झालेला दिसत नाहीं.

फारशी मराठीचा परस्पर संबंध प्रत्ययप्रक्रिया व प्रयोगप्रक्रिया सांगितल्या-नंतर ज्यास्त स्पष्ट रीतीनें समजेल.

प्रत्ययप्रक्रिया- विभक्तिप्रत्यय- नामें.

१ प्रथमा एकवचनः—नेमु, झुंझारराऊ, कौलु, जावु, माहाराजसाहेबु संबंधु, जीऊ, महमदापुरु, सादत सैद हुसेनु

(फारशी विशेषनामांना सुद्धां हा उ प्रत्यय लागलेला आहे).

स्त्री— राती (झाली) हकीकती, मुदती, आगी (लागली). माये.

प्रथमा अनेकवचन. १ (पंचवीस) होनु; कामेंकाजें. २ (तुमचे) बाबे; वाद्दे (उभे केले). ३ रैयान्, देसायान्, नाडकर्णीयान्, देशमुखान्, महाजनान्, हुद्देदारान्, मोकद्दमान्, कारकुनान्,

(ह्या प्रत्येक अनेकवचनाच्या रूपापुढें 'इ' हा षष्ठीचा प्रत्यय लाविला आहे. व त्यानें तो पुढील शब्दाशीं जोडिला आहे.

२ द्वितीयाः—प्र. सीं. महालासी, आपणीयासी.

गाऊ (मारिताती), रयतीस (पैके लावून), मसलतेस.

द्वितीयेचा प्रत्ययरहितहि उपयोग केला आहे. त्या रूपास कालदर्शक द्वितीया किंवा क्रियाविशेषणरूप समजावें. उदा.—सन सीत चालिले आहे. द्वितीयेसाठीं 'ला' प्रत्यय हि वापरलेला आहे. हा 'ला' प्रत्यय ' रा ' ह्या फारशीप्रत्ययापासून निघाला आहे असें राजवाड्यांचें मत आहे,[1] ज्याअर्थी ' लागीं ' हा प्रत्यय द्वितीयेचा असून त्याच अर्थी आहे त्याअर्थी तो ' लग् ' ह्या धातूपासून निघाला असावा, हेंच मत ज्यास्त सबळ दिसतें.

तृतीया.- एँ. एकनाथ भटें, महाराजे, जगद्ळे, विठोबे, अंबाजी घोरपडे (सांगितले); आत्मसुखें (घेतले)

---

१ ज्ञानेश्वरी प्रस्तावना.

इ. इजारदारी (गुंता केला). हेजिबी
हि. तेहि (शिकस्ती खादली.)

चतुर्थी.— द्वितीयेप्रमाणें. (आपले) सुने (पुसिलें)

पंचमी.— हून घरींहून.

षष्ठी.— चा गांवीचा; साहेब ची.

इ ह्याचीं उदाहरणें पुष्कळ आहेत. मौजे, किल्ले, देसायानी, मोकद्मानी इ. इ.

स. आपणास (वतनास संबंधु नाहीं.)

सप्तमी. इ. लोकी (एदिलशाही); साहेबी (इनाम चालवेया); उत्तरे (पडवी), पश्चिमे, पूर्वे.

ठाना (जमा करणें), (त्याचे) हवाला (केले). कीर्ति बावे (तकसीर, कीजे), (हरीच्या) कथे (नाहीं विश्वास).

सामान्यरूपाचे चमत्कारिक प्रकार:-- फितवेया (मध्यें), गोलिया (नीं), आपली (खुसीनें), घराणिया, सातारिया, मुकाबलीया.

विभक्तिलोपः-- मौजे शिरबाब चालले (सप्तमी); अबदुल चस्मकोर दिल्हे (चतुर्थी). केसो त्रिमल लेहाया पाठविली (तृतीया). मालिकअंबर भोगवटा आहे (षष्ठी). बाबा हाजी बुऱ्हाण मालूम केलें (तृतीया). पेसजी कारकीर्द जो गुन्हा केला (सप्तमी).

सर्वनामविभक्ति.

प्रथमा ए. तूं, मी, तुवा (वाद सांगात्रा), तुवा (हुजूर येवोनु), जे, ते, (स्त्रीलिंग), ते (माये) जे, ते (वर्तणूक). जे, जे, (वस्तभाव). कोण्ही, कोन्ही, कोण्हे. कोण्हीक.

अ. आम्ही, तुम्ही, इत्यादि.

द्वितीया.— यैसीयास, यैसी, तुज, आपणीयासी, आपणासी, हे आपले लिहिलें (आपणास ह्या अर्थी दिसतो).

तृतीया.-- मिया, तुवा, त्यान्हे, त्याणी, तेण प्रमाणें.

ही—तेही, येही (रांडपण घातले पाहिजे). कोण्ही. तिहीं

चतुर्थी.— द्वितीयेप्रमाणें— (तुज) देहान्त प्रायश्चित द्यावें.

पंचमी.— तधी पासूनी.

षष्ठी.— माझी ए. अमच्या, तुझे. तुमचे, आमचे, आपली, आपला इ. इची. आपुलेची. येथीचीया.

स विशेष फरक नाहीं.

(फारशीच्या संसर्गानें जीं इतर सर्वनामें मराठींत रूढ होऊन बसलीं तीं पुढें दिलीं आहेत. उदा.—खुद्द, फलाणा. हर, हरकसा, दर एक, हरएक.इ.——राजवाडे खं. ८ प्र.)

विशेषणें

विशेषणें.— विशेषणांच्या बाबतींतहि फारशी मराठीमध्यें विलक्षण द्वंद्व माजलेलें दिसून येतें. मराठीचा स्वभाव विशेषणें विशेष्याच्या पूर्वभागीं वापरण्याकडे आहे. तर त्याच्या विरुद्ध फारशीचा स्वभाव विशेषणें पश्चाद्भागीं वापरण्याकडे आहे. पुष्कळ ठिकाणीं विशेषणांचीं सामान्यरूपें झालेलीं आहेत.

त्याचीं उदाहरणें. दिवसा दहामध्यें पर्जन्य पडेल. किल्ले मजकुरी मशारनुले. कोटमजकुरी. हकीकती कैसी, चावर निमे होती. कोठी बळकटी केली. हबाजी वडिले घरीं असता. आपली खुसी विसा वर्षांचा भोगोटा. च्यारी पांचशे घोडा. गैरी लोकी पैस करून. अठा दिवसा ते येथील हुकुमे नाहीं. निमे बापपोटी खावी गैरा उखदामधे.

क्रियापद विचार.

वर्तमान प्र. पु. ए. तपे, पचे, ठेळो, गातो, नाचोतो, दाषवितो.

अ. आपण होए.

द्वि. पु. ए. तूं असिजे, तूं खूर्दखर्द कैसें नेतो, होसी, बुजाविसी काढून अहेस,

अ. (तुम्ही किताबती घेऊनु) आलेसी, चालिसेस.

तृ. पु. ए. मजरा आस. एसी खुर्दखताची रजा होए.

अ. करितातीं, आहेती, असेती, देताती, खाताती.

(सर्व घरेंत)फिरतें होतुसे.मिळी म्हणेत.महाराजा करतुसे.

भूत— जालें, मारिला, दिधले, आनिली. बैसले, खादली, ध-रिली,म्हटिले, बोलिलें, हालिले, ठेविलें, पुसिले, पडिली, साधिली, हाटिला, चालिला, असेली, निजेली.

प्र, पु. ए. सेवेची दोरी गळयांत अडकविली. (कानडी प्रयोग दिसतो).

भविष्य— उमर असेली, येईना, पवाडेल, चालशील.
(तेणेंप्रमाणें तुझा निवाडा)करून.(ज्या अर्थी येथें 'न' दिसतो त्या अर्थीं प्रचलीत अनुस्वार उच्चारिला जात असावा.)

कर्मणि— चालवीजे. तूं येईजे. जाईजे. असिजे दीजे, कीजे,(मिया तुवा) खाईजे. दीधला अस. शहाजी राजे धरिले; करीत जाणे.

अकरणरूप---- हो न देणें; कसूर हो न देणें; नेडु; नेघो. आपण ने बूच. नये बोळो; नेठवी.

कृदन्तें— लिहिले, चिंतिलें.

विध्यर्थ देखावे, पुरावी, उपमावे, वर्त्तवो.

ल्यवन्त लेहाया. लेहाण्या वाचावया. आलिया.
म्हणउनु, करुनु; पाहोनु; फिराऊनु; सांगोन; म्हणौउनु अणौउनु; चालउनु, स्मरोनु, लेहानु, राखोनु, हिरोणु, बोलोनु, पोहाचाऊन, कुलमारून; न कळोनु, परिसुणु.

णिच— वळून (=वळवून) देवाऊन, देवउनु. देवणें देवितील. त्यानें वडिलास नागवण पडवली. आमचे जीऊ वाचविलें; पुढेंहि वाचिले (=वाचविले) पाहिजे.

तुमन्त. दाखऊ नेली

क्रियाविशेषणें.

क्रियाविशेषणअव्ययें दोन प्रकारचीं आढळतात. १ विभक्ति प्रत्यय शब्दांना लावून झालेलीं. कधीं कधीं प्रत्ययांचा लोप केलेला आहे. २ क्रियाविशेषण अव्ययें मूळचींच म्हणून.

पहिला प्रकार.—बहुता रीतीं; सुखे, लेकरीं (खाणे). सनसीत (चालिले आहे) राती दिवस. (तुम्ही) खुसी (घरवाडा) बांधणें. जोरावारीनें पीढी-

दरपीढी देशपांडीयेपण आहे. साला साले सालबासालने. ठाणेदार याचे आंगे हरकती केली.

इतरः—उगेंच, रोज, दरोज, यैसा मामला काये बद्दल केला ! (जमीन पूर्वी प्रमाणें) पुढा अनुभविणें; तव, हल्ली, हालीं.

येणेप्रमाणें वाराची वार दुमाले करणें. बरजोर ताकीद करून जाणे. जोंवेरी. तधीपासून. (लंवे) दूरी (केले) सडी आलिया. (तूं) बेसक (येईजे). हरीवख्त, मागत्यान, तऱ्ही, तथी.

अस्सल फारशी शिक्क्याचीं क्रियाविशेषणें.

(हमेश, बिलकूल, बेहत्तर, छान, जलद, दरवक्त, मुष्कीळ, अलाहिल, वगैरे, पेष्तर, वापस, तमाम, गुदस्ता, यंदा, एकटा, दुकटा, दुय्यम, देखील. (राजवाडे खंड ८).

शब्दयोगीअव्ययें.

विशेषणाप्रमाणें ह्यांच्या बाबतींत हि पश्चाद्गामी आणि पूर्वगामी अशा दोन्ही प्रकारानें अव्यय वापरण्याची प्रवृत्ति शिवकालीन भाषेमध्यें रूढ झालेली दिसते. पूर्वगामी वापरण्याचा स्वभाव फारशीचा आहे. पश्चाद्गामी वापरण्याचा स्वभाव मराठीचा आहे.

१ उदाहरणें.—त्यावरी, तुजवरी, माणसाकरवीं, आपणापासुनु. साबाजीपंताबराबरी, देवणकारबराबरी, तधीपासून, आम्हापासी, वरीलीकडुनु, अनाकारणें, मेलियावरी, जोंवेरी, अशास वृत्तीलोप होतो. याउपेर, मांडिलीयाकारणें, जोवरी तोवरी, मागती, दिवानातुनु, तऱ्ही, बाहीर, नजदीक.

२ देखत परवाना, खालते, किल्ले कोंढाणा खाले राहुनु; देऊळ गांवाची वाट तेथुनु, बरहुकूम.

(अस्सल फारशी शिक्क्यांचीं शब्दयोगी अव्ययें. दर, बे, देखील, ते गैर, सवाई, अज, बद्दल, ऐवजी, बरोबर, शिवाय, नजदीक, रुबरु, माफक, दरबाबत. राजवाडे खंड ८)

उभयान्वयी अव्ययें:— आण (इ. चा लोप), यैसेजे, जे, म्हणौनु, तऱ्ही, जैसे जैसे, तैते तैसे, ऐशीयास.

(इतरः— मा, मगर, अगर, बल्के, या कीं, बाकी, सबब, लेकीन (रा. ८)

उद्गारवाचकः— बस, हां, अलबत, बेशक, बेलाशक, खूप, वाहवा, छे, छी, अफसोस, शाबास ,खुश, फू (रा. ८).

शिवकालीन भाषेच्या व्याकरणाच्या निरनिराळ्या बाबी येथवर सांगितल्या. त्यांवरून प्रत्येक शाखेमध्यें फारशी भाषेचा मराठीवर परिणाम झालेला दिसून येईल. पुरुषवाचक सर्वनामें, संख्यावाचक विशेषणें, लहान लहान अव्ययें, उच्चारसिद्धि, शब्दसिद्धि ह्या बाबी म्हणजे भाषेचा गाभा होय. बाह्य लौकिक व्यवहाराच्या अनुषंगानें भाषादेवीच्या देवालयाच्या आंतर गाभाऱ्यापर्यंत यावनी भाषेचा शिरकाव झालेला दिसतो. ह्या सर्व पुराव्यावरून तनिशें वर्षांच्या संसर्गानें शिवशाहीच्या पूर्वार्धांतील मराठी जवळ जवळ फारशीमय झालेली दिसते. तिच्या मूळ स्वभावाची ओळख बुजून तिला Perso-Aryan म्हणण्याकडे कल होतो. अशा तऱ्हेनें कायमचीच ती Perso-Aryan होती कीं काय अशी भीति होती. परंतु शिवशाहीमध्यें जी राज्यक्रांति झाली तीमुळें ती भीति नाहींशी होऊन तिला तिचें स्वत्व मिळालें. शिवाय मराठा समाजांतहि परकी संस्कृतींच्या जहरानें घायाळ न होतां उलट तें पचनी पाडून आपणांत सामावून घेण्याची शक्ति असल्यामुळें मराठी भाषेवरील हल्ला तितकाच थोपविला गेला. मराठीचें सत्व कायम राखण्यास तत्कालीन साधुसंतांची कामगिरीहि कारणीभूत झाली. तिचें महत्त्व थोडक्यांत सांगणें जरूर आहे.

शिवाजीसारख्या राज्यक्रांति करणाऱ्या वीरांनीं केवळ जाणून बुजून स्वधर्म-परित्राणासाठीं परकीयांशीं झोंबाझोंबी सुरू केली व त्याचा परिणाम स्वधर्माबरोबर स्वदेश आणि स्वभाषा ह्यांच्या जोपासनेंत झाला. साधुसंतांनीं पुरुषार्थ साधण्याच्या हेतूनें वाङ्मयनिर्मिति केली. धार्मिक ठेवा संस्कृत भाषेच्या दुर्गम कोटांत ठेविल्यामुळें सामान्य लोकांच्या हातास तो पोहोंचेना. बरें, संस्कृत म्हणजे देवांची भाषा आणि मराठी म्हणजे चोरांची असे ते मानीत नव्हतें. अध्यात्माची कोडीं मराठींत उकलण्याची परंपरा, जी ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ ह्यांनीं घालून दिली, तीच पुढें रामदास, वामन, तुकाराम ह्यांनीं पुढें चालविली. संस्कृत मराठीचा झगडा एकनाथ स्वामी व हरी पंडित ह्यांच्यामध्येंच होता असें नाहीं. तर तो पुढेंहि शिवकालामध्येंहि दिसून येतो. राधामाधवचंपूचा कर्ता जयराम पिण्डये हा संस्कृतचा अभिमानी असून संस्कृत कवींना सिंह म्हणतो आणि प्राकृत कवींना मर्कटें म्हणतो. ज्ञानेश्वरानें संस्कृतांतील भांडार दाखविण्यासाठीं जो ‘ भावदीप ’ घेतला तो पुढें वामनानें ‘ यथा ’ योग्य रीतीनें दाखवीतोंपर्यंत तेवतच होता. मध्यंतरीं ह्या दीपावर बहामनी काळांत प्रतिकूळ वातावरणामुळें बरीचशी काजळी गोळा झाली हें खरें; परंतु लगेच वातावरणांतील बादळें

नाहींशीं होऊन स्थिरस्थावर झाल्याबरोबर आलेलें काजळ झाडून काढून पुन्हां त्या दीपाची शिखा प्रज्वलित केली. झगडा झाला संस्कृत मराठींत, परंतु त्याचा परिणाम मात्र फारशीस नामोहरम करण्यांत झाला. पूर्वीं जें एकदां बीं रुजत घातलें त्याला पिक शिवकालांत बेसुमार आलें. वाङ्मय व भाषा ह्यांच्या वृद्धीस राजाश्रय मिळाला. शाहाजीराजे ह्यांच्या आश्रयाखालीं असलेल्या ३५ कवींची याद जयराम पिण्डये यानें चंपूमध्यें दिली आहे. शिवाजीराजे यांनीं भुषण कवीला आश्रय दिल्याचें प्रसिद्धच आहे. भोंवतालीं तान्हाचें काहूर माजलें असतांना एकनिष्ठ भावनेनें तुकारामाच्या कीर्तनांत शिवाजी राजे तन्मय होऊन रंगल्याची आख्यायिका प्रसिद्धच आहे, रामदासांच्या चरणीं सर्व राज्य अर्पण करून केवळ श्रीप्रसाद म्हणून राज्यव्यवहार शिवाजीनें पुढें चालविल्याचें कांहीं संशोधक सांगतातच. शाहिरास उत्तेजन लोक व राजा ह्या दोघांकडून मिळत असे. प्रत्यक्ष जिजाई मातोश्रीनें अग्नीनदासास बोलाविल्यावरून अफजलखानाच्या वधाचा “ त्यानें कडाका गाईला ” व म्हणूनच त्याच्या “ चढविले हाताला लंगर सोन्याचे दोन ” व त्यास एक गांव बक्षीस दिला. ह्याशिवाय तुळशीदास, यमाजी हे शाहीर होतेच. ह्या भाषिक हल्ल्यामध्यें सुद्धां मराठी कवीबारगीरांनीं शिवकालीं चोहोंबाजूनीं एकदम गनीमी मारगिरी करून फारशीच्या विरुद्ध धुल्लड उडवून दिली. भाषिक उलाढाल व वाङ्मयीन खटाटोप ह्यांत शिवकाल हा कसा चिरस्मरणीय कालखंड आहे हें पुढें दिलेल्या कवींच्या नांवावरून कळून येईल. मुक्तेश्वर, रमावल्लभदास, शिवकल्याण, लोलिंबराज, शामराज, तुकाराम-बोधलेबुवा, निंबराज, मोरयागोसावी, गणेशनाथ, विठ्ठलदास, सेना न्हावी, शेख-महंमद, रामदास, गंगाधर, रंगनाथस्वामी, आनंदमूर्ती, केशवस्वामी, वामन पंडित, नागेश, विठ्ठल बीडकर ह्या सर्व संतमंडळींच्या कामगिरीनें शिवकाल म्हणजे वाङ्मयाच्या खटाटोपांत चिरस्मरणीय असा कालखंड झाला आहे. ह्या शिवाय रामदास तुकाराम व इतर संत ह्यांचा शिष्यगण व वेणाबाई, आक्काबाई, बहिणाबाई ह्या स्त्रिया आपापल्या परीनें हातभार लावीत होत्या. ह्या सर्वांचा जानपदामध्यें परिणाम झाल्यानेंच फारशीचा लोंढा थोपावितां आला. हे प्रयत्न जरी निर्हेतुक झाले तरी ह्यांचा परिणाम झालाच. प्रत्यक्ष उघड उघड वार खुद्द छत्रपतींनींच केला. कोणत्याहि प्रकारचें महमदी चिन्ह पाहिलें कीं महाराजांच्या कपाळाची तिडीक उठवी. दरबारांत, घरीं दारीं, जिकडे पहावें तिकडे फारशी शब्दांचा बेसुमार भरणा झालेला. तेव्हां हे शब्द खड्यासारखे निवडून काढून

टाकण्याकरितां राजदरबारांत नेहेमीं जरूर लागणाऱ्या शब्दांचा राजव्यवहार कोश करण्यास रघुनाथ पंडितास त्यांनीं आज्ञा केली व अशा रीतीनें त्यांनीं मराठीच्या शुद्धीकरणाचा प्रथम उपक्रम केला.

फारशीपुढें मराठी भाषा नेस्तनाबूद न होण्याचें आणखी एक कारण आहे. व तें प्रामाणिकपणानें कबूल केलें पाहिजे. तें म्हणजे मराठी भाषेला बहामनी शाशियांतील बादशहांनीं दिलेला आश्रय हें होय. १४ व्या शतकापासून ते १७ व्या शतकापर्यंत मराठाप्रांत आणि मराठी भाषा हे दोन्ही पारतंत्र्याच्या कर्दमांत रुतलेले होते, व जरी मराठी भाषेला हातापायांत बेड्या घालून बादशहाच्या दरबारीं खेचली होती तरी दरबारांत तिचा पक्ष घेणारे पुष्कळ तिला वाली भेटले. सन १५२९ मध्यें बुऱ्हाण निजामशहानें महाराष्ट्री ब्राह्मण आपल्या दिवाण-गिरीवर नेमला. ह्यांच्या कारकीर्दींत ब्राह्मणी कारकुनाच्या फडेशाहीस चांगलाच वाव मिळाला असावा आणि त्यायोगें मराठीची जोपासना झाली असावी. सन १५५५ मध्यें इब्राइम आदिलशहा विजापूरच्या तख्तावर बसला. हा मराठ्यांच्या शौर्यधैर्यादि युद्धोपयोगी गुणांचा चहाता होता. त्यांच्या व्यवहारज्ञानाची पारख करणारा, हिंदु मुसलमान असा दुजाभाव उत्पन्न झाला असतां हिंदूंचा कैवार घेणारा अशा सत्प्रवृत्तीचा असा हा बादशहा असल्यामुळें ह्याच्या अमदानींत मराठी भाषा आणि मराठा समाज ह्याला सुस्थिति प्राप्त झाली. राजव्यवहारांत व व्यवस्थेंत मराठी-भाषा व समाज ह्यांना योग्य मान मिळूं लागला. मोठमोठ्या हुद्द्यावर पुष्कळ मराठ्यांची योजना झाली. इतकेंच नव्हे तर दरबारांत मराठीचा शिरकाव झाला. आणि सर्व बादशाही दप्तरहि मराठींत ठेवण्याविषयीं बादशाहाचें फर्मान निघालें. खुद्द बादशहांनींच मराठी भाषेची तळी उचलल्यावर मग तिला हातभार लावण्यास साहजिकच दरबारांतील हिंदु मुत्सद्दी पुढें आले. आदिल-शाहींत मुरारजगदेव, यानतराव, निजामशाहींत साबाजी अनंत, कुतुबशाहींत अकरस भानजी, मधो भानजी (आकण्णा, मादण्णा), जायण्णा लिंगरस, ह्या सर्वांनीं एक जवळ जवळ परंपराच स्थापिली. ह्या परंपरेचा आद्य प्रवर्तक हेमाद्रिपंत म्हणावयास हरकत नाहीं.

फारशी भाषेबरोबर आपणास इतर कांहीं अविंध भाषांचा विचार केला पाहिजे. ह्यामध्यें तत्कालीन राजकारणांत अथवा व्यवहारकारणांत ज्या युरोपीय सत्तांनीं महाराष्ट्रांत ढवळाढवळ केली त्यांच्या भाषांचा अंतर्भाव होतो. उदा. पोर्चुगीज, डच, फ्रेंच, इंग्लिश. फारशीचे परिणाम ज्याप्रमाणें मराठीच्या रोमरंध्रीं खिळले,

तसे ह्या भाषांचे खिळले नाहींत. त्यांचे परिणामास गाभ्यांत शिरण्यास वाव मिळेपर्यंतच त्यांच्या राजवटी परस्परांकडून उखडल्या गेल्या. शिवाय त्यांच्या संस्कृतींत व भाषेंत असलेला एक प्रकारचा तुसडेपणा किंवा आडमुठेपणा हाहि कारण झाला. मराठीच्या शब्दसमुहांत कांहीं शब्दांच्या प्रतीकांतच त्यांनीं आपला स्मृत्यवशेष ठेविला आहे.

पोर्चुगीजांचा मराठीस उपसर्ग पंधराव्या शतकापासून भोवूं लागला. त्याच्या धर्मप्रयत्नाच्या विवेचनास मी स्पर्श करीत नाहीं. किनाऱ्यालगतची ओसरीच ते व्यापून राहिले नाहींत तर आपले पाय हळुंहळूं आंत पसरून घराचा ताबा घेण्यास ह्या पोर्चुगीज पाद्री भटांनीं सुरुवात केली. ' अहमद-नगरच्या निजामशहाच्या खानजाद्यास पोर्तुगीज भाषा सफाईनें बोलतां येत होती असें म्हणतात. ' ह्या पाद्री भटांचे पाय त्यांचे शेजारी आणि भाईबंद डचं, फ्रेंच, इंग्रज ह्यानीं उलटवून फेकण्याच्या पूर्वींच ते थोडे थोडे रुतून बसले होते व तेवढ्या कालांतच आरमारी शब्द, हत्यारांचीं नांवें, खलाशाची भाषा, पोशाखाचे शब्द, सैन्यांतील हुकूम, धर्मासंबंधीं परिभाषा, कांहीं युरोपीय पदार्थांचीं नांवें, कांहीं पशुपक्ष्यांचीं नांवें, अशा पुष्कळ शब्दांचें लोण मराठींत आणून सोडिलें. उदा.—चेपें, शिरपेंच, कुतनो, फारुतु, कंपु, कपिना, काडतूस, घमेले गर्णाल, पिस्तुल, परात, बतेला, काफर, साबण, कार्दी, मेस्त्रा, फर्मा, इत्यादि पोर्चूगीज शब्द आहेत. शिवकालिन विशेषनामांचा उच्चार विलक्षण रीतीनें करीत. उदा०— मराठा, सोइराबाय, राजे पंडितो, गंभिरराव इ. इ.

शिवसमकालीन फादर स्टीफनला मराठी भाषा "भासाभीतुर ही भास परमेश्वराचि आ वस्तू निरोपूंसी योग्य ऐसी दिसली म्हणोनु ? " त्यानें आपला ख्रिस्त पुराणासारखा ग्रंथसाहेब मराठी भाषेंत लिहिला. व

" जैसी हरळामाजी रत्न कीळा, कीं रत्नामाजी हिरा निळा,
तैसी भासामाजी चोखाळ, भासा मराठी
जैसा पुस्पामाजी पुष्प मोगरी, कीं परिमळामाजी कस्तुरी,
तैसी भासां माजी साजिरी । मराठीया. "

अशा शब्दांनीं मराठी भाषेला गौरविलें.

---

१ पटवर्धन वि. का. व्याख्यानें.

शिवकालीन मोडी लिपी

(लेखकः—विनायक विष्णु देशपांडे, जुन्नर)

१ प्रस्ताव—शिवकालीन इतिहासाचा अभ्यास करतांना त्या कालांतील अनेक कागद माझ्या अवलोकनांत आले. त्याबरोबरच मोडी लिपीचा जन्मकाल कोणता असावा व तिची उपपत्ति व विकास कसा होत गेला असावा ह्याविषयीं माझ्या मनांत विचार येऊं लागले. तसेंच शिवकालीन मोडी कागदाच्या वाचनांतील बिकटपणा सर्व इतिहासभक्तांच्या माहितीचा असाच आहे. मराठी इतिहासाचें संशोधन करणारास सुरुवातीसच नाउमेद करणारी ही एक मोठी अडचण आहे. एकाद्या विषयाचा अभ्यास व त्यामध्यें संशोधन करावयाचें असेल तर अभ्यासकास त्या विषयास उपयोगी पडणारी सर्व साधनसामुग्री अगदीं सौकर्यानें प्राप्त झाली पाहिजे; नाहींतर सामग्रीची जुळवाजुळव करतानाच त्याची अर्धीअधिक शक्ति खर्च व्हावयाची. शिवाय एकाद्यानें शिवकालीन मोडी वाचण्याची कला मोठ्या श्रमानें जरी साध्य करून घेतली तरी गुप्त धनासारखी त्यालाच ती फलप्रद होते. जुने मोडी कागद हे खेड्यापाड्यांतून सांपडतात व तेथें त्यांचें महत्व जाणून ते वाचणारा असा कोणीहि मिळण्याचा संभव नसतो. तेव्हां एकतर ते कागद तसेच पडून राहतात किंवा मोठ्या प्रयासानें शिवकालीन मोडी जाणणाऱ्याकडे पाठवून वाचून घ्यावे लागतात. तात्पर्य, जुन्या मोडी कागदांचें वाचन हें प्रायः शिलालेख, ताम्रपट इत्यादिकांच्या वाचनासारखेंच दुर्घट आहे. ह्या निबंधांत मोडी लिपीचा जन्मकाल, मोडी लिपीची उपपत्ति व तिचा विकास याविषयीं विचार करावयाचा आहे. तसेंच शिवकालीन मोडी कागद साधारणपणें कसा ओळखावा व वाचावा याविषयीं कांहीं सूचना शेवटीं केल्या आहेत.

२ साधनें:—हा निबंध लिहिण्याकरितां सुमारें ८५।९० शिवकालीन मोडी कागद मीं निवडिले. स्थलाच्या दृष्टीनें विचार करतां, या कागदांत उत्तरेस गुलशनाबाद म्हणजे नाशिकपासून तो दक्षिणेस अथणी विजापुरापर्यंतचे कागद आहेत. निजामशाही व आदिलशाही मुलखाचा ह्यामध्यें बहुतेक समावेश होतो. मोंगलाईंतील मोडी कागद १०।५ पेक्षां जास्त

मिळाले नाहींत व ते जुन्नरकडील आहेत. कालदृष्ट्या पाहिले तर शके १५३५ पासून शके १६१० पर्यंत लिहिले गेलेले असे ते कागद आहेत. याशिवाय भा. इ. सं. मंडळाच्या संग्रहीं शके १४२९ मधील सातारा प्रांताकडील एका मोडी कागदाचा फोटो आहे, तोही पहावयास मिळाला. मोडी लिपीच्या उपपत्तीविषयीं नीट समजूत होण्याकरितां यादवांच्या १३ व्या शतकांतील ४१५ शिलालेखांच्या प्रतिकृति मननपूर्वक तपासिल्या व कांहीं बालबोधी अक्षरें (हीं १५ व्या शतकांतील असावींत) पाहावयास सांपडलीं. वरील सर्व साधनांचें सूक्ष्म रीतीनें परीक्षण केलें. तसेंच मोडी लिपीच्या उपपत्तीविषयीं कोणी लिहिलें असल्यास पहावें या हेतूनें शोध केला असतां, राजवाड्यांच्या ८ व्या खंडाच्या प्रस्तावनेंतील एक परिच्छेद, व चांदोरकरांनीं भा. इ. सं. मंडळाच्या प्रथम संमेलनप्रसंगीं वाचलेला व प्रथम संमेलनवृत्तांत छापून प्रसिद्ध झालेला 'मोडी लिपीची उपपत्ति' या विषयावरील एक निबंध, हें वाचण्याजोगे दिसले. चांदोरकरांनीं 'आर्यलिपी' नांवाचें एक लहानसें पुस्तक प्रसिद्ध केलें आहे. त्यांतील महत्वाचे मुद्दे वर उल्लेखिलेल्या निबंधांत बहुतेक सर्व आले असल्यामुळें तें पुस्तक मिळविण्याचा प्रयत्न मीं केला नाहीं. व आणखी एक दोघांनीं, तसेंच श्री. छत्रे यांनीं या विषयावर लिहिलें आहे असें समजतें. ह्या विषयावरील आतांपर्यंत प्रसिद्ध असलेली व मीं पाहिलेली माहिती ती इतकीच.

३ तक्ता:—या सोबत जो तक्ता जोडला आहे तो वर सांगितलेल्या कागदांतून कांहीं विशिष्ट वळणाचीं मोडी अक्षरें घेऊन तयार केला आहे. एकच अक्षर घेऊन शके १५३५ पासून शके १६१० पर्यंत त्याचें वळण कालानुक्रमानें कसकसें होत गेलें हें नीट प्रतीत व्हावें या करितां अक्षरें कालानुक्रमानें दिलीं आहेत. तक्ता तयार करतांना कागद बहुतेक निजामशाही मुलखांतील घेतलें आहेत. म्हणजे निजामशाही मुलखांत अथवा पुणे महाराष्ट्रांत १६ व्या शतकांत मोडीं लिपीचीं स्थित्यन्तरें कशीं होत गेलीं हें तक्ता बारकाईनें पहाणाऱ्याच्या ध्यानांत यावें. असेच तक्ते स्थलदृष्ट्या निरनिराळ्या मुलुखांतील पाहिजे होते ही गोष्ट खरी आहे. पण वेळेच्या अभावीं तें काम झालें नाहीं.

४ मोडी लिपीचा जन्मकाळ— आतां मोडीलिपीच्या जन्मकालाविषयीं पहिल्या प्रथम विचार करूं. या लिपीच्या जन्मकालाविषयीं प्रचलित लोककथा अशी आहे कीं, शालिवाहन शकाच्या १३ व्या शतकाच्या प्रारंभीं महादेव व रामदेवराव यादव यांच्या पदरीं दप्तरदारीच्या कामावर असलेला जो हेमाद्री उर्फ हेमाडपंत त्यानें ही लिपी बाजरी ह्या धान्यासह लंकेहून आणिली. ह्या लोक-कथेचा अनुवाद डॉ. भांडारकर व राजवाडे यांनीं आपापल्या पुस्तकांतून केला आहे. याला विरोधी असें मत श्री. चांदोरकरानीं प्रतिपादिलें आहे. श्री. चांदोरकर हे मोडी लिपीची उत्पत्ति अशोक कालीन 'ब्राह्मी' किंवा (त्यांनीं दिलेल्या नांवानें संबोधावयाचें असल्यास) 'मौर्यी' लिपींत आहे असें मानतात. मोडी लिपीचा जन्मकाल ठरवणारीं कांहीं प्रमाणें आपल्याला सध्यां उपलब्ध आहेत त्यावरून ठोकळमानानें तो निश्चित करतां येईल असें वाटतें; तेव्हां तीं प्रमाणें पुढें देतों:—

(अ) आतांपर्यंत उपलब्ध असलेल्या लिखितावरून (कागदावर अगर दुसऱ्या कोणत्याहि साधनावर लिहिलेल्या) असें दिसतें कीं, मोडी लिपींत लिहिलेला मजकूर तेराव्या चौदाव्या शतकाच्या पूर्वीचा नाहीं. राजवाड्यांच्या जवळ तेराव्या चौदाव्या शतकांतील कागद होते असें त्यांनीं लिहिलें आहे व भा. इ. सं. मंडळाच्या संग्रहांतील वर सांगितलेला जुन्यांत जुना असा कागद शके १४२९ मधील आहे. मोडी लिपी तेराव्या शतकाच्या अगोदरपासून जर अस्तित्वांत असती तर शिला, ताम्रपट, कातडें, कापड इत्यादिकांवर लिहिलेले मोडी लेख सांपडावयास पाहिजे होते. असा एकादा सुद्धां तेराव्या शतकापूर्वीचा लेख अजून सांपडू नये हें चमत्कारिक दिसतें.

(आ) कागदाशिवाय इतर साधनांवर लिहिलेले असे जुने लेख जे सांपडतात ते सर्व त्या त्या काळांत प्रचलित असलेल्या ब्राह्मी किंवा देवनागरी लिपीच्या स्वरूपांत लिहिलेले (खोदलेले अगर ओरखडलेले पाहिजे असेल तर म्हणूं) आहेत. सुलभतेनें लिहिण्याचें जें साधन कागद, तें उपलब्ध झाल्याशिवाय मोडी लिपी प्रचारांत येण्याची सर्वतोपरी अनवश्यकता होती. कारण मोडी लिपी ही मराठी भाषेंतील लघुलिपीसारखी जलद लिहितां येणारी अशी लिपी आहे. तेव्हां जलद लिहितां येणें हें सुलभ साधनांच्या (कागद वगैरे) अभावीं जोंपर्यंत अशक्य होतें तोंपर्यंत ही शीघ्रलिपि (मोडी लिपी) प्रचारांत येणें अगदीं अनवश्यक व अनैसर्गिक दिसतें.

(इ) शालिवाहन शकाच्या १३ व्या शतकाच्या प्रारंभीं अल्लाउद्दीन हा मुसलमानी सैन्य बरोबर घेऊन प्रथमच दक्षिणेंत शिरला. मुसलमानांचा संबंध त्यावेळींच पहिल्यानें दक्षिणेशीं आला असें मानण्यांत येतें. (अल्लाउद्दीनाचा चुलता ग्यासुद्दीन ह्याच्या एका प्रशस्तीवरून वर दिलेल्या कालाच्या अगोदर थोडे दिवस मुसलमान दक्षिणेंत आले असण्याचा संभव दिसतो). त्याच्या अगोदर शंभर वर्षें मुसलमान राजे दिल्लीच्या तक्तावर आरूढ झाले होते. तेव्हां ह्या कालाच्या संधींत विंध्याद्रीच्या दक्षिणेस असलेल्या प्रदेशांतील लोकांस फारसी भाषा व फारसी लिपी ह्यांची माहिती झाली असावी हें म्हणणें तर्क-शुद्ध दिसतें. फारसी भाषेंतील जलद लिहिण्याच्या लिपीस शिकस्ता असें म्हणतात. ' शिकस्ता ' यांतील मूळ शब्दाचा अर्थ ' मोडणें ' असा होतो; इतकेंच नव्हे तर फारसी भाषेंतील मूळ लिहिण्याच्या ' नस्ख ' लिपीवरूनच ही ' शिकस्ता ' लिपी अक्षरें मोडून तयार केलेली आहे. आपल्यामध्येंहि हुबेहूब तोच शब्द घेऊन व तीच क्रिया करून ' बालबोधींवरून मोडी लिपी तयार केलेली आहे.

(ई) श्रमाशिवाय ज्याच्यावर जलद लिहितां येतें असा जो कागद तोहि इराणांतून याच कालांत आपल्याकडे आला असण्याचा संभव आहे. राजवा-ड्यांनीं या बाबतींत ज्ञानेश्वरींतील खालील ओव्या प्रमाण म्हणून उद्धृत केल्या आहेत.

हें बहु असो पंडितू । धरुनु बालकाचा हातू ।
वोळी लेहे वेगवंतू । आपणचि ॥ अध्याय १२, ओवी ३०७ ॥
सुखाची लिपी पूसिली ॥ अध्याय ३ ओवी ३४६ ॥
दोषांची लिहिली फाडीं ॥ अध्याय ४ ओवी ५२ ॥
आखरे पूसलिया न पूसे ॥ अर्थ जैसा ॥ अध्याय ८ ओवी १७४ ॥

यावरून कागदाची माहिती ज्ञानेश्वरीच्या कालीं नुक्तीच आम्हांस होत होती असें राजवाड्यांनीं प्रतिपादिलें आहे व तें खरेंच दिसतें. कारण याच काळाच्या सुमारास मुसलमानांचा व आपला संबंध प्रथम आला. शिवाय "कागज' हा शब्द फारसी असून त्याला प्रतिवाचक असा शब्द संस्कृत भाषेंत नाहीं. तेव्हां कागद हें साधन जसें आम्हीं परदेशीयांपासून घेतलें तसेंच शीघ्रलिपी लिहिण्यासाहि आम्ही त्यांचेपासूनच शिकलों, असें म्हणावें लागतें.

(उ) मोडी लिपींतील प्रत्येक अक्षराची खूण ही त्या कालांत (१३ व्या शतकांत) प्रचलित असलेल्या देवनागरी लिपींतील त्या त्या अक्षराच्या खुणेवरून

'मोडन' तयार केलेली आहे. हें यापुढें दिलेल्या माहितिवरून सहज ध्यानांत येईल.

(ऊ) मोडीलिपीच्या उत्पत्तीविषयीं रूढ असलेली लोककथा, हें मोडीचा जन्मकाल ठरविण्याबाबत एक अचूक व मोठें महत्वाचें प्रमाण आहे. लोककथा, दंतकथा किंवा प्राचीन समजुती ह्यांतील अतिशयोक्तीचा भाग सोडून सत्यांश तेवढा घेतला म्हणजे तो प्रायः इतिहासच असतो. जनसमूहामध्यें एकादी कथा प्रचलित होण्याचें सत्याशिवाय बहुतेक दुसरें कोणतेंहि कारण असूं शकणार नाहीं. असा एक इतिहासाचा सामान्य नियम आहे कीं, कोणत्याहि विधानास प्रत्यंतर पुरावा भरपूर मिळाला म्हणजे तें विधान ऐतिहासिक सत्य म्हणून ग्राह्य धरण्यास हरकत नाहीं. तोच नियम येथें लावून पहा. सर्व समाजामध्यें एकादी कथा प्रचलित आहे; तेव्हां ह्याचा अर्थ असा होतो कीं, ह्या विधानास (कथेस) प्रत्यंतर पुरावा हा सगळीकडे भरपूर मिळतो; म्हणून ही गोष्ट ऐतिहासिक सत्य म्हणून धरावयास हरकत नाहीं. आतां इतकें खरें आहे कीं, हा पुरावा लेखी व त्यां कालांतील नाहीं. तरीहि लोककथा किंवा दंतकथा ह्यांमधून प्रचलित असलेल्या समजुती, ह्या बहुधा अविकृत स्वरूपांत तशाच पिढ्यान् पिढ्या चालत आलेल्या असतात. आपल्याकडे दंतकथांना ऐतिहासिक पुरावा म्हणून जितकें महत्व द्यावयास पाहिजे तितकें तें देण्यांत येत नाहीं व कांहीं थोडेसें विरोधी प्रमाण सांपडल्यास प्रचलित असलेल्या समजुती वेडगळ, भ्रामक व चुकीच्या अशा मानल्या जातात याचें मोठें नवल वाटतें! असो. हेमाडपंत हा यादवांच्या दप्तरदारीच्या कामावरील मुख्य अधिकारी म्हणून श. ११८२ पासून श. १२३१ पर्यंत होता. त्याच्या कारकीर्दींत किंवा थोडें अगोदर यादवांचें दप्तर कागदी झालें असण्याचा संभव आहे. व हेमाद्रीनें बालबोधी लिपींतून मोडीलिपी स्वतः किंवा दुसऱ्या एकाद्या लेखन पंडिताकडून बसवून घेतली असण्याचा संभव आहे. तसेंच तो स्वतः दप्तरदारीच्या हुद्यावर असल्यामुळें त्यानें ह्या लिपीच्या प्रसारार्थ पुष्कळ खटपट केली असली पाहिजे. हेमाडपंती मेरतकें इतिहासज्ञांच्या परिचयाचीं आहेतच. वर दिलेल्या प्रमाणावरून 'मोढी' लिपी ही बालबोधीवरून १३ व्या शतकाच्या प्रारंभींच तयार झाली असली पाहिजे, असें उघड दिसतें.

५ 'मोढी' नांवाची उपपत्तिः– प्रथम 'मोडी' ह्या शब्दाविषयीं विचार करूं. श्री. चांदोरकरांच्या मतानें 'मौर्यी' ह्या शब्दाचा 'मोडी' हा अपभ्रंश

आहे. ते असेंहि लिहितात कीं, 'मौर्यी' चा 'मोडी' हा अपभ्रंश व्याकरण-दुष्ट नाहीं. 'मोडी' लिपीच्या अशोककालीन ब्राह्मी लिपींतून असलेल्या उत्पत्तीविषयीं त्यांनीं हें एक प्रमाण म्हणून दिलें आहे. परंतु ह्यांत एक मोठी अडचण अशी आहे कीं, ब्राह्मी लिपीस 'मौर्यी' हें नांव कोणीहि, कधींहि दिलेलें आढळांत नाहीं. अशोक हा मौर्य कुलांतील राजा होता व त्या कालीं ही लिपी प्रचारांत होती म्हणून त्या लिपीचें नांव 'मौर्यी' असलेंच पाहिजे असें कांहीं नाहीं. शिवाय ही लिपी मौर्य कुलांतील राजांच्या कारकीर्दीच्या अगोदर व नंतरहि आर्यावर्तांत प्रचलित होती. अशोककालीन लिपीचें आपल्याला सध्यां माहीत असलेलें नांव ब्राह्मीच होतें. त्याअर्थी 'वदतो व्याघातः' न्यायाअन्वयें हें प्रमाण लंगडें पडतें. 'मौर्यी' च नाहीं तर त्याचा अपभ्रंश 'मोडी' हा येणार कोठून? मग तो अपभ्रंश व्याकरणदुष्ट असो किंवा नसो. या करितां 'मोडी' हा शब्द 'मोडणें', 'मोडून लिहिणें' अशा कोणत्यातरी शब्दावरून बनला असावा हें म्हणणें सयुक्तिक दिसतें. वर सांगितल्याप्रमाणें फारसी भाषेंतील 'नस्ख' व 'शिकस्ता' ह्या लिप्यांतील संबंध लक्षांत घेतला म्हणजे या विवेचनाला बळकटी येईल. बालबोध लिपींतील अक्षरें मोडून लिहिल्यामुळें जी लिपी तयार झाली ती 'मोडी' होय. तसेंच 'बाधबोध' व 'मोडी' या दोन लिपी दोन भिन्न संस्कृतीच्या दर्शक आहेत व (संस्कृत व प्राकृत) ह्या दोन भाषांचीं अनुक्रमें प्रत्यक्ष रूपें आहेत, असें जें अनुमान श्री. चांदोरकरांनीं काढलें आहे तेंहि बरोबर वाटत नाहीं. प्राकृत भाषेलाच 'बालभाषा' असें दुसरें नांव आहे व त्या भाषेच्या लिपीचें नांव 'बालबोध' असणें हेंच जास्त सयुक्तिक आहे. शिवाय प्राकृत भाषा पुष्कळ जुनी असूनहि 'मोडी' लिपींत लिहिलेला १२ व्या शतकापूर्वीचा असा प्राकृत भाषेंतील (किंवा कोणताहि) एकहि लेख अजून उपलब्ध झाला नाहीं,

६ मोडी लिपीची उपपत्तिः—'मोडी' च्या जन्मास अत्यंत अनुकूल असा काल म्हणजे लिहिणाराच्या हातांत कागद मिळणें हा होय. ताम्रपट, ताडपत्र, कापड इत्यादिकांपेक्षां कागदावर अनेकपटीनें जलद लिहितां येतें हें पाहिल्यावर मार्मिक व शोधक बुद्धीच्या लोकांच्या डोक्यांत, प्रचालित लिपी अधिक जलद लिहितां येण्यासारखी कशी बनवावी या विषयीं साहजीकपणेंच कल्पना घोळूं लागल्या असाव्यात. लिहितांना निरर्थक जाणाऱ्या वेळाची बचत

शक्यतोंवर करणें ही कल्पना, लिहिण्याकरतां कागद प्रचारांत येण्याच्या, पूर्वी सुचली असण्याचा संभव नाहीं. व बालबोधींतून मोडी लिपी तयार करण्यांत हाच उद्देश अगदीं उघड व स्पष्ट आहे. आतां लिहितांना वेळ तरी कोणता निरर्थक जातो हें पाहूं. कागदावर लेखणी जोंवर टेकलेली आहे व लिहिण्याकरतां रेघा ओढीत आहे तोंवर वेळ फुकट जातो असें कोणासहि म्हणतां यावयाचें नाहीं. मात्र लेखणीचें टोंक कागदावरून उचलून पुन्हां टेकेपर्यंत जो वेळ जातो तो पुष्कळांना फुकट गेला असें वाटण्याचा संभव आहे. आतां हें खरें आहे कीं, ह्या काळांत प्रत्यक्ष लिहिण्याचें काम लेखणी करीत नाहीं. परंतु लेखनांत जें स्पष्टत्व व वाचनीयत्व राखावयाचें असतें व याकरतां अक्षरामध्यें जी मोकळी जागा सोडावी लागते त्याकरितां ह्या कालाचा उपयोग होतो; म्हणजे अप्रत्यक्ष रीतीनें हा घालविलेला काल उपयोगाचाच आहे. बालबोधी लिपींतील इ, उ, ट, ठ, ड, द, र इतकीं अक्षरें सोडून दिलीं तर बाकीचीं अक्षरें काढतांना कागदावरून कोठें दोनदां तर कोठें तीनदां असा हात उचलावा लागतो. सध्यां कागदांवर बालबोधी लिहितांना आपण लिहिण्याच्या लरेटींत हात उचलणें पुष्कळच कमी केलें आहे हें निराळें; तर मोडी लिपी तयार करतांना बालबोधी अक्षर घेऊन तें कागदावरून लेखणीचें टोंक शक्यतोंवर कोठेंहि न उचलतां काढलें व अशा रीतीनें जीं अक्षरें बनलीं तीं मोडी लिपींतील मूळ अक्षरें होत. कालांतरानें लेखनसौकर्या-करितां अनेक सुधारणा होत गेल्या त्या मुख्य कोणत्या दिशेनें होत गेल्या हें पुढें देतों.

बालबोधी अक्षरांपैकीं पुष्कळ अक्षरांना कोपरे आहेत. तसेंच बाराखड्यांतील काना, मात्रा इत्यादि खुणा नीट, सरळ असतात. हे विशेष वळणदार काढा-वयाचे झाल्यास, लिहितांना हात सावकाश चालवावा लागतो; त्याशिवाय कोपरे साधावयाचे नाहींत. निराळ्या शब्दांत बोलावयाचें झालें तर असेंहि म्हणतां येईल कीं, लेखणी जर जलद चालावयास हवी असेल तर अक्षरांतील व बाराखड्यांतील कोनेकोपरे, सर्व वाटोळ्या आकारांचे झाले पाहिजेत. कोठेंहि एकदम तीव्र कोन (Sharp angle) करणारीं अक्षरें लिपींत असून चाला-वयाचीं नाहींत. उपलब्ध कागदांपैकीं त्यांतल्यात्यांत जुने मोडी कागद पाहिले असतां बालबोधी अक्षरांतील हे विशेष, कायम असल्यानें व तींच अक्षरें 'मोडीं'त जलद लिहिण्याचा प्रयत्न केल्यानें अक्षरांतील वेडेवांकडेपणा व

त्यांतील रेघांचें एकमेकांशीं नसलेलें संगनमत (Coordination) दृष्टोत्पत्तीस येतें. ह्या वेळीं मोडी लिपी स्थिर झाली नसून त्यांत सुधारणा होत होत्या. ती स्थिर होतांना वर सांगितलेला नियम मुख्यत्वेंकरून पाळला गेला आहे. म्हणून मोडी अक्षरें वाटोळया वळणाचीं तयार झालीं आहेत. सावकाश काढलेलें अक्षर चांगलें वळणदार येतें, हा बालबोधींतील सामान्य नियम या ठिकाणीं उलट करावा लागतो व मोडी अक्षर जसजसें जलद काढलें गेलें तसतसें तें जरी बालबोधीपासून दूर जात चाललें तरी अधिक सफाईदार व वळणदार बनत गेलें. सोबत जोडलेला तक्ता पाहिला म्हणजे ही गोष्ट स्पष्टः दिसून येईल. तेव्हां मोडी लिपी बनवणारास बालबोधी लिपींत मुख्य दोन दुरुस्त्या कराव्या लागल्या: (१) कागदावरून शक्य तोंवर लेखणीचें टोंक उचलावयाचें नाहीं, (२) लेखनांत ज्या ज्या ठिकाणीं कोनकोपरे आहेत ते सर्व बदलून लेखन वाटोळया वळणाचें करावयाचें. ह्या दोन गोष्टींकडे मुख्य लक्ष पुरविलें असतां जलद लिहितां येतें. पण लिपी तयार करतांना ह्या गोष्टींत उद्भवलेले बरेच किरकोळ नियम पाळावें लागतात. एक गोष्ट मात्र लक्षांत ठेवली पाहिजे ती ही कीं, मोडी लिपी बनवितांना व्याकरणाच्या कोणत्याहि नियमाकडे लेखकांनीं लक्ष दिलेलें नाहीं. त्यांनीं आपल्या डोळ्यापुढें शीघ्र लिपी शोधून काढण्याचें एकच ध्येय ठेविलें होतें. तेव्हां व्याकरणाची अडचण, ही मोडी बालबोधींतून निघाली नाहीं, असें म्हणणाऱ्यांना कधींच उपयोगी पडावयाची नाहीं. आतां मोडी लिपी तयार करतांना ज्या नियमानुसार वागावें लागले ते नियम देतों—

(अ) डोक्यावरील रेघेसंबंधीं—

(१) ओळ लिहिण्यास सुरुवात करण्यापूर्वीं डोक्यावरील रेघ सबंध काढून घेणें.

(आ) अक्षरासंबंधीं—

(१) प्रत्येक अक्षर होतां होईल तों कागदावरून लेखणीचें टोंक न उचलतां काढणें.

(२) प्रत्येक अक्षराची सुरुवात, तसेंच प्रत्येक अक्षराचा शेवट हा त्याच्या डोक्यावरील रेघेपाशीं नेऊन करणें.

(३) अक्षरांतील कोपरे मोडून सर्व अक्षरें वाटोळीं बनवणें.

(४) जोडाक्षर हें बहुधा बालबोधींत काढणें.

(इ) बाराखड्यांसंबंधीं—

(१) 'आ'कारांचा काना बहुतेक ठिकाणीं खालून वर काढलेला दिसतो.

(२) दीर्घ ' ई'कार हा एकच मोडी लिपींत कायम केला.

(३) 'इ'कारांत अगोदर वेलांटी व नंतर काना काढणें.

(४) ऱ्हस्व ' उ कार' हा एकच मोडी लिपींत कायम केला.

(५) बहुतेक मात्रा शब्द संपल्यावर देणें.

(६) अनुस्वार पुष्कळ ठिकाणीं गाळले आहेत.

(ई) वाक्यरचनेसंबंधीं—

(१) शब्द तोडून न लिहितां एकमेकांपासून दूर लिहिणें.

(२) विरामचिन्हें पूर्वीं नव्हतींच; तेव्हां तीं देत नसत हें उघड आहे.

७ मोडी लिपीचा विकास:— वर जे नियम दिले आहेत ते कालांतरानें कसकसे बनत गेले (किंवा त्या नियमानुसार वागणें हळुहळू कसें भाग पडलें) याविषयीं प्रत्येक नियम घेऊन व उदाहरणें देऊन दाखवितों. येथें हें एक लक्षांत ठेवलें पाहिजे कीं, विवेचनाच्या सोयीकरितां निरनिराळया बाजूंनीं झालेल्या सुधारणा एका विवक्षित क्रमानें खालीं लिहिल्या आहेत. एकापुढें एक लिहिलेल्या सुधारणा कालदृष्ट्या एकामागून एक झाल्या असें दर्शविण्याचा हेतु नाहीं. सबंध देशभर मोडी लिपी लिहावयास अनेक लेखक बसले असतां कोणाला, कोणती सुधारणा कोणत्या कालीं सुचली व ती अंमलांत केव्हां आणली गेली हें सांगतां येणें अशक्य आहे. इतकें मात्र खात्रीपूर्वक सांगतां येतें कीं, शके १६०० च्या सुमारास चिटणीशी व आणखी कांहीं वळणें मोडी लिपीचें स्थिर स्वरूप म्हणून कायम झालीं. त्याच्या अगोदर पुढें दिलेल्या बहुतेक सर्व सुधारणा घडून आल्या असाव्यात असें त्या शतकांतील कागद पाहिले असतां कोणाच्याहि लक्षांत येईल. शिवाय पुढें दिलेल्या सुधारणा कसकशा होत गेल्या हें नीट ध्यानांत आणिलें म्हणजे त्यापासून जुन्या मोडी अक्षरांचीं वळणें कशीं बदलत गेलीं हें ध्यानांत येईल.

(अ) ओळीची रेघ:— प्रथम अक्षराच्या डोक्यावर असणाऱ्या रेघेविषयीं विचार करूं. बालबोधीमध्यें प्रत्येक अक्षराच्या डोक्यावर ज्याच्या त्याच्या पुरती स्वतंत्र अशी रेघ आहे.

जुन्या बालबोधी लिहिण्यांत शब्द तोडून लिहीत नसत. अक्षरें फक्त एकापुढें एक काढावयाचीं; परंतु शब्द संपला हें ओळखण्याकरितां एकमेकामध्यें अंतर

ठेवीत नसत असें जुन्या बालबोधी लेखावरून दिसतें. तसेंच अक्षराच्या डोक्यावरील रेघेचा उगम तरी केव्हां झाला व प्रथम कोणच्या अक्षरांना डोक्यावर रेघा आल्या हें देखील शोधण्यासारखें आहे. असो. मोडीमध्यें सुरवातीस या डोक्यावरील रेघेनें बरेंच अडविलें असें दिसतें. आपल्या उद्देशाप्रमाणें निरर्थक फुकट जाणाऱ्या वेळाची बचत जर करावयाची असेल तर तुटक शब्द कसे काढावयाचे हा एक मोठा प्रश्नच होता. तुटक शब्द काढले म्हणजे हात उचलावा लागावयाचा व हात उचलला म्हणजे वेळ फुकट जातो. म्हणून लेखकांनीं पुढील युक्ति योजिली. ते पत्येक ओळींतील शब्दांच्या रेघा कागदावर ओळ लिहिण्यास आरंभ करण्यापूर्वींच काढून घेऊं लागले. व त्या सरळ रेषेंत येण्यासाठीं तुटक भागांच्या काढूं लागले; म्हणजे एका ओळींत साधारणपणें जर १०—१२ शब्द बसतील तर १०-१२ रेघांचे तुकडे त्यांनीं त्या ओळींत अगोदरच काढून ठेवावे व नंतर ओळींतील मजकूर त्या रेघेखालीं लिहावयास सुरुवात करावी. जुने कागद पाहिल्यास कोणासहि असें आढळून येईल कीं, कांहीं कागदांतून शब्दांच्या डोक्यावर असे रेघांचे तुकडे असून शब्दांच्या लांबीशीं ह्या तुकड्यांच्या लांबीचा मेळ मुळींच बसत नाहीं. रेघा शब्दांच्या मानानें कोठें कमी तर कोठें जास्त लांब झालेल्या आहेत. बरोबरच आहे. जितक्या लांबीची रेघ आहे तितक्याच लांबीचा शब्द तिच्याखालीं काढावयास येईल असें थोडेंच आहे. यावरून ओळींतील शब्दांच्या डोक्यावरील रेघा मजकूर लिहिण्यास सुरवात करण्यापूर्वींच काढून घेत असत हें स्पष्ट दिसतें. पण याहिपेक्षां मोठा आधार हा आहे कीं, कागदांतील शेवटच्या ओळींतील मजकुर अर्ध्या ओळींतच जरी संपला आहे तरीहि ह्या ओळींत डोक्यावरील तुटक रेघा शेवटपर्यंत ओढलेल्या असतात. तेव्हां या रेघा अगोदरच ओढून घेतल्या असल्या पाहिजेत. कांहीं कागद असे आहेत कीं मजकूर मोडी असून शब्दांच्या डोक्यावर स्वतंत्र मुळीं रेघच काढलेली नाहीं. शब्दांतील अक्षरांचे फाटे त्यांच्या डोक्यापर्यंत नेऊन त्यालाच जोडलेली अशी एक रेघ त्या अक्षराच्या डोक्यावर काढलेली आढळते. ह्या दोन्ही दुरुस्त्या मनास न पटणाऱ्या अशा होत्या. पहिलीमध्यें शब्दांच्या व त्यांच्या डोक्यावरील रेघेचा मेळ बसेना व दुसरीनें तर सामान्य वेळांपेक्षांहि अक्षर लिहिण्यास अधिक वेळ लागूं लागला म्हणून या दोन्ही फार दिवस टिकल्या नाहींत. त्यानंतर एका ओळींत इतके तुकडे काढण्याचें सोडून देऊन ३।४।५ तुकड्यांतच सबंध ओळ काढूं लागले. हा प्रकार पुष्कळ कागदांत प्रतीत होतो. डोक्यावरच्या रेघेची शेवटली सुधारणा म्हणजे प्रत्येक

ओळीची रेघ मजकूर लिहिण्यास सुरुवात करण्याच्या अगोदर काढून घेणें ही होय, सध्यां आपण अशा रीतीनें अगोदर रेघ काढून घेतों.

(आ) अक्षरासंबंधीं ——डोक्यावरच्या रेघेविषयीं लिहिल्यानंतर आतां अक्षराविषयीं लिहितों. लेखणीचें टोंक कागदावरून उचलून व्यर्थ काळ घालावावयाचा नाहीं हा मुख्य उद्देश लक्षांत ठेवून बालबोध अक्षर लिहिण्यांत काय काय फरक करावे लागतात तें पहा. प्रत्येक बालबोध अक्षर लिहिण्यास रेघेपासून किंवा रेघेजवळून सुरुवात होते. तसेंच तें (ल व ळ हीं अक्षरें धरलीं तरी) रेघेपासून दूर जाऊन संपतें. शिवाय बहुतेक बालबोध अक्षरें लिहितांना कागदावरून लेखणीचें टोंक दोनचारदां उचलावें लागतें. तेव्हां पहिली दुरुस्ती बालबोधी लिपींतील अक्षरें मोडी लिपींत आणतांना अशी करावी लागली कीं, बालबोध अक्षर घेऊन, त्याचे सर्व भाग शक्यतोंवर कागदावरून लेखणीचें टोंक न उचलतां एकमेकांस जोडून काढावयाचें. ह्या दुरुस्तीनें संबंध अक्षर हात न उचलतां काढतां आलें; पण पुढील अक्षर काढतांना हात उचलावा लागतो त्याची वाट काय ? तेव्हां त्याकरतां आणखी दुरुस्ती अमलांत आणावी लागली. दोन अक्षरें एकमेकांस जोडून काढावयाचीं असल्यास मागील अक्षर जेथें संपेल तेथेंच जर पुढील अक्षराची सुरुवात असेल तर तीं एकमेकांस जोडून काढणें शक्य आहे. तेव्हां प्रत्येक अक्षराची सुरुवात व शेवट एकाच ठरलेल्या व सोयीच्या ठिकाणीं नेऊन करणें आवश्यक होतें. तशांतून बालबोधी अक्षरांपैकीं बहुतेक अक्षरांची सुरुवात डोक्यावरील रेघेपाशीं होत असल्यामुळें डोक्यावरील रेघ हेंच अक्षरप्रारंभास व अक्षरसमाप्तीस सोयीचें असें ठिकाण होऊन बसलें. त्यामुळें मोडी लिपींतील प्रत्येक अक्षराची सुरुवात व शेवट डोक्यावरील रेघेपाशीं साहजीकच होऊं लागली. पण इतका फरक होऊन मोडी अक्षर पूर्णपणें तयार होण्यास शेंकडों वर्षांचा काल लागला आहे हें विसरतां कामा नये. १३ व्या शतकाच्या प्रारंभापासून १६ व्या शतकाच्या अंतापर्यंत जवळ जवळ ३५०।४०० वर्षें ह्या लिपींत हळूहळू सुधारणा घडून येत होत्या. शिवकालीन कागदावरून तयार केलेला तक्ता जो सोबत जोडला आहे त्यामध्यें दृग्गोचर होणारे फरक व अक्षरांचा विकास ह्या सुधारणा मोडी लिपींतील शेवटच्या आहेत हें लक्षांत ठेविलें पाहिजे. व या निबंधांत मोडी लिपीच्या उपपत्ति व विकासाविषयीं जें लिहिलें आहे तें प्रायः हे कागद पाहून त्यांतील सुधारणाबद्दल किंवा त्यापूर्वींच्या झालेल्या

सुधारणांविषयीं अनुमान बांधन लिहिलं आहे. याशिवाय बालबोधींतून मोडी-मध्यें येतांना जे कांहीं फरक निरनिराळ्या काळीं अक्षरांत झाले असावेत किंवा झालेले दिसतात ते फरक, कांहीं अक्षरें घेऊन त्यांचे बालबोधींतून मोडींत झालेलें संक्रमण पायऱ्यापायऱ्यांनीं जोडलेल्या तक्त्यांत दाखविले आहेत. आतां, कांहीं अक्षरें घेऊन त्यांच्या विकासाविषयीं लिहितों.

(१) ' अ ' हें अक्षर घ्या. बालबोध ' अ ' लिहितांना हात तीनदां उचलावा लागतो. मोडीमध्यें पहिल्या प्रथम ' अ ' मधील आडवी रेघ व उभी रेघ जोडून लिहूं लागले. म्हणजे आडवी रेघ खालीं उतरती काढून उभी रेघ ही तिला जोडून खालून वर अशी काढूं लागले. अशा रीतीनें ' अ 'चा शेवट रेघेपाशीं होऊं लागला. शके १४२९ मधील मोडी कागदांत काढलेला ' अ ' असाच काढलेला दिसतो. व त्यानंतर ह्या वेडयावांकडया अक्षराचा विकास होत जाऊन ' अ ' हा वाटोळ्या आकाराचा व सफाईदार बनत गेला. आडवी रेघ व उभी रेघ ह्यांच्यामध्यें जो कोन झाला होता तो मोडून त्याच्या जागीं वर्तुळाकृति रेषा आली. नंतर हा अर्धवर्तुळाकार ' अ ' मधील ' तीन ' ह्या आंकडयाच्या शेवटच्या टोंकास जोडून काढण्यांत आला व अगदीं शेवटीं तीनाची मधली गांठ जाऊन त्याच्या जागीं नुसती वाटीच काढण्यांत येऊं लागली. इतक्या अवधींत ' अ ' ची सुरुवात रेघेखालून जी होत होती ती जाऊन सुरुवात रेघेपासून होऊं लागली. व वाटीचा बराच भाग रेघेच्यावरून काढण्यांत येऊं लागला. हल्लींचा वळणदार ' अ ' हा इतक्या पायऱ्यांनीं झालेला आहे.

(२) आतां ख हें अक्षर घेतों. श्री. चांदोरकरांनीं मोडी व बालबोध ह्यांचा जन्य-जनक संबंध आहे असें म्हणणाऱ्यापैकीं कोणीहि बाळबोध व मोडी ' ख ' ह्यामधील जनकजन्य संबंध दाखवून द्यावा असें म्हटलें आहे. तेव्हां मी त्याची उपपत्ति दाखविण्याचा प्रयत्न करतों. हात न उचलतां बाल-बोध ' ख ' व 'स' हीं अक्षरें लिहिलीं म्हणजे त्यांचें स्वरूप बहुतेक सारखेंच दिसतें. त्यामुळें ' ख ' व ' स ' मध्यें लवकरच सुधारणा झाल्या असाव्यात. ' ख ' मधील र ची गांठ, मोडीकरण करतांना मोठी व पोकळ होत गेली. तशीच 'र' ची आकृती जी उभी आहे ती लिहिण्याच्या लपेटींत तिरपी व वरच्या रेघेस बहुतांशीं मिळालेली अशी होत गेली. नंतर ' ख ' मधील शेवटली जी उभी रेघ वरून खालीं काढून तशीच सोडून देत असत, तसें न करतां ' ख ' मधील ' व ' ची वाटी थोडी खालीं तिरपी करून, शेवटली उभी रेघ त्या वाटीच्या

तिरप्या रेघेसच जोडून, अशी खालून वर काढावयास लागले; त्यामुळें ' ख ' चें आजचें स्वरूप तयार झालें. इतक्या अवधींत ' र ' च्या गांठीवरची जी लहानशी रेघ होती तिचा लोप झाला; पोकळ आणि मोठी झालेली ' र ' ची गांठ रेघेच्यावर पूर्णपणें गेली व रेघेच्याखालीं दोन बांकदार वळणें फक्त शिल्लक राहिलीं. आपला हल्लींचा ' ख ' ही असाच आहे. ' ख ' ला हें रूप कधीं मिळालें तें मात्र नक्की सांगतां येत नाहीं. कारण जुन्या कागदांत सुद्धां ' ख ' चें जवळ जवळ असेंच रूप रूढ म्हणून लिहिलेलें दिसतें. ह्यावरून इतकें मात्र निश्चित होतें कीं, ' ख ' चा विकास बाकीच्या कित्येक अक्षरांपेक्षां पुष्कळच अगोदर झालेला आहे. ' खा ' मात्र आपण दोन पद्धतींनीं काढतों.' एक ह्या मोडी 'ख' पासून सामान्य नियमाप्रमाणें झालेला व एक काना जोडून तयार केलेला.

(३) ' ज ' ह्या अक्षराचेंहि असेंच आहे. आकृतीमध्यें दिलेला १२ व्या शतकांतील देवनागरी ' ज ' पहा, व तो काढण्यास डावीकडून सुरुवात करा. आपल्याला सबंध अक्षर हात न उचलतां काढावयाचें आहे. ' ज ' चा डावीकडील भाग काढून झाल्यानंतर उभी रेघ काढावयाची ती खालपर्यंत नेऊन नंतर पुन्हां वर आणून डोक्यावरील आडव्या रेघेस मिळवा म्हणजे मोडी ' ज ' तयार झाला. असें रूप पुष्कळ कागदांतून आढळण्यांत येतें. ह्यानंतरची शेवटली सुधारणा म्हटली म्हणजे डावीकडील वेटोळें काढण्यांत (पुढें येऊन पाठीमागें परत जाण्याचा) जो द्राविडी प्राणायाम करावा लागतो तो लिहिण्याच्या सोयीच्या दृष्टीनें व वेळ वाचविण्याच्या दृष्टीनें विघातक असल्यामुळें ता सोडून देऊन ' ज ' काढण्यांत येऊं लागला.

(४) पुढचें अक्षर ' ब ' हें निवडतों. १२ व्या शतकांतील शिलालेखांतील ' ब ' पहा. व त्यावरून हात न उचलतां मोडी ' ब ' काढण्याचा प्रयत्न करूं या. या ' ब ' मध्यें डावीकडील वाटी व त्यामधील आडवी रेघ अजून आलेली नाहीं. त्या ठिकाणीं साधारण सहाच्या आकृतीप्रमाणें असणारी आकृती आहे. ही सुधारणा बालबोधींतहि या कालानंतर झालेली दिसते. ' ब ' च्या आकृतींतील डावीकडील भाग काढून झाल्यानंतर लेखणी उजवीकडील रेघेला खालीं जोडून नंतर ती रेघ खालून वर काढण्यांत आली. त्याकरतां डावीकडील बाजू जी वर वक्र झाली होती ती बदलून खालीं तिरपी करून घ्यावी लागली. तसेंच डावीकडील भागांतील मधल्या आडव्या रेघेचा लोप होऊन तिच्या जागीं

कालांतरानें एक गांठ येऊन बसली. नंतर वळणदार अक्षर येण्याकरतां आणखी सफाई होऊन हल्लींचा ' ब ' कायम झाला.

(५) आतां ' ल ' हें अक्षर घेतों. बालबोधी ' ल ' हा हात न उचलतां काढा. म्हणजे तक्त्यामध्यें दिल्याप्रमाणें ' ल ' चें रूप तयार होईल. हें ' ल ' चें रूप पुष्कळ कागदांतून दृष्टीस पडतें. बालबोधी ळ सारखी जवळ जवळ ही आकृती आहे. तेव्हां मोडी कागदांतील ' ल ' व ' ळ ' हें कसें ओळखतां यावयाचें ? तव्हां मोडी ' ल ' हा असाच काढून मोडी ' ळ ' हा त् + ळ ह्यांचें मिळून जें जोडाक्षर होतें त्यानें दर्शवीत असत. आतां ' ळ ' ला हा ' त ' कार कोठून आला हें आजच निश्चितपणानें सांगतां यावयाचें नाहीं. तरी पण इतकें म्हणतों कीं, मोडी लिपी बसवणारास जेथें जेथें अशा अड-चणी आल्या व त्यामुळें घोटाळा होतो असें दिसून आलें, तेथें त्यानें जुन्या ब्राह्मी किंवा देवनागरीचा आश्रय घेतला असावा. पण तेवढयावरून मोडी लिपी ही बाळबोधींतून न निघतां जुन्या एकाद्या लिपीचें अपभ्रंश रूप आहे असें मात्र म्हणतां यावयाचें नाहीं. असो. ह्या सुरवातीच्या ' ल ' मध्यें पुढें फरक पडत गेले. उजवीकडील वर्तुळ वरच्या रेघेपासून खालीं येऊं लागलें. व त्याचा मोठा आकार जाऊन त्यास लहान पोकळ गाठीचा आकार येत चालला. डावीकडील अर्धवर्तुळाची एक बांकदार रेघ झाली व वरच्या आडव्या रेघेपासून तिची सुरुवात होऊं लागली. अशा रीतीनें हल्लींचा उभंट ' ल ' तयार झाला; व ' ळ ' चें पहिलें रूप नंतर कायम राहिलें.

(६) शेवटीं ' ज्ञ ' हें अक्षर घेतों. ह्याच्या पुढें सुचविलेल्या उपपत्ती-विषयीं मी थोडा साशंक आहें; तरी ती देतों. बालबोध ' ज्ञ ' चे दोन भाग आहेत अशी कल्पना करा. डावीकडे ' इ ' सारखा दिसणारा एक भाग व उजवीकडील आडवी रेघ व त्याला जोडून असलेली उभी रेघ हा एक भाग. आतां ' इ ' सारखा दिसणारा भाग ' द् ' सारखा देखील दिसतो, तसेंच उज-वीकडील भागाच्या आडव्या रेघेच्या टोंकाशीं एक गांठ कल्पिली म्हणजे तो भाग ' न ' सारखा दिसूं लागेल. ज्ञचा उच्चार देखील द्+न असा होतो. यावरून ' ज्ञ ' चें मोडीकरण करणारानें व्याकरणापेक्षां उच्चाराकडे अधिक लक्ष दिलें असें म्हणावें लागेल. मोडी लिपी ही व्याकरण शुद्ध बनविली आहे अशी कल्पना करणें वस्तुस्थितीचा विपर्यास होय. श्री. चांदोरकरानीं ' ज्ञ ' ची उपपत्ति व्याकरणनियमांस अनुसरून दाखविण्याचा प्रयत्न केला आहे. परंतु ज्ञ=

ज+ञ च्या ऐवजीं ज्ञ=ज+न असें ओढाताणीनें त्यांना मोडी 'ज्ञ' पुरतें धरावें लागलें आहे. हीं जीं उदाहरणादाखल अक्षरें घेतलीं होतीं त्यांचा विकास थोड्या विशिष्ट रीतीनें झालेला आहे. राहिलेल्या अक्षरांचें बालबोधीवरून मोडी स्वरूप कसें तयार झालें हें चटकन लक्षांत येतें, मात्र त्या त्या अक्षरांचीं हल्लींचीं जीं मोडी रूपें आहेत तीं जुन्या कागदांत आढळावयाचीं नाहींत.

(इ) बाराखड्यांसंबंधीं—आतां मोडींतील बाराखड्यांचे विशेष पाहूं.

(१) 'आ' कार—मोडी अक्षर तयार झालें म्हणजे शेवटली रेघ वरच्या आडव्या रेघेस जाऊन पोचण्याच्या अगोदर 'आ' काराचा काना काढण्याकरतां वळवून पुन्हां खालीं आणीत असत. जुन्या पत्रांतून पुष्कळ ठिकाणीं ही खालीं आलेली रेघ आपल्या नियमाप्रमाणें पुन्हां वर न नेतां तशीच सोडून दिलेली आहे. या बाबतींत 'बा,' 'ला,' 'वा,' 'हा' इत्यादि अक्षरें जुन्या कागदांत तपासून पहाण्यासारखीं आहेत. पण या गोष्टीची अडचण भासून 'आ' कारांतील काने पुन्हां वर रेघेस नेऊन मिळविण्यांत यावयास लागले. 'का', 'खा' वगैरे अक्षरांतील काने अशा पद्धतीनें काढलेले आढळतात. मात्र त्यामुळें असें झालें कीं, अक्षराची शेवटली रेघ जवळ जवळ रेघेपर्यंत नेऊन जी पोंचवीत असत ती कमी कमी होत गेली. व अक्षराच्या सर्वांत खालच्या टोंकापासून कान्याच्या खालच्या टोंकापर्यंत दोघांस जोडणारी अशी एक रेघ पूर्वीच्या रेघेच्या जागीं आली. ही रेघ कांहीं अक्षरांत बाकदार आहे तर कांहीं अक्षरांत अर्धवर्तुलाकृती आहे. ही सुधारणा जलद लिहिण्यामुळें घडून आली आहे. अशा आकृतीमुळें सध्यां 'आ' कारांतील काना खालून वर काढलेला दिसतो. वास्तविक तसें नसून ती रेघ काना काढून घेतल्यानंतर वर रेघेस अक्षर नेऊन पोंचविण्याकरतां काढलेली आहे.

(२) 'इ' कार—मोडी लिपी व्याकरणाच्या नियमावर बसविलेली नाहीं. हें 'इ'कारावरून स्पष्ट होतें. लिहिण्याच्या सौकर्याकरितां व वेळेची बचत करण्याकरितां ही लिपी तयार करणारास व्याकरणाचे नियम एका बाजूस गुंडाळून ठेवावे लागले आहेत. ऱ्हस्व 'इ' कारांत अक्षराच्या अगोदर काना काढावा लागतो. व तो काना मोडीकरणाच्या नियमान्वयें पुढील अक्षरास जोडावयास पाहिजे. तसा तो जोडला असतां (मध्यें वेलांटी घेऊन जोडला असता तरी) तर वाचनांत घोटाळे झाल्याशिवाय राहिले नसते. तसेंच जलद लिहिणें साधलें नसतें. म्हणून लिपी बसवणारानें 'इ' कार एकच व तो दीर्घ

'इ' कार पसंत केला. ब्राह्मी लिपीवरून मोडीची उपपत्ति लावणाऱ्यास हा एकच 'इ' कार अडविणारा आहे. शिवकालीन कागदांपैकीं अगदीं जुने कागद घेतले तर त्यांत कांहीं 'इ' कार ऱ्हस्व काढलेले आढळतील. त्यामध्यें, मोडी अक्षर मध्यें काढून त्याच्या दोन्हीं बाजूस दोन काने काढीत असत व वरे वेळांटी नंतर देत असत असें दिसतें. कांहीं असलें तरी ही अडचणीची पद्धत पुढें सोडून द्यावी लागली. बालबोधींतून मोडी लिपी तयार झाली असें दाखविण्यास यासारखें एकादेंच, ह्या दोन लिप्यांमधील दुवा असलेलें प्रमाण पुरें पडतें; असो. 'इ' कार काढतांना सुद्धां अक्षर संपल्याबरोबर अगोदर वेलांटी काढून घेऊन नंतर काना काढण्याची पद्धत स्वीकारली गेली. ह्या पद्धतीमुळें 'इ' कार काढण्यास वेळ फारच थोडा लागू लागला. शिवाय ऱ्हस्व, दीर्घ 'इ' कार मनांत निश्चित करतांना जो काल जातो तोहि या व्यवस्थेमुळें वांचला. शिवकालीन 'इ' कारांतील कानें बहुतेक सगळे खालीं सोडून दिलेले आढळतात. हल्लीं हे काने आपण पुन्हां वरच्या रेघेस नेऊन मिळवितों. 'इ' कारांपैकीं 'ली' हें अक्षर लक्षांत धरण्यासारखें आहे. व दिलेल्या तक्त्यावरून त्याचा विकास पाहिला म्हणजे हल्लींचें स्वरूप त्याला कसें आप्त झालें हें ध्यानांत येईल.

(३) 'उ' कार–'इ' काराप्रमाणेंच 'उ' काराची व्यवस्था झाली. मोडीमध्यें दीर्घ 'ऊ' कार काढावयास अडचणीचा असल्यामुळें ऱ्हस्व 'उ' कारच सगळीकडे पसंत केला. ब्राह्मीमध्यें दोन्ही 'उ' कार आहेत हें लक्षांत ठेवण्यासारखें आहे. बहुतेक सर्व जुने मोडी 'उकार' हे अक्षराच्या सर्वांत खालच्या टोंकाला 'उ' कार जोडून तयार केलेले आहेत. सध्यांचे बरेच 'उ' कार आपण मोडी अक्षर संपूर्ण काढून घेऊन व त्याच्या पुढें मोडी 'उ' काढून तयार करतों. हा भेद ध्यानांत धरण्यासारखा आहे. आतां उदाहरणाकरितां 'उ' कारांतील 'कु' हें अक्षर घेतों. ह्यामध्यें अगोदर 'क' ची डावी वाटी व खालचा 'उ' कार इतकें काढून घेऊं लागले. नंतर तो 'उ' कार तसाच डावीकडून वर नेऊन उजवीकडे खालीं आणला. मग त्याच रेघेस जोडून 'क' मधील उभी रेघ व उजवी वाटी काढूं लागलें व अक्षर पुन्हां रेघेस नेऊन मिळविण्यासाठीं मोडी 'क' प्रमाणेंच उजव्या वाटींतून एक रेघ काढून ती वरच्या रेघेस नेऊन मिळविली, अशा तऱ्हेनें 'कु' काढतांना मात्र उभी रेघ व उजवी वाटी हा भाग

डाव्या भागापासून तुटक झाला. तसेंच डाव्या वाटीची बाकदार रेघ सरळ झाली व ती मोडी 'क' प्रमाणेंच रेघेपासून काढूं लागले. जुन्या मोडींतील 'उ' कार हा अक्षराच्या सर्वांत खालच्या टोंकापासून सुरुवात करून, त्याच्या डाव्या बाजूनें वर डोक्यावर नेऊन वरचेवर असा रेघेस मिळवीत असत. जुन्या मोडी पत्रांतील खु, जु, तु, नु, पु, इत्यादि अक्षरें पाहिलीं असतां हें स्पष्ट दिसेल.

(४) **मात्रा—** मात्रा काढतांना सुरवातीस अक्षर संपल्याबरोबर तीच रेघ अक्षराच्या डोक्यावर मात्रेसारखी तिरपी नेऊन पुन्हां तशीच परत आणीत असत. दोन मात्रा काढावयाच्या असल्यास ती मात्रेची रेघ तशीच परत न आणता दुसरी मात्रा काढली असें दाखविण्याकरितां त्या रेघेच्या खालून परत आणून वरच्या रेघेस मिळवीत असत. हल्लीं आपण बहुतेक मात्रा शब्द संपल्या-नंतर देतो.

(५) **अनुस्वार—** मोडीच्या सुरुवातीस बालबोधींतील सर्व अनुस्वार देत असत असें जुन्या पत्रावरून स्पष्ट दिसतें; कारण त्यांच्यामधून अनुच्चारित अनुस्वारहि पुष्कळ ठिकाणीं दिलेले आढळतात. शिवकालानंतरच्या मोडी पत्रांत केवळ व्याकरणास लागणारे असें अनुच्चारित अनुस्वारच काय पण वाचनाकरता लागणारे उच्चारित अनुस्वार देखील पुष्कळ ठिकाणीं गाळले आहेत. अनुस्वार देण्याकरतां हात कागदावरून उचलावा लागतो त्यामुळें ते देण्या-चा कंटाळा लेखकांनीं साहजिकच केला आहे.

(६) वाक्यरचनेसंबंधीं ओळीची रेघ सबंध अगोदर काढून घेतल्यामुळें शब्द तुटक लिहितां येणें अशक्य होतें. तेव्हां शब्द एकमेकांपासून अंतरानें लिहूं लागले. ही सुधारणा घडून येण्यास बराच अवधि लागला आहे. कारण शिवकालीन कागदांत शब्द हे एकमेकांत मिसळून गेले आहेत. वाचनाच्या दृष्टीनें ही एक मोठी अडचणच आहे. विसर्गाची जरूरी मोडीमध्यें भासली नाहीं.

वर वर्णन केल्यावरून मोडी लिपीचा विकास कोणत्या पायऱ्यांनीं व कसा होत गेला हें लक्षांत येईल. पुढील विषयास सुरुवात करण्यापूर्वी श्री. चांदोर-करांनीं घेतलेल्या आक्षेपांपैकीं दोन आक्षेप तसेच राहिले आहेत. त्यांचा आतां विचार करतों. मोडीची अंतर्रचना ब्राह्मीच्या अंतर्रचनेशीं जुळते असें त्यांनीं दाखविण्याचा प्रयत्न केला आहे. तसें करतांना त्यांनीं बालबोध व मोडी

यांच्यामधील भेद व ब्राह्मी व मोडी यांच्या मधील साम्य दर्शविणारीं दोन उदाहरणें दिलीं आहेत. तीं अशीं:-(१) 'ऋ,ॠ,ऌ,ॡ' हे स्वर बालबोधीमध्यें असून अशोकलिपीमध्यें व मोडीमध्यें नाहींत. (२) ब्राह्मी व मोडीमध्यें व्यंजनान्त सस्वरत्व व अस्वरत्व असे फरक नसल्यामुळें, जोडाक्षरें, त्यांतील अक्षरें एकापुढें एक ठेवून काढावीं लागतात. या दोन्हीं आक्षेपांना एकच उत्तर आहे, तें असें. मोडीमध्यें अक्षराची सुरुवात रेघेपाशीं होते तसेंच तें रेघेपाशीं संपतें. असें केल्यानें मोडीमध्यें पुढच्या अक्षराला मागचें अक्षर जोडून काढतां येतें. जोडाक्षर काढतांना मागील अक्षर तोडावें लागतें. त्यामुळें हात उचलल्या-शिवाय जोडाक्षर काढतां येणें शक्य नाहीं. तेव्हां जोडाक्षर अक्षरें एका पुढें एक ठेवून तरी काढावें किंवा बालबोधींत तरी काढावें; कारण अक्षर एका पुढें एक काढल्यानें जोडाक्षराचा भास होत नाहीं. म्हणून मोडीमध्यें बहु-तेक जोडाक्षरें बालबोधीच काढतात. त्याचप्रमाणें ऋ, ॠ, ऌ व ॡ यांचा स्वतंत्र उपयोग मोडींत कांहीं नाहीं, म्हणून ते स्वर मोडी लिपींत नाहींत, व व्यंजनांत असलेल्या त्या स्वरांच्या खुणा जोडाक्षरासारख्याच दिसतात. त्यामुळें ह्या स्वरांनीं युक्त असलेलीं अक्षरें बालबोधींतच काढतात. ह्या एकंदर विवेचना-वरून मोडी लिपि बालबोधीवरूनच बनविलेली आहे असें वाचकांस पटण्यास कोणतीहि अडचण पडणार नाहीं.

८ **शिवकालीन कागद**—आतां आपल्यापुढें असलेला कागद शिवकालीन कीं शिवोत्तर कालीन आहे हें (जर त्या कागदांत काल दिलेला नसेल) तर ठोकळ मानानें कसें ओळखावें याविषयीं कांहीं अनुमानें देतों. यावरून प्रत्येक कागदाचा काल निश्चितपणें सांगतां येईल असें मात्र म्हणतां यावयाचें नाहीं. महाराष्ट्रांतील शिवकालीन व शिवोत्तरकालीन कागदांत मुख्यत्वें करून दोन कारणामुळें फरक पडतो. एक कारण म्हणजे काल व दुसरें कारण म्हणजे मुसलमानी राज्य जाऊन त्या जागीं स्वराज्याची स्थापना होणें हें होय. पुढें दिलेल्या कागद ओळखण्याच्या साधनांमध्यें ह्या दोन कारणांचा परिणाम कसा झाला हें निदर्शनास येईल.

(अ) **कागद**—फारच थोडे शिवकालीन कागद चांगल्या स्थितींत आहेत. सुमारें २५०--३०० वर्षांपूर्वी कागदाचें दुर्भिक्ष होतें व कागदाची कृतिहि परिणतावस्थेस पोहोंचली नव्हती. त्यामुळें बहुतेक शिवकालीन कागद आका-रानें लहान, जाड, ओबडधोबड, काळसर वर्णाचा व ज्याच्यांतून घसकटें

निघतात अशा तऱ्हेचा आहे. जों जों जुने कागद पहावें तों तों अशा तऱ्हेचे कागद जास्ती जास्ती आढळतात. आतां सर्व प्रकारचे कागद असेच होते, असें म्हणण्याचा हेतु नाहीं; कारण बादशाही फर्मानें वगैरे मोठ्या, पातळ आणि पांढऱ्या अगर निळसर कागदावर असलेलीं त्या कालींहि आढळतात. परंतु सरकारी गोष्ट वेगळी व सामान्य लोकांची गोष्ट वेगळी; सामान्य लोकांना इतका चांगला कागद बहुतेक मिळत नसे. गांवच्या पाटलाच्या मुशाहिऱ्यांत कागद ही एक बाब असे. शिवोत्तरकालीन कागद ह्या कागदापेक्षां पुष्कळच सुधारलेले आहेत. त्या वेळेला कागद करण्याची कृति हळुहळू परिणतावस्थेंत येत चालली असावी. शिवाय कालाचा पराक्रमही कागदावर दिसतोच; शिवकालीन कागद हे जास्त फाटलेले, किंवा किड्यांनीं खाल्लेले व जास्त काळे पडलेले आढळतात.

(आ) **फारशी मजकूर**—कागद हातांत धरल्याबरोबर वर फारसी मजकूर व खालीं मोडी मजकूर आहे असें जर दिसेल तर तो कागद बहुतेक शिवकालीन आहे असें समजावें. शिवोत्तरकालीन कागदांत वर फारसी मजकूर नाहीं. हें साधन स्वराज्यांतील कागद ओळखण्यासच मात्र उपयोगी पडेल. नगरच्या बाजूकडे म्हणजे निजामउलमुलुकाचें राज्य जिकडे होतें त्या प्रांतांत वर फारसी व खालीं मोडी हा प्रकार चालूं होता. स्वराज्यांतील कागदांत मात्र शिवकालापासूनच फक्त मोडी लिहावयाची सुधारणा घडून आली आहे.

(इ) **भाषा**— जुन्या शिवकालीन कागदाची भाषा म्हणजे मराठी, प्राकृत व फारसी यांचें मिश्रण झालेली अशी होती. जुन्यांत जुन्या कागदांतून शब्दांचीं 'उ' कारान्त प्राकृत रूपें पुष्कळ आढळतात. तसेंच त्या वेळच्या सनदा-खुर्दखतांमधून फारसी शब्द व फारसी तऱ्हेची वाक्यरचना यांचीहि अतोनात गर्दी आहे. हीं मोडी पत्रें म्हणजे फारसी पत्रांचीं भाषांतरें असत, त्यामुळें फारसीचा इतका पगडा मराठी मजकुरावर बसलेला आढळून येतो. कै. राजवाडे यांनीं ८ व्या खंडाच्या प्रस्तावनेंत फारसी भाषेचें जोखड मराठीच्या मानेस किती जड व घट्ट बसलें होतें याचें उत्कृष्ट विवेचन केलें आहे, तें वाचकानें मुद्दाम पहावें. शिवाजी महाराजानीं राजव्यवहारकोश तयार करवून राजकीय कामांत नेहमीं उपयोगी पडणाऱ्या फारसी शब्दांचा संस्कृतांत प्रतिशब्द शोधून काढून किंवा नवीन निर्माण करून हें फारसीचें जोखड फेकून देण्याचा जोराचा प्रयत्न केला व तो त्यांच्या कालीं जरी नाहीं तरी पेश-

त्यांच्या काळापर्यंत पुष्कळसा सिद्धीसहि गेला. मराठी भाषेंत कांहीं फारसी शब्द जरी पुढें शिल्लक राहिले तरी मराठीची वाक्यरचना जी फारसी पद्धतीनें पूर्वी होत असे ती बदलून मराठी पद्धतीवरच होऊं लागली.

(ई) **मोडी अक्षरः**—मोडी लिपी ही शके १६०० च्या सुमारास स्थिर लिपी म्हणून झाली. तोंपर्यंत निरनिराळ्या प्रांतांतील लेखक मोडी अक्षरें निरनिराळ्या पद्धतीनें काढीत असत. तसेंच कागदाच्या दुर्भिक्षतेमुळें शिवकालीन मोडी अक्षर लहान व किरटें असे व ओळीहि जवळजवळ काढीत असत. पुढें पेशवाईमध्यें कागदाच्या सुबत्तेमुळें अक्षर मोठें, शब्दामध्यें ऐसपैस जागा सोडलेली व ओळी लांब लांब काढलेल्या असत असें दृष्टोत्पत्तीस येतें. सोबत शिवकालीन मोडी अक्षरांचे जे नमुने दिले आहेत त्यावरून त्या काळांतील अक्षरें नीट ध्यानांत ठेविलीं म्हणजे शिवकालीन कागद कोणता हें समजणें सोपें जाईल.

हीं जीं चार ठोकळ साधनें दिलीं आहेत तीं सर्वच एकसमयावच्छेदेंकरून शिवकालीन कागदांत बहुशः आढळतात. तेव्हां कागद ओळखावयाचा असल्यास या चारी कसोटी लावून पाहिल्या पाहिजेत. म्हणजे ठोकळ मानानें कागदाचा काल निश्चित करतां येईल.

ज्या पत्रांत सुहूरसन दिलेला असतो त्यांचा काल सांगणें अर्थातच सोपें असतें. ‘ तिसा मया ’ हा शब्द असेल तर तो कागद ‘ शिवपूर्वकालीन; ’ ‘ अलफ ’ असल्यास शिवकालीन; ‘ मया व अलफ ’ असेल तर पेशवेकालीन आणि ‘ मया तैन व अलफ ’ असल्यास अवल इंग्रजींतला कागद आहे असें समजावें.

अ	क	ख	च	ज	न
१	२	३	४	५	६
७	८	९	१०	११	१२
१३	१४	१५	१६	१७	१८
१९	२०	२१	२२	२३	२४
२५	२६	२७	२८	२९	३०

ब	र	ल	व	स	ज्ञ
३१	३२	३३	३४	३५	३६
३७	३८	३९	४०	४१	४२
४३	४४	४५	४६	४७	४८
४९	५०	५१	५२	५३	५४
५५	५६	५७	५८	५९	६०

मराठ्यांच्या ९६ कुळींच्या दोन जुन्या याद्या

(ले०– चिंतामण विनायक वैद्य.)

शिवाजीमहाराजांच्या[1] पूर्वींच्या मराठ्यांच्या ९६ कुळांची यादी मिळावी अशी माझी फार इच्छा होती व आहे आणि त्याप्रमाणें मीं पुष्कळांस विनंतिहि केली; परंतु तशी निःसंशय यादी अद्याप मिळाली नाहीं. रा. पुरंदरे यांनीं दोन त्रुटित याद्या मला दिल्या आहेत. त्या त्यांस मराठ्यांच्या एका भाटाजवळ मिळाल्या असें ते म्हणतात. या याद्या शिवकालीन नसल्या तरी हल्लींची जी छापील यादी प्रसिद्ध आहे तिच्या पूर्वींच्या त्या निःसंशय आहेत. कारण शिंदे कुळ यांत दिलें असून त्याची गादी संकावती दिली आहे, ग्वालेर दिलेली नाहीं. अर्थात् ही यादी पेशवाईच्या स्थापनेपूर्वींची (स. १७४०) आहे हें निःसंशय आहे. प्रसिद्ध छापील यादींत शिंद्यांची गादी ग्वाल्हेर दिलेली असते. या दोन्ही यादींची तऱ्हा मात्र हल्लींच्या याद्यांसारखीच आहे. मुख्य कुळनाम देऊन त्याची माहिती वेद, गोत्र, गादी, निशाण, आणि देवक इतक्या विषयांसंबंधें सांगून उपकुळ्या म्हणजे अनेक दुसरीं मागाहून अस्तित्वांत आलेलीं नांवें घेतलेलीं कुळें दिलेलीं असतात. असो. यांत दिलेली सर्व माहिती ऐतिहासिक दृष्ट्या फार महत्वाची आहे. ती कशी हें मी थोड-क्यांत वाचकांपुढें मांडतों.

उत्तरेकडील रजपुतांच्या ३६ कुळींची यादी कनोजचें साम्राज्य इ. ११०० सुमारें स्थापित झालें त्यावेळेस तयार केली गेली हें मीं मध्ययुगीन भारत भा. ३ यांत विस्तारानें दाखविलें आहे. या यादींत दक्षिणेंतील मराठे कुळेंहि आहेत. पुढें इ. स. १३०० च्या सुमारें रजपूत व मराठे असा अभेद्य भेद कायम झाला. या सुमारास हिंदुस्थानांतील सर्वच वर्णांत असले भेद उत्पन्न झाले हें मीं सदर इतिहासांत दाखविलें आहे. गौड व द्रविड हा ब्राह्मणांत उत्तर–दक्षिण-भेद कायमचा पडून त्यांतहि पांच पांच उपभेद प्रांतापरत्वें कायम झाले व महाराष्ट्र ब्राह्मणांतहि आणखी पांच उपोपभेद उत्पन्न झाले हें प्रसिद्धच आहे. याच सामाजिक उत्क्षेपणानें मराठे रजपुतांहून निराळे पडून त्यांतहि ९६ कुळींचे मराठे व इतर मराठे असा भेद पडून त्या ९६ कुळांची यादी तयार केली गेली असें दिसतें. ही गोष्ट इ. स. १३०० पासून १४०० पर्यंत झाली असावी. उत्तरेकडील रजपुतांत देवक हें कुलनिगमन नाहीं. तें मराठ्यांत आहे. तें कसें उत्पन्न झालें हा एक मनोरंजक प्रश्न आहे. तो आपण सध्यां सोडून दुसऱ्या बाबींचा विचार करूं.

१ वंश—मराठ्यांत तीन वंश मानतात, सूर्य, चंद्र व शेष. रजपुतांतहि तीन मानतात, सूर्य, चन्द्र व अग्नि. मीं अन्यत्र दाखविल्याप्रमाणें मराठ्यांतील शेष व रजपुतांतील अग्नि हे वंश भ्रान्त कविकल्पनांनीं उत्पन्न झालेले आहेत. या कुळांतील लोक मूळचे सूर्य किंवा चन्द्र वंशाचेच आहेत हें त्यांच्याच

१ भा. इ. सं. मं. च्या १७ व्या संमेलनांत वाचलेला निबंध.

प्राचीन शिलालेखांवरून निर्विवाद सिद्ध आहे. याचा पुरावा या यादींतहि मिळतो. उदाहरणार्थ-सोळंखी कुळ म्हणजे रजपुतांतील चालुक्य, यांस हल्लीं रजपुतांत अग्निकुल समजतात. पण त्यांच्याच ११ व्या शतकाच्या लेखांत हे सोमवंशी आहेत असें स्पष्ट सांपडतें. या यादींतहि सोळंखी सोमवंशी दाखविले आहेत. तेव्हां या यादींतील माहिती पूर्वींच्या साधारण परंपरेची आहे, काल्पनिक नाहीं. त्याचप्रमाणें पवार व चव्हाण हे रजपुतांतील परमार व चाहमान असून रजपुतांत दोघांसहि भ्रान्त समजुतीनें अग्निवंशी मानतात. पण त्यांच्याच प्राचीन लेखांत हे सूर्यवंशी दिलेले आहेत. या याद्यांतहि हे दोन्ही सूर्यवंशीच मानले आहेत. मराठ्यांतील शिंदे हे प्रसिद्ध शेष-वंशी आहेत. पण हे सूर्यवंशी असावे हें मीं पूर्वींच्या एका लेखांत दाखविलें आहे. यांच्या चिन्हांत दोन सर्पांमध्यें सूर्य असून या नागावरून नागवंश ही कल्पना निघाली असावी.

२ गोत्र—प्राचीन निश्चित परंपरागत वंशाप्रमाणें गोत्र ही एक प्राचीन महत्वाची बाब आहे. रजपूत यादवांप्रमाणेंच मराठे जाधवांचें गोत्र अत्रि, सोळंखींचें भारद्वाज, पवारांचें वसिष्ठ, चव्हाणांचें वत्स व तवरांचें अत्रि असून हीं गोत्रें पूर्वकालीन शिलालेखांतूनहि आलेलीं आहेत; व तींच अद्याप कायम आहेत. कांहीं कुळांत गोत्र विसरल्यानें दुसरीं गोत्रें शिरलीं आहेत व कित्येकांनीं कुलनामच गोत्र-नाम मानिलें आहे. गायकवाड व शिंदे हीं रजपुतांत कुळें नसलीं तरी त्यांचीं गोत्रें गर्ग व कौंडिन्य पूर्वींपासून आहेत. भोसल्यांचें गोत्र कौशिक हें मात्र नवीन आहे. कारण ते शिसोदे आहेत असें या यादींतहि म्हटलें आहे. शिसोद्यांचें गोत्र बैजवाप आहे. भोसल्यांनीं महाराष्ट्रांत आल्यावर नवीन पुरोहित मानले तेव्हां गोत्र बदललें असावें. क्षत्रियांनीं पुरोहिताचें गोत्र घ्यावें ही भ्रान्त कल्पना विज्ञानेश्वरानें दक्षिणेंत चालू केली तिचा हा प्रभाव आहे.

३ गादी—गोत्रानंतर गादी हें महत्वाचें सदर या यादींतून असतें. हीं सर्व राजकुळें आहेत असा सर्वांचा पक्का समज दिसतो. तीं मूळचीं राज्यें कोठचीं हें या सदरांत दिलेलें असतें. अर्थात् यांत बराच इतिहास भरला आहे. जाधवांची गादी देवगिरी, भोसल्यांची चितोडगड (उदेपूर नव्हे), पवारांची धार, चव्हाणांची सांबर किंवा रणथंबोर, तंवरांची हस्तिनापूर, ह्या या याद्यांत दिलेल्या गाद्या ऐतिहासिक आहेत आणि हीं कुळें निःसंशय रजपुतांचीं असून त्या त्या ठिकाणांहून तीं आलीं असावीं. इतर कुळांच्या याद्या काल्पनिक दिसतात. कारण त्यांचा पत्ता लावणें कठिण दिसतें. इतर कुळें क्षत्रिय आहेत व तीं महाराष्ट्रांत फार प्राचीन काळीं आलेलीं असून त्यांचीं राज्यें इकडेच असावींत. पण त्या राज्यांचा विसर पडल्यानें या सदरांत पूर्वींचीं कांहीं तरी नांवें दिलीं असावींत, असा संशय येतो. शिंद्यांची गादी संकावती दिली आहे, ही कोठें आहे ? ग्वालेर किंवा भोगावती दिलेली नाहीं. यावरून ही यादी विश्वसनीयतेनें अधिक आहे आणि हें नगर बहुधा ऐतिहासिक असावें.

गादी देण्याचा हेतू वर सांगितल्याप्रमाणें हीं सर्व कुळें राज्य करणाऱ्यांची आहेत हें दाखविण्याचा असतो. क्षत्रियांत हा भेद उत्तर हिंदुस्थानांतहि झालेला आहे. रजपूत म्हणजे राजांचें प्रत्यक्ष राज्य करणाऱ्यांचें, संतान असा अर्थ असून त्यांचा वर्ग राज्य न करणाऱ्या क्षत्रियाहून भिन्न पडला. त्याचप्रमाणें महाराष्ट्रांत ९६ कुळींचे मराठे हे प्रत्यक्ष राज्य करणाऱ्यांचे निदान मांडलिकी राज्यें करणाऱ्यांचे वंशज आणि इतर सामान्य मराठे असा भेद पडलेला दिसतो. हे राज्य न करणारे मराठे सुद्धां क्षत्रिय असल्यानें आपल्यास राजे हें पद घेत असत असा इ. स. ४००इतक्या जुन्या शबर भाष्यांत लेख आहे तो मीं मध्ययुगीन भारत भाग १ यांत दिलेलाच आहे.

४ **निशाण:**— पांचवा रकाना निशाणाचा आहे तो राज्यवाचकच आहे. गादीबरोबर निशाण कोणत्या रंगाचें व चिन्हाचें आहें ही माहिती देणें अवश्य असतें. प्रत्येक राज्याचें व राष्ट्राचें निशाण निराळें असतें हें हल्लींच्या व पूर्वीच्या इतिहासावरून स्पष्ट आहे. निशाणावर एखाद्या पशुपक्ष्याचेंहि चिन्ह अधिक काढलेलें असतें. पण या यादींत सर्वत्र हें चिन्ह दिलेलें नाहीं. फक्त पवारांच्या लाल निशाणावर हनुमान, माने यांच्या निशाणावर गरुड आणि मोऱ्यांचा निशाणावर मोर असतो असें दिलें आहे. भोसल्याचें निशाण भगवें दिलें आहे यावरून ही यादी शिवाजी महाराजांच्या राज्याभिषेकानंतरची दिसते. कां भोसल्याचें निशाण पूर्वींपासूनच भगवें आहे? हा एक मनोरंजक ऐतिहासिक प्रश्न आहे. शिंद्यांचें निशाण भगवें नव्हतें असें वाटतें. चंद्रराव मोरे हे प्राचीन चंद्रगुप्तादि शूद्र मौर्य नाहींत असें या याद्यांवरून म्हणतां येतें. कारण त्यांच्या निशाणावरील मोरावरून ते मोरे म्हटले जात. अशीं नांवें कित्येक उत्पन्न झालेलीं आहेत.

५ **देवक**— आतां देवकाचा विचार करूं. लग्नाच्या वेळीं प्रत्येक कुळांत कांहीं विशिष्ट वस्तु देवांत ठेवून तिची पूजा करण्याची चाल मराठ्यांत आहे. आणि तिच्यावरून मराठे मूलतः Totem पूजणाऱ्या द्रविडांचे वंशज आहेत असें कित्येक युरोपीय पंडित म्हणतात. पण हा जानपदधर्म मराठे क्षत्रियांनीं महाराष्ट्रांत उचलला असें दिसतें. रा. आवटे यांच्याकडून मी एक पत्रक या याद्यांच्या व हल्लींच्या यादीच्या तुलनेचें तयार करविलें (त्यांनीं तें आनंदानें करून दिलें याबद्दल मी त्यांचा आभारी आहें) त्यावरून बऱ्याच कुळांत देवकें हल्लीं बदललीं असल्याचें दिसतें. उदाहरणार्थ या दोन्हीं यादींत भोसल्याचें देवक रुई (मान्दार) दिलें आहे. पण हल्लींच्या यादींत पंचपल्लव दिले आहेत. अर्थात् अशी बदल केव्हां व कां झाली हा प्रश्न आहे. देवकाचा उपयोग गोत्रासारखा विवाह ठरवितांना होतो असा नियम दिसतो. एकाच गोत्रांत जशी मुलगी द्यावयाची नाहीं असा स्मृत्युक्त नियम आहे तशीच एकाच देवकांत मुलगी देतां येणार नाहीं अशी रूढिगत समजूत आहे. पण वरीलप्रमाणें जर देवकें बदललीं असतलि

तर त्यांचा असा उपयोग करतां येणार नाहीं. कारण, एकाच देवकांत लग्नें होण्याचा संभव येईल. विवाहांत गोत्र-प्रवर--निर्बंध हल्लीं फक्त ब्राह्मणांतच पाळला जातो. असमानार्ष—गोत्रजां हें याज्ञवल्क्यवचन तिन्ही वर्णांस लागू आहे; पण गोत्राची परंपरा क्षत्रिय—वैश्यांत न राहिल्यानें कुलगणना त्यांच्यांत केली गेलेली दिसते ब्राह्मणांत सुद्धां नव्या उजेडानें गोत्रें दिसत नाहींशीं झालीं आहेत. तेव्हां मराठ्यांत देवकांचा निर्बंध सुटल्यास विशेष अडचण दिसत नाहीं. स्वतःच्या कुळांत मुलगी न द्यावी एवढाच नियम पुरें होईल.

६ **वेद**— शेवटीं सांगण्यासारखी आणखी एक बाब उरली. जसे ब्राह्मणांत ऋग्वेदी, यजुर्वेदी वगैरे भेद आहेत तसेच मराठ्यांतहि आहेत. उदाहरणार्थ, जाधव यांचा वेद सामवेद दिला असून भोसल्यांचाहि सामवेद दिला आहे. पवार, गायकवाड, चव्हाण वगैरेंचा ऋग्वेद दिला आहे. हे वेद गोत्राप्रमाणेंच मुळापासूनचे असावे असा माझा समज आहे. वस्तुतः सर्वांचे सर्वच वेद असून चारी वेद ब्राह्मण—क्षत्रिय-वैश्यांनीं पठण करावे असा प्राचीन नियम. पण चार वेद पठण करणें फार कठिण आणि भिन्न भिन्न श्रौत—गृह्य—सूत्रें निर्माण होऊन प्रतिवेद भिन्न विधि चालू झाले तेव्हां जसे ब्राह्मणांचे वेदभेद झाले तसेच क्षत्रियांचेहि वेदभेद झाले असले पाहिजेत. अल्बेरुनी, भोज, इत्यादिकांच्या काळापर्यंत क्षत्रिय प्रत्यक्ष वेदपठन करीत असत; निदान वैदिक विधि करीत असत तेव्हां प्रत्येक कुळानें आपल्या पठणाचा व विधींचा वेद ठरविला व त्याप्रमाणें शेकडों वर्षें परिपाठ चालू राहिला. या रीतीनें हा वेदभेद सांगितलेला काल्पनिक नसून परंपरागत आहे असें माझें मत आहे.

याप्रमाणें या दोन पुराण्या ९६ कुळींच्या याद्यांवरून जे विचार सुचतात ते मीं वाचकांपुढें मांडले आहेत. या याद्या पुरत्या सांपडल्या असत्या तर आणखी माहिती मिळाली असती म्हणजे आणखी कुळांसंबंधानें प्राचीन ऐतिहासिक माहिती आपल्यासमोर आली असती. यांत ९६ पैकीं १६ कुळांचेंच वर्णन सांपडलें आहे. एकाच कुळीच्या उपकुळी अनेक झाल्या असून त्यांचीं नांवें या यादींत दिलीं आहेत, तीं व अलिकडच्या यादींतील नांवें बहुधा एकच आहेत. तथापि अलीकडच्या यादींत कांहीं अधिक आहेत. ही यादी शिवपूर्वकालीन असती तर कोणतीं नांवें अलीकडे उत्पन्न झालीं हें ठरविण्यास साधन झालें असतें. उदाहरणार्थ, सिरसाट हें नांव पहिल्या यादींत भोसले कुळींचे उपकुळींत आहे. हें नांव फार जुनें असून भोसलें हें नांव अलीकडचें आहे, असा अंदाज अन्यत्र मीं प्रकट केला आहे. पण तो या यादीनें खरा ठरत नाहीं. ज्या त्या कुळीनें या संबंधाचे पुरावे जरूर शोधून पाहावे म्हणजे याचा जास्त खुलासा होईल. असो, शिवपूर्वकालीन ९६ कुळांची यादी जेव्हां मिळेल तेव्हां पूर्ण ऐतिहासिक प्रकाश या विषयावर पडेल. यासाठीं अशीं यादी मिळविण्याचा सर्वत्र प्रयत्न व्हावा अशी विनंति करून हा लेख पुरा करतों.

मरा—

चार याद्यांचें तुलनात्मक ९६ कुळींचें कोष्टक-

कुळीचें नांव	याद्या नं.	वंश	गोत्र	गादी	निशाण
१ जाधव	१	यादववंश वे. सामवेद	अनंतऋषि	गड देवगिरी (नगर कल्याण)	मावी
,,	२	सोमवंश	अनंतऋषि	गड देवगिरी	मावी
,,	३	सोमवंश	धामपाळ	देवगिरी	पिवळें
,,	४	सोमवंश	अनंतऋषि	देवगिरी	काळें
२ शिसोदे भोसले	१	सूर्यवंश वे. सा.	कौशिक	चितोड नगर गडमैनावत	भगवें
,,	२	सूर्यवश	कौशिक	चितोडगड	भगवें
,,	३	ब्रह्मवंश	दोरिक	मैनावती	भगवें
,,	४	ब्रह्मवश	दोरिक	मैनावती	भगवें
३ सोळुंकी	१	सोमवंश	भारद्वाज	महिकावती महकाळोगड	पिवळें ध्वजीं त्रिशूळ
साळुंखे	२	सूर्यवंश	भारद्वाज	महिकावती	पिवळें
,,	३	ब्रह्मवंश	चुलका	महिनगर	पिवळें
,,	४	,,	,,	,,	,,
४ पवार	१	सूर्यवंश वे. ऋग्वेद	अगस्ती	धारागिरी नगर	लाल ध्वजीं हनुमंत
,,	२	सूर्यवंश	वशिष्ट	धारागिरी नगर	लाल
,,	३	सोमवश	पवार	धारानगर	लाल
,,	४	,,	,,	,,	,,
५ चव्हाण	१	सूर्यवंश वे ऋ.	अभंग	संबरी-गड रणथंब	श्वेत
,,	२	सोमवंश	वत्स	रणथंबर	श्वेत
,,	३	सोमवंश	चव्हाण	अवंतीपुरी	श्वेत
,,	४	सूर्यवंश	आंबऋषि	गडमाहरण	श्वेत

ठ्यांच्या.

जुनी यादी १—मधील यादी २—हल्लींची यादी ३-४

देवक	उपकुळें
दसवंती सोमवंती	वीर, साठे, मोटे, परड, मुगुळ, माहरे, कानळ, होनमन, बीन्हारे, कीरदंत, आवारे, उचालकर, नामेकर, कामठे, बांगर, लाटे, तनपुर—१७
शंखपान	भानवसे, ताठे, सागर, चिन्ते, घाडगे, मायल, घाटे, आसु, सर्जे, माने, जानवे, कामरपंत, भालेराव, मद्ने, ढवळेकर, माानकर, बिल्हेकर, लोडकर, आभोरे, लांडगे, मोरकळ, जमदाडे, भणगे, बोडके, आढावे, चिखले, वैसावलकर, भानलस, इत्यादि.
उंबर	कांहीं वरील व इतर
उंबर	" " "
रुईमांदार कुल-स्वामी महादेव	गोवळी, सिरसाट, खांडेकर, शिरपडे, काठे, खरटे, बागुल, धुधाट, आढोले, खरहात, कलहाने, सिसोदे.
रुईमांदार	घाडगे, गवळी, साखरे, माडकर, फडतारे, जानवे, सेरकर, खराल, कल्हाण, भोईटे, भिताटे, इत्यादि.
पंचपल्लव	घोरपडे, थोरात, लोखंडे, कंक, इत्यादि.
पंचपल्लव	वरील कांहीं अधिक.
मांहि दसवंती	मगर, बाबर, पंडीत, हरदे, खांद, दौंड, रणधोरे, रणबावरे, रणपिसे, रणजोड, काळे, मुळे, धडलिंग, रणसिंगळे, महिडे, तुंबे, धुपे सोनवजी, पहारे, इत्यादि.
भारद्वाजाचा पंख	वरील व पुष्कळ अधिक.
कमळ	" " "
"	" " "
धार	वाग, वानखेडे, निंबाळकर, धाइराव, इंगळे, धुमरे, पाड, भर, कोरेकर, वाघचवरे, वाघमारे, तोडरमल, परमंड, गुगुळगोडे.
	हारने, वाघ, धुबडे, पिंगळे, ढोर, इत्यादि.
" धार	इतर
"	इतर
अश्व	मोहिले, वाकडे, पारदी, रणदिवे, दहिवे, वद्रुकइ, डुरे, गव्हाणे, ढवळे, तावडे, हंबीरराय, काशीद, भोर, तांबे, नाइके, मालसिंगे, दुसिंगे, ढेरे, मते, ठोंबरे, चोभे, भापकर, नवले, चोथे, चोहटमेल, कडु, अडसुळे.
आशापुरी	कांहीं इतर
वासुद्री वेल-हळद	" इतर
सोने, रुई, कळंबे.	
०	" इतर

कुळीचें नांव	वंश	गोत्र	गादी	निशाण
६ नळवाडे १	सूर्यवंश वे. ऋग्वेद	रोमरीष	प्रमोळ-रामखंड	हरा
,, २	सूर्यवंश	वशिष्ट	रामखंड	हिरवे
,, ३	ब्रह्मवंश	अनंग	प्रभालखंड	हिरवे
,, ४	ब्रह्मवंश	,,	,,	,,
७ जगतापराव १	सूर्यवंश वे. ऋ.	तंत्र	संकोचन-काशीखंड	लाल ध्वजीं थाप
,, २	सूर्यवंश	अत्रिऋषी	काशीखंड	पिंवळे
,, ३	सोमवंश	जगनाप	भरतपूर	ढवळे
,, ४	,,	,,	,,	,,
८ संकपाळ १	सूर्यवंश वे. ऋ.	मार्कंडे	संकावतीनगर	लाल ध्वजीं शंख
सकपाळ २		कौडन्यऋषी	संखावती	लाल
शंखपाळ ३		राठोड	मालखेड	लाल
,, ४	सोमवंश	,,	,,	,,
९ मोरे १	सूर्यवंश वे. ऋ.	अंबऋषी	कंच	लालध्वज मोर
,, २	,,	अंबऋषी	चित्रबेट नगर कछगड	लाल
,, ३	सोमवंश	मोरे	काश्मीर	हिरवे
,, ४	,,	,,	,,	,,
१० सूर्यवंशी १	सोमवंश वे. ऋ.	कंप	उदयाचळ-महिकवती	लालध्वजी सूर्य
,, २	सूर्यवंश	कर्ण	,,	लाल
,, ३	,,	,,	,,	,,
,, ४	सूर्यवंश	काळसुख	अयोध्या	तांबडें-श्वेत
११ सावत १	सोमवंश वे. सा.	डुसा	वायोगड-वानेरी	पिवळें
,, २	सोमवंश	आगस्ती	अणेश्वर सिंगणापूर	पिवळें
,, ३	ब्रह्मवंश	चुलकी	महिनगर	पिवळें
,, ४	ब्रह्मवंश	चुलकी	,,	,,

देवक	उपकुळें
निर्गुडी	राऊतराव, वधले, उगले, बंदसोडे, वडखेले, वजाळे, हजारे, राजगुडे, खैरे, खुमराने, माळवे, वाघोले, रायखंड, लहवडे.
निर्गुडी	बेळवडे, खिलारे, खैरे.
नागचांपा	नलगे, फारधे, दारवे.
"	
उंबर	शेळके, शेलार, बागले, मऱ्हाटराव, साबळे, डवले, कडलग, जगदळे, चापे, वाबळे, गागोळे, डेकुवर, ढमढेरे, खोमले, येवले, तागडे, वापडे, चौधरी, चिरखे.
उंबर	शेळके, शेलार, वगैरे.
उंबर	ढमढेरे, आवटे, काशिद.
"	"
शंख	पाटेकर, पाटोळे, जेठे, जुंझार, कळंब, दातार, गडगोपाळ, बोर, आरघडे,
"	
शंख	पाटोळे, जुंझारे, वगैरे.
शंख	कोकाटे, आंब्रे, साठे.
"	"
मोराचा पंख	पडवळ, देवकर, आचारे, सोनगिरे, जारेराय, शेजवळ, आगले, वाघाळ, हरवे, अहाचालकी, भोगे.
मोराचा पंख	जवळे, दुणगाव वगैरे.
मोराचा पंख	मखमाखले, दुदुस्कर, मोदमे.
तीनशें सात दिवें	"
सूर्यपान	गोरे, घाटगे, सूर्यवंशी.
सूर्यपान	गोरे, घाडगे.
"	"
पंचपल्लव	"
समिधा	रायजादे, कछवा, तेज, सुर, हुब, कन्तारे, कातवीर, बळसे, वंजारे, चील, महांबर, वज्र, पुपाळ, महाचीन.
शमी	ढेकणे, वगैरे.
कमळ	शेळार, वणजारे.
"	"

कुळीचें नांव	वंश	गोत्र	गादी	निशाण
१२गायकवाड१	सूर्यवंश वे. ऋ.	गर्गाचार्य	रेवागड–थटनगर	श्वेतलाल
,, २	सूर्यवंश	गर्गऋषी	रणथंब-रेवागड	श्वेतलाल
,, ३	सूर्यवंश	काळमुख	अयोध्या	तांबडें–श्वेत
,, ४	सूर्यवंश	,,	,,	,,
१३गरुडमाने१	सूर्यवंश वे. ऋ.	मुंजालक	निकलंकी नगर रेणागिरी	लाल ध्व. गरुड
,, २	सूर्यवंश	मुलऋषी	कालिकापूर रणगीर	लाल
,, ३	सूर्यवंश	चांदुले	मंदुसिर-द्वारका	लाल
,, ४	ब्रह्मवंश	,,	,,	,,
१४ तुंवर १	सोमवंशी	अत्री	हस्तनापूर गड मंदारावति	लाल हरा पिवळें तीवणी
, २	सोमवंशी	अत्री	हस्तनापूर	लाल, हिरवे पिवळें तीवणी
,, ३	सूर्यवंश	निकम	कर्नाटक	हिरवें
,, ४	,,	,,	,,	,,
१५ कदम १	सोमवंश	कपिलमुनी		
,, २	सोमवंश	कश्यप	खंदार	लाल
,, ३	सूर्यवंश	कदम	केदार	लाल
,, ४	,,	,,	,,	,,
१६ पोळ १	सूर्यवंश	कपिल	भिंगळनगर	लाल
१७ शिंदे २	शषवंश	कौंडिण्य	सलातन संकावती	लाल

शिंदीच्या झाडाखाली जन्मलेवरून.

रविराव—समुद्रमंथनांतील रविवरून.

देवक	उपकुळें
सूर्यतृण कु. खण्डेराम	वाळके, काकडे, खुरवे, मूळके, आहीर, रोकडे, खडागळे, खांडेकर, माळधन, भांडवलकर, गोहड, थोरहात, क्षीरसागर, फाटके, चऱ्हाड, म्हसके, झीने, खुळे, गायके.
सूर्यतृण पंचपल्लव	वाकडे, दिवटे, वगैरे काकडे.
" गरुडाचा पंख	ढगे, जोगदंड, वालेकर; मानेकर, देसमाने, राजमाते, एवळ, मात्रे.
गरुड	
गरुड वेल ग. पंख	
" जववेलु	निकम, गजमाल, अभोदे, अधवने, कुंभकर्णे, कटरमाल, जवनिक कांटकर, रणखांब, तावरे, चीनगे; चावंडे, कुंभ, पियलेहोंडे.
जवबळ	खलाटे, निकम, शिरके, जगताप वगैरे.
उंबर	
"	धुले, भिसे, भोग, तोटक, महिपाळ, आवताडे, गाताड, डेवरे, फांपाळे, वानखरे, खराड, मुर्कुटे, सेटगे, कोकाटे, राजगुरु, दर्दल, गोराडे, गारोळे, दहिकर, कातकाढे, भोपे, नुसपुते, माहाले, संत, सिंकेकर, टाकळकर, डांगे, डाके, कोरडे.
कळंब	बोराटे, बोबड, कुन्हाड, सातगुते, कोकाटे, वगैरे.
साने ! हळद, केतन कळंब	आंगणे, धुमाळ.
" पांगारा	दातार, मल्हारे, पाचपुते, पांचमोरे,
मर्यादा वेल	कुऱ्हाडे, मुंगले, खोकडे.

१ कुर्बाशिंदा, २ जय, ३ विजय, ४ शशुपाळ, ५ महाकाळ, ६ नेकुळ, ७ सकत्पाळ, ८ दुर्दया, ९ शितज्या, १० जिलक्या, ११ राम, १२ भैरव.

१ नागवे, २ नागटिळक, ३ लोंढे, ४ लोमटे, ५ भोजने, ६ गारोळ, ७ देव, ८ राये, ९ ढेकणे, १० फनिंद्र, ११ आपटे, १२ पगडे, ही बाराबाळके-शेषवंशी.

मराठे आणि रजपूत.

(ले.– चिंतामण विनायक वैद्य.)

मराठे आणि रजपूत दोन्ही आर्यवंशीय क्षत्रिय असून त्यांच्यांत भेद कसा व केव्हां पडला हें मीं कित्येक निबंधांत आणि मध्ययुगीन भारत १।२।३ यांत विस्तारानें दाखविलें आहे. त्याचाच सारांश या लेखांत मी देत आहें.

महाराष्ट्रांत आर्यांनीं वसति पाणिनीनंतर आणि कात्यायनापूर्वी म्हणजे इ. स. पू. ८०० नंतर आणि इ. स. पू. ३०० च्या अगोदर केली. बुद्धाच्या काळीं इ. स. पू. ५०० च्या सुमारें महाराष्ट्रांत आर्यांची वसति झाली होती. हे आर्य मुख्यत: चंद्रवंशी होते. हरिवंशांत ययातीच्या नागकुलोत्पन्न यादवांनीं महाराष्ट्रांत तीन राज्यें करवीराच्याहि दक्षिणेस वनवासीपर्यंत स्थापिलीं असें वर्णन आहे. तेव्हां हे आर्य द्रविडवंशमिश्रित प्रारंभापासून आहेत. चेहरेपट्टीवरून वंशानिर्णयाचें जें शास्त्र अलीकडे प्रचलित झालें आहे त्यावरून हा वंशभेद स्पष्ट दिसतो. सर हर्बर्ट रिस्ले यांच्या १९०१ च्या सेन्सस रिपोर्टांत मराठे (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य,) रुंद डोक्याचे आणि मध्यम नाकाचे आहेत; असें डोकें व नाक यांचीं प्रमाणें घेऊन सिद्ध केलें आहे व तें सामान्य दृष्टीलाहि दिसतें. आर्यक्षत्रिय. रजपूत हे लांब डोक्याचे आणि उंच नाकाचे आहेत. यावरून ते शुद्ध आर्यवंशी अजून आहेत असें सिद्ध होतें. रिस्लेनें मराठ्यांना आर्यो–सिथियन म्हटलें तें मात्र चुकीचें आहे, हें अन्यत्र विस्तारानें दाखविलें आहे. सिथियन म्हणजे मोंगोलियन वंशाचें मिश्रण असतें तर नाक बुडाशीं चपटें दिसलें असतें. पण मराठ्यांत तसें दिसत नाहीं. शिवाजी महाराजांचा चेहरा व नाक रजपुतासारखा लांब डोक्याचा आणि उंच नाकाचा आहे हें लक्षांत ठेविलें पाहिजे. परंतु सामान्य इतर मराठे ब्राह्मण क्षत्रियांचा चेहरा जपान्यासारखा चपट्या नाकाचा कधींच दिसत नाहीं. अर्थात् मराठ्यांत सिथियन वंशाचें मिश्रण नसून द्रविडवंशाचें मिश्रण आहे हें हरिवंशांतलि कथेच्या आधारेंहि मराठ्यांत आहे, म्हणजे ते आर्योद्रविडियन आहेत असेंच ठरतें.

या प्रथम आलेल्या नागकन्योत्पन्न चंद्रवंशी आर्यांना रट्ट ही संज्ञा होती. हा शब्द राष्ट्रावरून निघालेला आहे. अशोकाच्या शिलालेखांत पैठणच्या रट्टाचा उल्लेख येतो. यांना आंध्रभृत्यांनीं जिंकून येथें राज्य स्थापिलें, हे शूद्र होते. यांच्या शिलालेखांत खतियकुळ-दृप्प-दमनस जो उल्लेख येतो तो महाराष्ट्रांतील

मराठे क्षत्रियानांच उद्देशून आहे. रजपुतान्यांतील रजपूत लोकांना उद्देशून नाहीं. कित्येकांचा हा समज चुकीचा आहे. कारण आन्ध्रभृत्य रजपुतान्यांत चाल करून गेल्याचा दाखला नाहीं. शूद्र सातवाहनांनीं क्षत्रिय रट्टांना जिंकून येथें राज्य स्थापिलें हें या विशेषणांत गर्भित आहे. आंध्रभृत्यांचें राज्य इ. स. पू. पहिल्या शतकापासून इ. स. ३ शतकांपर्यंत होतें.

मराठे क्षत्रियांनीं आपलें राज्य पुन्हां स्थापन केलें, त्यांत त्रैकूटक हैह्य प्रमुख होते. याच राष्ट्रकूटांना (राष्ट्रांतील प्रमुखानां जिंकून) चालुक्यांनीं आपली सत्ता स्थापन केली. हे चालुक्य अयोध्येकडील क्षत्रिय मानव्य गोत्री होते असें त्यांच्या शिलाताम्रलेखांवरून दिसतें. उत्तरेकडील क्षत्रिय दक्षिणेंत वेळोवेळीं येऊन राज्य स्थापन करीत, असें इतिहासावरून दिसून येईल. दक्षिणेंतील अस्सल मूळचे मराठे आणि उत्तरेकडून येणारे हे रजपूत यांचे शरीरसंबंध होऊन त्यांचें नेहमीं एकीकरण होऊन जाई. हे क्षत्रिय भिन्न आहेत असा समज इ. स. १२०० पर्यंत प्रचलित नव्हता. किंबहुना दक्षिणेंतील मराठे राजांच्या मुली रजपूत घराण्यांत जात व तिकडच्या मुली इकडच्या राजघराण्यांत येत.

या चालुक्यांना जिंकून राष्ट्रकूटांनीं पुन्हा आपलें राज्य स्थापिलें. हे मालखेडचे राष्ट्रकूट फारच शक्तिमान होऊन त्यांनीं उत्तरेस स्वाऱ्या करून कनोजहि जिंकलें. यांच्यानंतर पुन्हां चालुक्य घराणें उत्कर्ष पावून कल्याणचें उत्तर चालुक्य राजघराणें दोनशें वर्षें सुमारें एकंदर महाराष्ट्रावर राज्य करीत होतें. त्यानंतर कित्येक वर्षें हैहयाचें राज्य होऊन शेवटीं देवगिरीचे यादव यांनीं महाराष्ट्रावर राज्य केलें. यानंतर इ. स. १३०० चे सुमारें महाराष्ट्रांत मुसलमानी राज्य झालें. या पांचशेंपासून तेराशें पर्यंतच्या आठशें वर्षांत चालुक्य, राष्ट्रकूट, हैहय, शिलाहार, कदंब, यादव इत्यादि राजकुलांत रजपुतांच्या कन्या आल्या व इकडील कन्या रजपुतांनीं केल्या असा दाखला मध्ययुगीन इतिहासांत मिळतो. शेवटचा महत्त्वाचा पुरावा म्हणजे अनहिल-वाडचा चालुक्य पराक्रमी राजा कर्ण याची राणी मैनल्लादेवी ही गोव्याच्या कदंबाची कन्या होती. तसेंच बाळ मूळराज याची आई नायकीदेवी ही एका कदंब राजाची कन्या होती. तिनें शहाबुद्दीन घोरीचा एका लढाईत स्वतः हजर राहून पराभव केला. (यस्यानुभावादबालापि संख्ये हम्मीरराजं तरसा जिगाय) "ही राणी कर्नाटक कदंब वंशाची होती याबद्दल दक्षिणात्य मराठ्यांस अभिमान वाटणें साहजिक आहे." (म. भा. ३ पृ. ३१५)

मराठे राजवंश आणि रजपूत राजवंश यांत विवाहसंबंध याप्रमाणें होत, पण सामान्य जनतेंत होत नसावे. कारण दूरदेशीं कन्या देणें त्यावेळीं शक्य नव्हतें. राजघराण्यांतील संबंध १२०० चे सुमारास निषिद्ध मानूं लागले याचें कारण

इ. स. ११०० नंतर हळूहळू हिंदूंच्या सर्वच वर्णात पोटजाति उत्पन्न झाल्या. ब्राह्मणांत जस याच सुमारास उत्तर आणि दक्षिण यांच्यांत पंचगौड व पंचद्रविड असे भेद झाले त्याचप्रमाणें क्षत्रियांतहि रजपूत आणि मराठे व इतर क्षत्रिय असे तीन भेद अथवा उपजाति पडल्या (मध्य भा. ३ पृ. ५६६) यांचीं कारणें मुख्यतः चालीरीतीचा भेद तर खराच, पण उच्च कुळीची कल्पना या वेळीं फार जोरांत आली आणि जो तो दूरच्या कुळांस हीन समजूं लागला. उत्तरेचे ब्राह्मणांस दक्षिणचे ब्राह्मण हीन समजूं लागले. मांसाहारामुळें आणि वेदविहिनतेमुळें तर उत्तरेचे दक्षिणच्या ब्राम्हणांस कांदे खाणारे आणि मामेबहिणीशीं लग्न करणारे म्हणून हीन मानूं लागले. हीच गोष्ट रजपूत व मराठे यांची झाली. गुजराथच्या देवलदेवीची कन्या देवगिरीच्या यादवास हीनत्वामुळें देण्यास नकार झाला असा दाखला एका मुसलमानी इतिहासांत यावेळीं स्पष्ट मिळतो. तात्पर्य इ. स. १३०० पासून तर राजकुळांतील शरीरसंबंध मराठे व रजपूत यांच्यांत हि बंद पडले.

उत्तरेकडील क्षत्रियांत रजपूत आणि इतर क्षत्रिय असाहि पोटभेद झाला. यावेळीं प्रत्येक पोटजातीनें आपआपलीं कुळें परिगणित केलीं असें दिसतें. त्याप्रमाणें रजपुतांनीं आपलीं ३६ कुळें इ. स. ११०० सुमारें निश्चित केलीं. या ३६ कुळांचा उल्लेख प्रथम राजतरंगिणींत सांपडतो. (इ. स. ११५४). याच न्यायानें यानंतर मराठ्यांनींहीं आपलीं ९६ कुळें परिगणित केलीं. ९६ कुळांचे मराठ आणि इतर मराठे निराळे असा महाराष्ट्रांतहि भेद पडला. ९६ कुळींची अत्यंत जुनी यादी मिळण्याचा मीं प्रयत्न केला पण शिवपूर्वकालीन यादी अद्याप मिळाली नाहीं. उत्तरेकडोन दक्षिणेंत कांहीं रजपूत कुळें मुसलमानी आमदानींत येऊन मराठ्यांत सामील झालीं आहेत. भोसले हे शेवटचे असावे. निंबाळकर पूर्वीचे असावे. पवारांचें कुळ दक्षिणेंत केव्हां आलें याचा इतिहास अद्याप देवासकर महाराजांस निश्चित लागला नाहीं असें दिसतें. यादव, रटकुटे, चाळके हे तर फार प्राचीन, पण महाराष्ट्रांतील चालुक्य आणि उत्तरेकडील गुजरातचे चालुक्य भिन्न होत. पहिल्याचें गोत्र मानव्य व दुसऱ्याचें भारद्वाज आहे. कऱ्हाडचे डुबल हे भारद्वाजी चालुक्य आहेत. राष्ट्रकूट अथवा राठोड हे दक्षिणच्या राठोडाहून भिन्न आहेत. जोधपूरचे राठोड हे सूर्यवंशी असून गौतम गोत्री आहेत. दक्षिणचे राठोड हे चंद्रवंशी असून अत्रिगोत्री असावेत. जोधपूरचे राठोड हे कनोजच्या गाहडवालांचे वंशज असून हे मूळचे दक्षिणेचे मराठे आहेत याबद्दल मीं अन्यत्र प्रतिपादन केलें आहे. त्याचप्रमाणें बंगालचे सेन हेहि दक्षिणचे म्हणजे कर्नाटकचे क्षत्रिय आहेत, असे त्यांच्या लेखांत स्पष्ट म्हटलें आहे. तात्पर्य, इ. स. १३२० पूर्वीं मराठे व रजपूत यांच्यांत भेदभाव नव्हता आणि दक्षिणेंतील कुळेंहि (राठोड व सेन) उत्तरेकडे जाऊन रजपुतांत मान्य व परिगणित झालीं आहेत.

शिवकालीन राजपत्रांची लेखनपद्धति

(ले०—ग. ह. खरे, वाई.)

पत्रव्यवहार दोन प्रकारचा असतो, एक खाजगी व दुसरा सरकारी. सरकारी पत्रांतहि दोन भाग पडतात. एक वतनी व २ रा राजकारणी. शिवकालांत दक्षिणेंत ४ शाह्या झाल्या. १ ली निजामशाही २ री आदिलशाही ३ री मोगलशाही व ४ थी शिवशाही. एकाच रियासतींतील कागदांत पुन्हां ३ भेद पडतात. खास बादशहाकडून सुटलेल्या हुकुमांना फर्मानें म्हणत असत. दुय्यम प्रतीच्या अधिकाऱ्यांनीं म्हणजे प्रधान, सुभेदार वगैरेंनीं दिलेल्या पत्रांना खुर्दखतें म्हणत असत. तिसऱ्या प्रतीच्या म्हणजे हवालदार वगैरेंनीं लिहिलेल्या पत्रांना हुजत किंवा मिसेली म्हणत. निजामशाही कागदांत पहिल्या व तिसऱ्या प्रकारचे कागद तसेंच मोगली कागद फारच कमी प्रमाणांत सांपडले आहेत. त्यांचे मानानें विजापुरी व शिवशाही कागद पुष्कळ सांपडले आहेत. या कागदांविषयीं माहिती द्यावयाची म्हणजे कागद, शिक्के, फारशी मजकूर, मराठी मजकूर, तारखा, शेरे यांची माहिती द्यावयाची. पण ही माहिती देतांना एक अडचण अशी कीं, पहिल्या प्रकारच्या म्हणजे फर्मानांवरील शिक्के साधारण स्पष्ट असले तरी दुसऱ्या व तिसऱ्या प्रकारच्या पत्रांवरील शिक्के अगदीं अस्पष्ट आहेत. शिवाय मुसलमानी रियासतींतील शिक्के बहुधा फारशी असत. हे फारशी शिक्के व फारसी मजकूर छापलेले आढळांत नाहींत. यामुळें त्यांचेविषयीं फारशी माहिती सांगतां येणार नाहीं. दुसरी अडचण अशी कीं मूळ कागदांच्या विषयीं माहिती द्यावयाची म्हणजे बाह्यांग वर्णनाकरितां मूळ कागदच हाताशीं असले पाहिजेत व अंतरंगाविषयीं लिहावयाचें म्हणजे यथातथ्य छापलेला पत्रव्यवहार मिळाला पाहिजे. या दृष्टीनें पारसनिसांनीं छापून काढलेल्या कोणत्याहि पुस्तकाचा उपयोग करतां आला नाहीं व बरींचशीं साधनें व्यर्थ ठरलीं. तरी पण जमवितां आली ती माहिती थोडक्यांत पुढें दिली आहे. पत्रांच्या तारखा निश्चित करणें हा स्वतंत्रच भाग असल्यामुळें त्याचें विवरण निराळ्या अधिकरणांत केलें आहे. पुढें सांगितलेल्या गोष्टी निरपवाद सिद्धांतवत् मानण्याचें कारण नाहीं. जास्त व सूक्ष्म संशोधनानें निश्चित व अधिक माहिती मिळण्याचा संभव आहे. सर्वसामान्य वर्णनाचे आधार

दिलेले नाहींत. पण प्रत्येक विशेषाला आधार दाखविला आहे. खाजगी पत्रव्यवहार विविध व अफाट असल्यानें त्यांचा अभ्यास करून माहिती देणें कालावधीचें आहे; म्हणून येथें फक्त राजकीय पत्रव्यवहाराविषयीं माहिती दिली आहे.

निजामशाही पद्धत—निजामशाही फर्मानांचा कागद धूसर पिवळ्या रंगाचा आणि आदिलशाही कागदाचे मानानें लहान आकाराचा व हलक्या प्रतीचा असतो. या कागदास ४ घड्या पाडलेल्या असून उजव्या बाजूची पहिली घडी समास म्हणून मोकळी सोडलेली असते. तसेंच आरंभींचा ⅓ भाग मोकळा सोडून नंतर कोणतेंहि शीर्षक न घालतां एकदम बादशहाचा लहान (१॥ ×॥॥ इंच) शिक्का उठविलेला असतो. शिक्याखालीं 'अज दीवान रख्तखाने खास' किंवा 'अजरख्त-खांने खास' या शब्दसमूहानें फर्मानांतलि फारशी मजकुरास आरंभ झालेला असतो. नंतर ज्यांना फर्मान पाठविलें त्यांचा निर्देश 'बजानिब' (प्रति) शब्द घालून करतात. बदलणाऱ्या अधिकाऱ्यांपुढें 'हाल व इस्तकबाल' (वर्तमान व भावी) हे शब्द असतात. नंतर अधिकाऱ्यांचा अधिकार-प्रदेश सांगितलेला असतो. त्यापुढें 'जाणावें' या अर्थी (अस्तु वः संविदितम्) 'बिदानद' शब्द घालतात. यापुढें अरबी शब्दांत सुहूर सन सांगितलेला असतो. नंतर इनामी सनदांतून ज्याला इनाम दिलें आहे किंवा चालू ठेविलें आहे त्याचें म्हणणें 'मालूम नमूद' म्हणून सांगितलेलें असतें. बादशहाबद्दल 'दरबंदगीए हजरत' (स्वामीचे सेवेसी) असे शब्द नेहमीं वापरलेले असतात. नंतर बादशहानें दिलेल्या आज्ञेचा मजकूर सुरू होतो. निजामशाहींत दिवाणांचें (मलिकंबर वगैरे) प्रस्थ माजल्यानंतरच्या फर्मा-नांतून 'बरहुकमे इशारते दिवान आला' (दिवाणांच्या सूचनेप्रमाणें) असें म्हणून बादशाही आज्ञेच्या मजकुरास सुरुवात झालेली असते. तसेंच अशा हुकमावर शेवटीं किंवा मध्येंच 'बरजाए रोके माल्कित मदारी मलिकंबर यकं-दर इनामदारान्' (मलिकंबरनें पाठविलेल्या रोख्यानुसार) असा शेरा असतो. फर्मानाचा उल्लेख करावयाचा असल्यास 'हुजत,' 'फर्मान बासिके खास' वगैरे शब्द योजलेले असतात. जमीन इनाम देतांना त्या जमीनीची मशागत कर-णारा (प्रजा) कोण हेंहि बहुधा फर्मानांत सांगतात. वतनी फर्मानांच्या शेवटीं 'दर हर साल उज्र दर फर्मान न कुनंद' (हर साल फर्मानाचा उजूर न करणें) 'तालीक गिरफ्ता असल बाज दहंद' (तालीक घेऊन असल फिरावून देणें) वगैरे वाक्यें असतात. राजकारणी पत्रांत असलीं वाक्यें नसतात. सुहूर

सन लिहिल्यावर हुकमाचें कारण व त्यावर दिलेला हुकूम सांगून एकदम फर्मान संपविलेलें असतें. कौलांतून ' दरीं बाब कौल असे ' असा मजकूर असतो, फारशी मजकुराच्या खालीं व शेवटच्या १।२ ओळींच्या उजव्या अंगास शिक्के (प्रधानांचे) असतात. नंतर डाव्या किंवा उजव्या अंगास समास न सोडतां मराठी मजकूर लिहिलेला असतो. हा मजकूर म्हणजे फारशी मजकुराचें भाषांतर असतें. मुख्य मजकूर संपल्यावर इनामाचा निराळ्या हस्ताक्षरानें पुन्हां अगदीं थोडक्यांत उल्लेख करितात. नंतर ' मोर्तब सुद ' चा फारशी शिक्का उठवून त्याच ओळींत 'मोर्तब सुदु' लिहितात. (मोर्तब सुद्दु म्हणजे पुरें झालें; याचींच 'मर्यादेयं, लेखनालंकार, लेखनसीमा, लेखन शुध,' वगैरे मराठीं रूपांतरें आहेत). मोर्तबाच्याच ओळींत शेवटीं ' रुजु सुरुनिवीस ' हा शेरा असतो. मराठी व फारशी मजकूर अशा तऱ्हेनें लिहिलेला असतो कीं, शेवटची ओळ बहुधा पूर्ण केलेली असते. मराठी मजकुराच्या खालीं एकेका ओळींत पुढीलप्रमाणें शेरे असतात.

(१) रुजु सुद्दु रुजु मुश्रीफ.

(२) तारीख, महिना व अरबी शब्दांनीं सांगितलेलें हिजरी वर्ष.

(३) पा। हुजूर (निदेश समक्ष); हुजूरच्या जागीं कधीं कधीं एकाद्या मनुष्याचें नांव असतें हा मनुष्य म्हणजे बादशहाचा त्याच्या गैरहजेरींतील प्रतिनिधि असावा.

(४) यापुढें पांच उभ्या रेघा ओढून प्रत्येक रेघेच्या वर मध्यें व शेवटीं पुढें दाखविल्याप्रमाणें शेरे असतात.

सदा सुद्दु मुश्रीफ	{ तालीक सुद्दु सुदा सुद्दु दफ्तरखास	सुप्र सुद्दु मजमू	{ सुप्र सुद मोर्तब न्यावत	सुप्र सुद्दु सुरुनिवीस
|	|	|	|	|
बारु सुद्दु	बारु सुद्दु	बारु सुद्दु	बारु सुद्दु	बारु सुद्दु
|	|	|	|	|
तालीक सुद्दु	तालीक सुद्दु		तालीक सुद्दु	तालीक सुद्दु

पैकीं सदा–सुप्र–सुदा– या शब्दांचें वाचन फारशी कोणत्या शब्दाचा अपभ्रंश तो शब्द आहे हें न समजल्यानें, नीट झालें नाहीं असें वाटतें.

मराठी मजकुराचा मुख्य भाग संपल्यापासून निरनिराळ्या ठिकाणीं जे निरनिराळे शेरे असतात त्या प्रत्येकाचें वळण निरनिराळें असतें. पाठीवर जे

शेरे लिहिलेले असतात ते पाठीमागें दाखविलेल्या उभ्या ओळींच्या दोन्ही अंगास लिहिलेले असतात. पाठीवरील शेऱ्यांच्या बाबतींत विकल्प सहसा आढळत नाहीं. 'तालीक सूद' हा शेरा १, २, ४, ५ या रकान्यांपैकीं एका किंवा अनेक रकान्यांच्या शवटीं असतो. मुजुमदाराच्या शेऱ्याच्या शेवटीं बहुधा नसतो. ज्या ज्या अधिकाऱ्यांना फर्मानाची नक्कल आपल्या दप्तरीं ठेवणें आवश्यक असे त्यांनीं त्यांनीं हे शेरे (तालीक सूद) केलेले असावेत. सनदापत्रांतील कानू जाबत्यांत, मुजुमदाराच्या आज्ञेंत दप्तरदारानें रहावें असें सांगितलें आहे. अर्थात् दप्तरदारापाशीं नक्कल असल्यावर पुनः मुजुमदारास नक्कल करून घेण्याचें कारण नाहीं. म्हणूनच मुजुमदाराचा 'तालीक सूद' हा शेरा नसतो असें वाटतें.

[आधार त्रै. व. २ पृ. १५० ते १५६ खं. २० ले. २५४, २५५, २५६; खं. १५ ले. ३८५, ४००, ४०१ व मंडळाच्या संग्रहीं असलेले कांहीं अप्रकाशित कागद]

निजामशाही दुय्यम प्रतीचे कागद म्हणजे मलिकंबर व शहाजी यांनीं लिहिलेले कागद होत. हे कागद बादशाही फर्मानांचे मानानें लहान, जास्त काळे व कमी प्रतीचे असतात. आरंभीं जागाहि बेताचीच सोडलेली असून समास मुळींच नसतो. शीर्षक कोणतेंहि नसतें. आरंभीं ज्या अधिकाऱ्यानें खुर्दखत पाठविलेलें असतें, त्याचा शिक्का व त्याखालीं फारशी मजकूर न लिहितां एकदम मराठी मजकूरच लिहिलेला असतो. [आरंभ ' अज रख्तखाने' (मलिकंबर शहाजी वगैरे) ? या शब्दांनीं केलेला असतो. अधिकाऱ्यांच्या नांवापूर्वी ' खुदायेवंद, खाने आली शान—अजम—अकरम ' वगैरे सन्मानदर्शक उपपदें असून नांवापुढें तुली—खुली दयाम दौलतहू (अखंडितलक्ष्मीअलंकृत) ही पदवी असते. नंतर ज्याला पत्र पाठविलें त्याचा सोपपद उल्लेख 'तहा' किंवा 'बजानिब' हे शब्द घालून करतात. नंतर कालाचा उल्लेख. पुढें हुकूम देण्याचें कारण सांगून आज्ञेचा मजकूर लिहिलेला असतो. इनामी पत्रांवर शेवटीं फर्मानांतून असलेलीं वाक्यें असतात. राजकारणी हुकूम आज्ञेचा मुख्य भाग लिहून होतांच एकदम संपविलेले असतात. शेवटीं 'मोर्तब सुद' हा शेरा व मोर्तबचा शिक्का आणि त्या खालीं क्रमानें पुढील शेरे असतात.

तेरीख (तारखेचा आंकडा) (महिन्याचें नांव)	माहे (महिन्याचें नांव)	रुजु सुरु निवीस
	बार सुदु	सुरु सुदु

हे सर्व शेरे निरनिराळ्या वळणाचे असतात येवढेंच नव्हे तर तारखेच्या शेऱ्यांतहि दोन वळणें असतात. तसेंच दुय्यम प्रतीचे सुभेदार वगैरे अधिका-

ऱ्यांनीं लिहिलेल्या पत्रांत हे शेरेहि कमीजास्त असतात. अगदीं आवश्यक शेरे म्हणजे मोर्तब सूद व तारीख हे होत. उ. सा. ले. १२५, १९८ ते २०२.

तिसऱ्या प्रतीच्या लोकांनीं म्हणजे हवालदार वगैरे लोकांनीं लिहिलेलीं पत्रें दोन प्रकारचीं दिसतात. या अधिकाऱ्यांनीं वापरलेले कागद दुय्यम अधिकाऱ्यांनीं वापरलेल्या कागदांसारखेच असतात. समास वगैरे नसतो. आरंभीं अधिकाऱ्याचा शिक्का असतो. शिक्याखालीं वतनीपत्रें ' अज दिवाण ठाणा ' किंवा 'परगणे ' या शब्दांनीं सुरू केलेलीं असतात, बाकी सर्व बाबतींत हे अधिकारी दुय्यम अधिकाऱ्यांचेंच अनुकरण करीत असलेले दिसतात. राजकारणी पत्रांत ज्याला पत्र पाठवावयाचे त्याचा प्रथम सोपपद उल्लेख करितात व नंतर 'अजी' शब्द घालून ज्यांनीं पत्र पाठविले ते अधिकारी स्वतःचा उल्लेख करितात. अशा पत्रांतून शिक्के बहुधा मुख्य मजकुराच्या शेवटीं शेवटीं उठविलेले आढळतात. मुख्य मजकुरांत वर्षाचा उल्लेख न करितां शेवटीं फक्त महिना व तारीख एवढेंच नमूद करितात किंवा नाहींही. यामुळें अशा पत्रांचा नेमका काल ठरविणें कठीण जातें. (उ. सा. ले. २२८ ते २३१ पहा.)

आदिलशाही पद्धत— शिवकालांत विजापुरास जे चार बादशहा होऊन गेले त्या प्रत्येकाची पत्रलेखन पद्धत वेगळाली आहे; येवढेंच नव्हे तर एकाच्याच कारकीर्दींतील पत्रांतहि भरपूर विविधता आढळते. असें असल्यानें पुढील मजकुरांत प्रत्येकाचें वैशिष्ट्य सांगितलें आहे. विजापुरी खाशांच्या फर्मानांचे कागद पारवे किंवा गडद पारवे (क्वचित् पांढरे) या रंगांचे असून निजामशाही फर्मानांचे मानानें जास्त गुळगुळीत, पातळ व मोठे असतात. कागदांची लांबी १॥ ते २ फूट व रुंदी ७॥ ते १०॥ इंच असते. आरंभींचा $\frac{1}{3}$ व उजव्या अंगचा $\frac{1}{3}$ किंवा थोडा जास्तच भाग समास म्हणून मोकळा सोडलेला असतो. आरंभींच्या या $\frac{1}{3}$ भागांत दोन शीर्षकें असतात. पैकीं 'अल्मुल्कोलिल्ला' हें वाक्य सर्वच बादशहांच्या फर्मानावर असतें. पण त्याच्या अगोदरच्या शीर्षकांत विकल्प आढळतो. इब्राहीम आदिलच्या फर्मानावर ' हुअलखलील ' हें शीर्षक असतें. महमद आदिलशहाच्या आरंभींच्या फर्मानावर वरीलच शीर्षक आढळतें. मागाहूनच्या फर्मानांवर ' बिसमिल्ला रहमन उर्रहीम ' हें वाक्य आढळतें. अली आदिल व शिकंदर यांच्या फर्मानावर पहिलें शीर्षक ' बिसमिल्ला रहमन उर्रहीम ' हेंच असतें. शीर्षकें झाल्यावर शिक्का असतो. इब्राहीमचा शिक्का सु. १ इंच व्यासाचा असून आंत 'नादेअली' (कुराणमंत्रा) चा मोनोग्राम असतो. महमद आदिलचा

शिक्का सुमारें २ ते २॥ इंच व्यासाचा असून त्यांत एकांत एक ३ वर्तुळें आहेत. अगदीं आंतल्या वर्तुळांत कुराणमंत्रांचा मोनोग्राम, मधल्या वर्तुळांत 'शाहनशाह दीन महमद इब्राहीम दर जेरे नगीने शाह शुद हफ्त इक्लीम' असा मजकूर व बाहेरच्या वर्तुळांत नक्षी आहे. अली आदिलचे तीन शिक्के आहेत. पहिला शिक्का कुयरीच्या आकाराचा (३॥"×२॥") व बहुदळी असून त्यांत पुढील मजकूर आहे;'या अली, मदद मुहरे, शाही जद, अज मेहरे, मुर्तिजा बर मिहर व माह, खुस्रुवे आदिल अली बाद अज मुहमद, बादशाह १०६८; दुसरा शिक्का वाटोळा (२॥ इंच व्यासाचा) असून आंत पुढील मजकूर आहेः—' जेरे फर्मान, सिक्के, शाही जद बताईदे इलाह बंदे हैदर अली, इब्ने महमद बादशाह;' तिसरा शिक्काही वाटोळा, पूर्वीच्याच आकाराचा व 'मुरीदे नजफ शाह अली बादशाह गाजी इब्ने सुलतान महमद शाह' अशा मजकुराचा आहे. पहिला शिक्का शके १५८२ पर्यंत, दुसरा १५८८पर्यंत व तिसरा कारकीर्द संपेपर्यंत आढळतो. शिकंदर आदिलशहाच्या फर्मानावर प्रथम ' नादेअली ' चा शिक्का असे. पण पुढें वाटोळा (सुमारें १ इंच, व्यासाचा) ' सिकंदर गाझी सुलतान इब्ने अली, आदिल शाह ' अशा मजकुराचा शिक्का त्याच्या फर्मानावर येऊं लागला. शेवटीं शेवटीं 'मददे या मोहीदीन' असा शिक्का आलेला आढळतो.

नंतर मुख्य मजकुरास सुरवात होते. मजकुराला आरंभ ' फर्माने हुमायूं शरफ सुदूरयाफ्त ' या वाक्यखंडानें करतात. शिकंदरच्या कांहीं हुकमांवर कित्येक वेळां हें वाक्य न येतां हेतुभूत मनुष्याच्या पदव्यांनाच सुरवात केलेली असते. पण अशीं उदाहरणें क्वचित् आढळतात. नंतर मजकुरांत क्रमानें पुढील गोष्टी येतात.

(१) हेतुभूत मनुष्याचा सोपपद उल्लेख व त्याचा अधिकारप्रदेश (आरंभ 'बजानिब' शब्दानें करतात)

(२) सुहूर सनाचा उल्लेख अज हा शब्द पाठीमागें घालून येतो. पण प्रत्येक बादशहाच्या कारकीर्दींत कांहीं फर्मानें अशीं आढळतात कीं ज्यांत या ठिकाणीं सुहूर सन नसतो.

(३) वतनपत्र असल्यास वतन मागणाऱ्या मनुष्याचें म्हणणें सांगितलेलें असतें व राजकारणी पत्र असल्यास विशिष्ट हुकूम सोडण्याच्या कारणाचा निर्देश केलेला असतो.

(४) बादशहाचा हुकूम काय हें लिहिलेलें असतें.

(५) हद्दी घालून देणें, दरवर्षी फर्मानाची मागणी न करणें, नकल करून घेऊन असल परतून देणें किंवा चाकरी करून उर्जित करून घ्यावें किंवा दरीं बाब कौल आहे वगैरे अर्थी मजकूर असतो.

(६) या पुढें तारीख, महिना, व वर्ष यांचा उल्लेख असतो. राजकारणी पत्रांत तारीख व महिना घालून वर्ष क्वचित् गाळलेलें असतें.

मजकूर संपण्याच्या सुमारास उजव्या बाजूस परवानगीनें आरंभ होणारा शब्दसमूह असतो. इब्राहीमच्या फर्मानावर 'परवानगीए हुजूर अशरफ अकदस हुमायूं आला' हा शब्दसमूह घालून सोपपद एकाद्या प्रधानाचा उल्लेख असतो (उ.—खाइलामखान आलीशान सादत निशान रफिअ उल् कद्र वल् मुआला मकान 'इखलासखान अमीरजुम्ले' किंवा 'शहानवाजखान सरे मजलिस') महमदशहाच्या कारकीर्दीत प्रथम इखलासखान व नंतर मुस्तफा-खान प्रधान होते. इखलासचा उल्लेख पूर्वीप्रमाणेंच येतो. पण मुस्तफाखानाचा उल्लेख 'बरिसाले कमतरीने बंदेगान मुस्तफाखान' असा येतो. मुस्तफाखाना-नंतर महमदशहा, अली आदिलशहा व शिकंदर शहा यांच्या फर्मानावर प्रधानाचा उल्लेख बहुधा आलेला नाहीं. परवानगीचा समूह मात्र मोठा होऊन 'परवानगीए हुजूर खुरशीद जहूर अशरफ अकदस हुमायूं आला' अशा स्वरूपांत येऊं लागला. मुख्य मजकुराची शेवटची ओळ कागदाच्या डाव्या बाजूला अगदीं भिडलेली असते. कधींहि अर्धी असत नाहीं. मजकुराच्या खालीं इब्राहीम, महमद व अली या तीन जणांच्या कारकीर्दींत शिक्के उठविलेले दिसतात. पैकीं इब्राहीमच्या पत्रावर हमखास असतातच. महमदाच्या कारकीर्दींत मुस्तफाखान होता तोंवर हमखास येतातच. पुढें नाहींत. (इख्लासखानाचा शिक्का ११ कोनांचा व १। इंच लांबी-रुंदीचा आणि मुस्तफाचा वाटोळा आहे.) अलीच्या आरंभीच्या पत्रांवर आहेत पुढें आढळत नाहींत. या शिवाय अलीच्या पत्रावर त्याच्या पहिल्या शिक्क्याच्या आकाराची पण प्रमाणानें लहान व 'हु, अल कादिर, अलीआदिल शाह इब्ने सुलतान महमद' या मजकुराची मोहर आहे; शिकंदरच्या पत्रावर मुळींच नाहीं. हे शिक्के कधीं एक, कधीं दोन तर कधीं जोडून उठविलेले आढळतात. या शिवाय चौघांच्याही पत्रांवर लंबवर्तुळ व बदाम या आकारांच्या मोहराहि आहेत. शिक्क्यानंतर इब्राहीम व महमद यांच्या कांहीं फर्मानावर मराठी मजकूर (फारशी-

चा सारांश)लिहिलेला आढळतो. तसेंच ज्यांवर नुसता फारशी मजकूर आहे अशा कांहींच्या पाठीवर तारीख, महिना, व अरबी शब्दांनीं दर्शविलेलें हिजरी वर्ष असतें. कांहींच्या पाठीवर प्रारंभीं ओळीनें ५ते७ शिक्के, त्याखालीं वरील प्रकारची तारिख व त्याखालीं पुढील क्रमानें ५ते७ शेरे असतात, हे शिक्के अगदीं खराब उठलेले असल्यानें नीट लागत नाहींत. पण जीं कांहीं अक्षरें लागतात त्यावरून ज्या अधिकाऱ्यांनीं शेरे लिहिलेले असतात त्यांचेच ते शिक्के असावेत असें वाटतें. शेऱ्यांचा क्रम पुढीलप्रमाणें असतो.

सबत द फ्तर शुद; + मुजुमदार; मुतलअ शुद; बार दफ्तर; बार मुश्रीफ; बार सर खास; मुमालिक; दप्तर;

यांपैकीं अनुक्रम २।३।४ हे शेरे फारशी लिपींत व बाकीचे मोडी लिपींत असतात अनुक्रम २ चा शेरा लागलेला नाहीं. अनुक्रम ६ च्या ठिकाणीं क्वचित् एक अगदीं अपरिचित न लागण्यासारखा शेरा असतो. मराठी मजकुरापासून पुढील सर्व गोष्टी फक्त इब्राहीम व महमद यांच्या पत्रांत व त्याहि विकल्पानें आढळतात. अली व शिकंदर यांच्या पत्रांत यांपैकीं कोणतीही बाब आलेली आढळत नाहीं. हे सर्व शेरे भिन्न अक्षरांचे अर्थात् भिन्न व्यक्तीनीं केलेले असतात हें सांगणें नकोच. राजकारणी फर्मानावर मराठी मजकुरापासून पुढील भाग आढळून येत नाहीं.

फर्मानें लिहिण्याची ही प्रणाली ठरून गेल्यामुळें कांहीं शब्द व शब्दसमुच्चय फर्मानांतून वारंवार आलेले आढळतात. त्या पैकीं फार वेळां येणारे त्यांच्या अर्थासह क्रमानें पुढें देतों.

(१) फर्माने हुमायूं शरफ सुदूरयाफ्त = दयाळू, श्रेष्ठ, व जणुं उगवणार (सूर्य) असा हुकूम

(२) बजानिब = प्रति

(३) आमिलान—कारकुनान—हाल व इस्तकबाल = अमलदार—लेखक—वर्तमान व भावी

(४) अज शहूर सना = सुहूर सन

(५) बंदगाहे बमसामेह } जहांपनाह—वाला जाह—मुआला—फलके बारगाह-जाह व जलाल = राजाधिराज-महाराज-राजश्री यांस

(५) इल्तिमास नमूद = विनंति केली; रोशन गरदीद्-प्रकाशित झालें. (बमसामेह) रसीद् = कानावर आलें.

(६) नजरे अनायत फर्मुदा = (कृपेची दृष्टी करून)

(७) फर्माने-अशरफ-आतिफत हुमायूं आला-कजाजारियान = हुकूम

(८) अज राहे मराहिमे पादशाहाना व फर्त अवातिफे खुस्रवाना = बाद्-शाही कृपेच्या रस्त्यानें

(९) बराए – बिनाबरा–इल्तिमास बखातिरे मुबारिक मुआला – आला आवर्दा = विनंतीविषयीं महाराजांनीं–राजश्रीनीं मनास आणून

(१०) मरमहत् फर्मूदा दहानीदा शुदा अस्त = कृपेच्या हुकमानें देववून टाकिलें आहे.

(११) मीबायद् के = म्हणून, तरी

(१२) बमुजरदे–वसूले फर्मान, रसीद्ने फर्मान = फर्मान पोहोचतांच

(१३) हद् महदूद् कर्दा दर कब्ज व तसर्रुफ दुंबाला नुमायंद् = हद् महदूद् घालून हवाली करा, ताब्यांत द्या

(१४) मूमीइल्हे–मशारिल्हे–माजाल्हा = उपर्युक्त (मनुष्य)

(१५) मजकूर, मस्तूर, मजबूर = उपर्युक्त (बाब)

(१६) हसबुल् मस्तूर–अम्र, बमूजबे फर्मान, बरहुक्मे फर्मान = फर्माना-प्रमाणें

(१७) दर हर साला उज्रे फर्माने मुजरद्–नूह न कर्दा साल बसाल बर हमीं फर्मान जारी दारंद्–जारी साजंद् = दर हर साल ताज्या सनदेचा उजूर न करणें व सालोसाल याच फर्मानाप्रमाणें इनाम चालू ठेवणें.

(१८) तालीक नविश्ता गिरफ्ता असल फर्मान बाज गुजारंद्–दहंद् = तालीक लिहून घेऊन असल पत्र फिराऊन देणें; या पत्राची प्रति लिहून घेऊन मुख्य पत्र भोगवटियासी परतोन देणें.

(१९) तादानंद् = जाणिजे, कळावे, श्रुत होये.

(२०) मुसलमान व हिंदु यांना शपथा घातल्याचींही वाक्यें असतात-पण तीं निरानिराळ्या प्रकारचीं असल्यानें दिलीं नाहींत.

(२१) ताकीदे बलीघ = कद्घने इतीम = ताकीदे कुली = सक्त ताकीद
(२२) तहरीरा फी = तहरीर = लिहिलें (तारखेस)

ज्याप्रमाणें कांहीं शब्द व शब्दसमुच्चय वारंवार येतात त्याप्रमाणें सरदार, सुभेदार वगैरे लोकांच्या पाठीमागें लावण्याचीं उपपदेंही ठरलेलीं आहेत. निजामशाही कागदांत फारशीं उपपदें येत नाहींत. मराठी पत्रांत कांहीं फारशी व कांहीं संस्कृत उपपदें येतात. विजापुरी व मोगली कागदांत उपपदें फार येतात पण विस्तारभयास्तव तीं येथें देतां येत नाहींत.

विजापुरी दुय्यम प्रतीच्या म्हणजे सुभेदार वगैरेंनीं लिहिलेल्या पत्रांचे कागद पांढरे, अरुंद व हलक्या प्रतीचे असे असत. सुमारें ¼ किंवा कमीच भाग समास म्हणून सोडीत. आरंभीं शिक्का उठवून मुसलमान सुभेदार फारशी मजकूर लिहून त्याखालीं मराठी मजकूर लिहीत. शेवटीं 'मोर्तब सुद' व त्याचा शिक्का तसेंच 'रुजू, सुरु, बार' वगैरे निरनिराळे शेरे करीत आणि तारीख लिहीत. यांच्या पत्रांवर पा। हुजूर (निदेश समक्ष) व रा। हुजूर (संदेश समक्ष) असे दोन शेरे कधीं कधीं आढळतात. कधीं कधीं हुजूरच्या ऐवजीं एखाद्याचें नांव असतें. बादशाहाला ज्याप्रमाणें खाजगी चिटणीस, प्रतिनिधि वगैरे लोक असत त्याप्रमाणें सुभेदार वगैरे दुय्यम अधिकाऱ्यांनाही, त्यांचेकडे बरेच मोठे अधिकार व प्रदेश असल्यानें, असत व सुभेदाराच्या गैरहजेरींत सुटलेल्या हुकमावर हे लोक आपलीं नांवें घालीत. शहाजी वगैरे हिंदु सरदार फारशी मजकुराऐवजीं फक्त मराठी मजकूर लिहीत. बाकी शेरे वगैरे करण्याची पद्धत मुसलमानी सुभेदारांप्रमाणेंच असे. सुभेदारांचे हुकमांचे आरंभीं 'अज रख्तखाने'चा प्रयोग नेहमीं असतो. सुभेदारांच्या नांवापाठीमागें खुदायेवंद, खाने अली शान, खाने-अजम-अकरम, मशरुल हजरत (राजविख्यात), मशरुल अनाम (लोकविख्यात) मोतमीद दौलत (विश्वासनिधि) वगैरे उपपदें लावून पुढें खुशी—खलद—तुली दयाम—दवाम दौलतहू (अखंडितलक्ष्मी, खंडेश्वरी) हें उपपद हमेशा लाविलेलें आढळतें, सुभेदारांचीं हीं पत्रें लिहिण्याची धाटणी फर्मानाप्रमाणेंच असे. पण फर्मानांतील गौरवाची व अलंकारिक भाषा, पदव्यांची विपुलता, वगैरे गोष्टी या खुर्दखतांतून आढळत नाहींत. सुभेदारांच्या कित्येक पत्रांतून प्रथम ज्याला पत्र पाठविलें त्याचा उल्लेख, नंतर पाठविणाऱ्याचा उल्लेख व शिक्का मजकुराच्या डाव्या अंगास कोठें तरी असाही प्रकार आढळतो. हीं पत्रें त्या त्या मनुष्यांच्या गौरवार्थ असल्यानें असा विशिष्ट क्रम ठेवलेला

असावा उ. सा. ले. २३२, २३३ २३४, पहा. हीं पत्रें रणदुला व अफजल या सुभेदारांची असूनहि कान्होजी जेधे मानवर म्हणून प्रथम उल्लेखिलेला आहे.

तिय्यम प्रतीचे अधिकारी म्हणजे हवालदार, महालकरी वगैरे. यांनीं लिहिलेल्या पत्रांचा कागदही सुभेदारी कागदासारखाच असून पत्र लिहिण्याची पद्धत ही सुभेदारी पत्राप्रमाणेंच आहे. आरंभीं २।३ शिक्के उठवून व क्वचित् फारशी मजकूर लिहून नंतर मजकुराला सुरवात केलेली आढळते. सामान्यतः आरंभीं ' अज दिवाण ठाणा ' असा प्रयोग येतो. शेवटीं ' मोर्तब सुद ' हा शेरा व त्याचाच शिक्का उठविलेला असतो. हवालदाराच्या हाताखालीं सुभेदाराप्रमाणें सुरनीस, बारनीस, दफतरनीस वगैरे अधिकारी नसल्यानें यांच्या पत्रावर ' रुजु सुरु, बार ' वगैरे शेरे सहसा नसतात एकदां तारीख व महिना आणि पुन्हां फक्त महिना असे दोन शेरे निरानिराळ्या अक्षरांत लिहिलेले आढळतात. सुभेदाराप्रमाणेंच हवालदारांनीं देशमुख किंवा इतर मानार्ह लोकांस लिहिलेल्या पत्रांत आरंभीं मानार्हांचा उल्लेख व नंतर हवालदारांचा स्वतःचा उल्लेख असा क्रम आढळतो. उ. खं. १५ ले. ३३६, ३३७; अशा पत्रांत शिक्काही बहुधा पत्र संपतां संपतां डाव्या अंगास कोठें तरी आढळतो.

मोगलीपद्धत– सामान्यतः सर्व मोगली पत्रांचा कागद मोठा, खिळसर, जाड व घोटल्यामुळें तुकतुकीत असा असतो. आरंभींचा सुमारें $\frac{1}{3}$ भाग मोकळा व पुढल्या $\frac{1}{3}$ भागांत ' बिसमिला रहमनुर्रहीम ' हें वाक्य असून त्या खालीं (बादशहाच्या नांवाचा चौकोनी (३″ × ३″) तुग्रा व त्याच्या उजव्या बाजूस वर्तुळाकृति शिक्का (३ इंच व्यासाचा) असतो. सुमारें $\frac{1}{3}$ भाग समास असतो. तुग्र्याच्या खालीं मुख्य मजकुराला सुरवात होते. दिलेल्या देणग्या वगैरेंचा तपशील व अधिकाऱ्यांनीं केलेले शेरे हे सनदांच्या पाठीवर असतात. शिक्क्यामध्यें पुन्हां एक लहान वर्तुळ असून त्यांत बादशहा व त्याचा प्रधान यांचा उल्लेख असतो. लहान वर्तुळ व मोठें वर्तुळ यांमधील क्षेत्रांत एकमेकांस व आतांच्या दोन्ही वर्तुळास भिडणारीं अशीं ८।१० वर्तुळें असून त्या प्रत्येकांत एकेका पूर्वजाचें नांव असतें. कित्येक मोगली फर्मानावर फर्मान देणाराचा पंजा उठविलेला असतो व फर्मानांत तसा उल्लेख केलेला असतो. उदाहरणार्थः–औरंगजेबशिवाजी पत्रव्यवहार किंवा फरामीनुस्सलातीनमधील ४०।७९।८० हे लेखांक पहा. पंजा उठविण्याचा हेतु पत्र ज्याला लिहिलेलें असतें त्यास पूर्ण विश्वास वाटावा हा असतो.

मोंगली पहिल्या प्रतीच्या पत्रांत ज्यास पत्र पाठवावयाचें त्याच्या निरनिराळ्या पदव्यांनीं आरंभ केलेला दिसतो. उ. उपर्युक्त पुस्तकामधील पत्रव्यवहार पहा. नंतर 'बादशाही कृपेस पात्र होऊन जाणावे कीं' अशा अर्थाचीं वाक्यें असतात; नंतर हुकूम देण्यास जें कांहीं कारण झालें असेल तें 'अर्जदाश्ती के' अशा आरंभींच्या शब्दांनीं नमूद करून पुढें मुख्य हुकुमाचे शब्द येतात. शेवटीं ज्या तऱ्हेचा हुकूम असेल त्या तऱ्हेचे शब्द येतात. उदाहरणार्थ, ताकीद असलयास 'दरीं बाब ताकीद दानद' वगैरे मजकूर असतो. चाकरीस बोलाविलें असल्यास आपल्या चाकरीवरून आपलें ऊर्जित होईल, वगैरे अर्थाचा मजकूर असतो. आश्वासनपर पत्र असल्यास ' आमचा लोभ आपणावर पूर्णपणें आहे असें जाणावें' वगैरे अर्थाचा मजकूर असतो. शेवटी तारीख, महिना, हिजरी सन व जुलूस असतात.

मोंगली दुय्यम व तिय्यम अधिकाऱ्यांचे अगदीं थोडे कागद आपणास पहावयास मिळतात. त्यांत आरंभीं ज्यानें कागद पाठविला त्याचा बादशहाचा चाकर या अर्थाचा शिक्का उठवून मजकूर लिहितात. जयसिंगाचें जें फर्मान शिवचरित्र प्रदीपमध्यें छापलें आहे, त्यांत व फरामीनुस्सलातीन मधील इतरही फर्मानांतून हाच प्रकार दिसून येतो. खं.२० ले.२३८, २४४ यावरही असेच शिक्के आहेत.

नंतर बहुधा मुत्सद्दियाने मुहिमात हाल व इस्तकबाल किंवा गुमाश्तहा. देशमुख व देशपांडे किंवा सरदेशमुख व सरदेशपांडे असा मजकूर असतो. तसेंच जयसिंगाच्या वरील पत्रांत शेवटीं ' ज्यादा अज ईं चे नविश्ता (बहुत काय लिहिणें, विशेष लिहिणें नलगे, बहुत लिहिणें नलगे) हें वाक्य लिहिलेलें आढळतें.

तिय्यम अधिकाऱ्यांचीं जीं पत्रें आहेत तीं इकडील पद्धतीनेंच लिहिलेलीं असतात; त्यामुळें त्यांचें विशेष वर्णन करण्याचें कारण नाहीं.

शिवशाही पद्धत—शिवशाही कागद निजामशाही कागदाप्रमाणेंच पांढरा, भरड, अरुंद असा असतो. आरंभीं सुमारें $\frac{1}{6}$ किंवा कमीच भाग मोकळा सोडलेला असतो. 'स्वस्तिश्री'नें आरंभ होणाऱ्या कागदांवर श्रीकार आहे. बाकीच्यावर श्रीकार नाहीं. कागदाला चार सारख्या घडया पाडलेल्या असतात;

पण समास मात्र मुळींच सोडलेला नसतो. 'मोर्तब सुद' व त्याचा शिक्का, तसेंच लेखनसीमा वगैरे शेरे व 'मर्यादेयं' चा शिक्का आणि रुजु सुरुनिवीस किंवा इतर शेरे हे मुख्य मजकुराच्या अंगासच असतात. तारखेचे दोन व सुरु सुद हे शेरे बहुधा कागदाच्या पाठीवर असतात.

शहाजीनें निजामशाहींत सर्वाधिकारी म्हणून व आदिलशाहींत सुभेदार म्हणून नोकरी केली. दोन्ही शाह्यांतील त्याचे कागद दुय्यम प्रतीचेच सांपडतात. आरंभीं शहाजीचा फारशी शिक्का असतो व नंतर 'अज रख्तखाने शहाजी राजे' म्हणून मजकुरास सुरवात असते. कांहीं कागदांवर मजकुराच्या डाव्या अंगास 'रवां सुद' अशा फारशी शिक्का असल्याचें आढळतें. शेवटीं 'मोर्तब सुद' व मोर्तबचा फारशी शिका, तारखेचें दोन शेरे, पा, रा, रुजु, सुरु, वगैरे शेरे तत्कालीन विजापुरी सुभेदारांप्रमाणेंच केलेले आढळतात. शहाजीच्या पत्रांतून फारशी मजकूर नसतो येवढाच शहाजी व इतर मुसलमानी सुभेदार यांच्या पत्रांतील फरक होय. हा फरक घोरपडे, खराटे, घाटगे, निंबाळकर वगैरेंचीं जीं पत्रें सांपडलीं आहेत त्यांतही दिसून येतो. तसेंच शहाजीच्या पत्रांतही मानार्ह लोकांचा उल्लेख प्रथम व नंतर शहाजीचा उल्लेख असलेला आढळतो. अशा पत्रावर शिक्का आरंभीं न करतां बहुधा ३।४ ओळीनंतर डावे अंगास केलेला आढळतो. उ. सा. ले. ८७ पहा. यांत प्रथम चांबळीच्या सरनाइकांचा उल्लेख असून नंतर शहाजीचा उल्लेख आहे.

शिवाजीच्या पत्रांत २।३ प्रकार आढळतात. पहिला प्रकार म्हणजे वतनपत्रें व कौलनामे यांचा. प्रथम या पत्रांचे बाबतींत शिवाजीनें शहाजीचें अनुकरण केलें. उ. सा. ले. २३९ हें शिवाजीचें विश्वसनीय असें पहिलेंच पत्र आहे. हें पत्र सुभेदारी पत्राप्रमाणें आहे. शहाजीचा फारशी शिक्का होता. शिवाजीनें संस्कृत मजकुराचा शिक्का केला. शेवटीं 'मोर्तब सुद' आहे. मोर्तबाचा शिक्का नाहीं. रुजु वगैरे मामुली शेरे आहेत. सा. १२० च्या पत्रांत शेवटीं मोर्तब सुद असून त्यापुढें त्याचेंच संस्कृत रूपांतर जें 'मर्यादेयं विराजते' त्याचा शिक्का आहे. इतर शेरे नेहमींप्रमाणें आहेतच. खं. १५ ले. ४३८ (१५७५) यांत 'प्रतिपत्,' 'सामराज मतिमत्' व 'मर्यादेयं' हे शिक्के व मोर्तब, पा, रा, हे शेरे असून शिवाय इतर शेरे आहेत. सनदापत्रें पृ. ११४ ले. ५ हेंही वतनपत्र आहे. यांतही सुभेदारी पद्धत दिसते. शेवटीं पा हुजूर व रा पंताजी गोपिनाथ चिटणीस असे शेरे आहेत; 'मोर्तब असे' हाही शेरा आहे. राज्याभिषेकानंतरही शिवाजीची

कांहीं इनामपत्रें या स्वरूपांत सांपडतात. उ. सा. ले. २७८ पहा. यांत आरंभीं '.तिपद्'ही मुद्रा, 'अज रख्तखाने' या शब्दांनीं आरंभ, परवानगी हुजूर, मोर्तब सुद व 'मर्यादेयं'चा शिक्का वगैरे सर्व गोष्टी आहेत. डाव्या बाजूस प्रधानाचा शिक्का मात्र जास्त आहे. श्री. स. ले. १४ मध्यें मात्र लिहिण्याची पद्धत बदलेली आहे. ही नक्कल आहे यामुळें शिक्के वगैरे दिलेले नाहींत. पण आरंभ 'स्वस्ति श्री राज्याभिषेक शके' असा केला आहे व शेवटीं जाणिजे (तादानंद) आहे.

कौलनाम्यांच्या लेखनांत वतनपत्रांचेंच अनुकरण केलेलें दिसतें. उ. सं. ३ पृ १६७ पहा. याला आरंभ 'ई कौलनामा अज रख्तखाने' असा केला आहे. मजकुराच्या आरंभीं 'प्रतिपद्' व शेवटीं 'मर्यादेयं' असे शिक्के आहेत. सा. ले. १३९ हाही कौलनामाच आहे. यांत आरंभीं 'प्रतिपद्' शिक्का; 'ई कौलनामा अज रख्तखाने' असा आरंभ, डाव्या अंगास 'शामराज मतिमत्' चा शिक्का शेवटीं 'पा, रा, तारीख' हे शेरे व 'मर्यादेयं'चा शिक्का आहे. कौलनामे लिहिण्याची हीच पद्धत श. १५९७ (राज्याभिषेकानंतर १ वर्ष) मध्येंही दिसते. उ. श्री. सं. ले. १३ त प्रारंभीं 'प्रतिपद्' मुद्रा, 'कौलनामा अज रख्तखाने' असा आरंभ, डाव्या बाजूस मोरोपंताचा शिक्का, शेवटीं 'परवानगी, मोर्तब सुद' वगैरे शेरे आणि 'मर्यादेयं' चा शिक्का या सर्व गोष्टी आहेत.

शिवाजीच्या पत्रांचा दुसरा प्रकार म्हणजे राजकारणी पत्रें. यांत प्रथम मानार्ह व्यक्तीचा उल्लेख व नंतर शिवाजीचा उल्लेख असलेला आढळतो. उ. सा. ले. ८८; यांत प्रथम निळकंठराव व नंतर शिवाजी आहे. पत्र खाजगी स्वरूपाचें असल्यानें शिक्कामोर्तब व शेरे नसावेत; किंवा नकलकारानें गाळले असावेत. असेंच एक पत्र खं. १५ ले. ३२८ चें आहे. यांत प्रथम कान्होजीचा उल्लेख व नंतर प्रति म्हणून शिवाजीचा उल्लेख, शेवटीं 'बहुत काय लिहिणें' (ज्यादा अज ई चे नविश्ता) हें वाक्य, 'मर्यादेयं'ची मुद्रा व जवळ 'प्रतिपद्'ची मुद्रा आहे. आपल्याहून मोठ्या मनुष्यास पत्र लिहावयाचें असल्यास नांवाची मुद्रा खालीं करावी असें एके ठिकाणीं लिहिलें आहे. याचें उदाहरण म्हणून प्रस्तुत पत्र सांगतां येईल. पण अशीं पत्रें अगदींच दुर्मिळ आहेत. सं. ४ पृ. ७९ वर एक शिवाजीचें पत्र आहे. त्यांत प्रथम देशाधिकारी व नंतर शिवाजी असें आलेले आढळतात. शेरे मामुली आहेत. नकल असल्यानें शिक्के समजण्यास मार्ग नाहीं. खं. २१ ले ३ (श. १५८४) मध्यें प्रथम सुभेदाराचा व नंतर शिवाजीचा उल्लेख आहे. 'प्रतिपद्' हा शिक्का नसून डाव्या बाजूस शामराजाचा व खालीं

'मर्यादेयं' चा शिक्का आहे. मोर्तब सुद, तारीख, रुजु, वगैरे शेरे नेहमींप्रमाणें आहेतच. 'जाणिजे' असा शब्द मुख्य मजकुराच्या शेवटीं आहे. श्री. सं. ले. १६ (श. १५९८) त प्रथम सज्जनगडचा हवालदार व नंतर शिवाजी असे निर्देश आहेत. नेहमीं प्रमाणें (१ किंवा २ ओळी सोडल्यावर) मजकुरांत डाव्या अंगास मोरोपंताचा शिक्का, शेवटीं तारीख, परवानगी हुजूर, मोर्तबसूद वगैरे शेरे, व 'मर्यादेयं' चा शिक्का या गोष्टी आहेत. प्रधानांचे शिक्के सुरू झाल्यावर 'प्रतिपद्' च्या मुद्रेस हळूहळू या दुसऱ्या प्रकारच्या पत्रांत चाट मिळत गेला असें दिसतें. श. १५९८ नंतर ही पद्धत बदलून 'स्वस्ति श्री' नें आरंभ होणारी संस्कृतप्रचुर पद्धत अंमलांत आली असावी असें दिसतें. उ. खं. ८ ले. ३३ ते ३६ पहा. यांचा आरंभ स्वस्तिश्रीनें केला आहे. प्रथम आज्ञा करणारा शिवाजी व नंतर आज्ञप्त मनुष्य हा क्रम आहे. यांत 'प्रतिपद्' ही मुद्रा नाहीं. मोरोपंताचा शिक्का आहे. शेवटीं परवानगी हुजूरच्या ऐवजीं 'मजुरा असे' हे शब्द व 'मोर्तब सुद' या ऐवजीं 'लेखनसीमा' हे शब्द आहेत. 'मर्यादेयं'चा शिक्का आहेच.

शिवकालीन कागदांचा तिसरा प्रकार म्हणजे तह, करारनामे, याद्या, वगैरे होत. हे सर्व कागद कलमबंद असत. प्रत्येक कलमाच्या शेवटीं 'मर्यादेयं'चा शिक्का उठविलेला आढळतो. तसेंच कांहीं तह म्हणजे ठरावांवर प्रारंभीं 'प्रतिपद्' चा शिक्का व शेवटी 'मोर्तब सुद' व 'मर्यादेयं' चा शिक्का असें आढळतें उ. खं. ८ ले. २१ किंवा त्याच खंडांतील इतर कागद पहा. पण खरें सांगावयाचें म्हणजे असले शिवकालीन कागद फारसे सांपडलेले नाहींत. यामुळें त्यांच्याविषयीं निश्चित माहिती देतां येणें अशक्य आहे.

शिवाजीच्या पत्रांची लिहिण्याची जी पद्धत तीच शिवाजीच्या दुय्यम व तिय्यम अधिकाऱ्यांनीं उचलेली होती. उदाहरणार्थ, श्रीसंप्रदायाचीं कागदपत्रें यांतील १७ ते ३१ हे लेखांक पहा. या सर्वांत अगोदर ज्याला पत्र लिहिलें त्याचा निर्देश व मागून अनाजी दत्तो, दत्ताजी त्रिमल, मोरो त्रिमल वगैरेंचे निर्देश आहेत.

या चारी शाख्यांचीं विशेषतः शिवशाहीचीं पत्रें तपासून पहातां पुढील अनुमानें निघतात.

(१) वतनी पत्रें व कौलनामे या पत्रांवर प्रारंभीं शिवाजीचा 'प्रतिपद्' शिक्का, डाव्याबाजूस प्रधानाचा शिक्का व शेवटीं ' मर्यादेयं ' चा शिक्का असून बहुतेक सर्व शेरे लिहिलेले असतात. आरंभीं 'अज रख्तखाने' घालून शिवाजीचा उल्लेख व ' तां ' घालून पत्र मिळविणाऱ्याचा उल्लेख केलेला दिसतो. तसेंच मोकद्दम व हुद्देदार यांना लिहिलेल्या पत्रांत हीच पद्धत दिसते.

(२) हवालदारापासून पुढच्या सर्व अधिकाऱ्यांना व मान्यवर लोकांना लिहिलेल्या पत्रांत प्रथम अधिकारी व नंतर शिवाजी असे निर्देश आलेले आहेत. ' प्रतिपद् ' शिक्का अशा पत्रांवर नसतो. डाव्या अंगास प्रधानाचा व शेवटीं ' मर्यादे 'चा हे शिक्के व इतर शेरेही नेहमींप्रमाणें आढळतात.

(३) राज्याभिषेकानंतर पत्रें लिहिण्याच्या दोन पद्धती पडलेल्या दिसतात. एक पूर्वीची व दुसरी 'स्वस्तिश्री'नें आरंभ होणारीं. शिक्के व शेरे या बाबतींत पूर्वींचीच पद्धत कायम राहिली. मात्र फारशी शेऱ्यांऐवजीं मराठी व संस्कृत शेरे जास्त प्रचारांत येऊं लागले.

(४) मितीच्या बाबतींतही हा फरक राज्याभिषेकानंतर हळूहळू पडलेला दिसतो.

(५) दुय्यम व तिय्यम अधिकारी मात्र आपली पूर्वींचीच पद्धत चालवीत असत.*

चारी शाह्यांतील पत्रांच्या अभ्यासावरून पुढील अनुमानें निघतात.

(१) शिवाजीच्या पत्रांवर मुसलमानी लेखनपद्धति व भाषासरणी यांचा फार परिणाम झाला होता.

(२) शिवाजीच्या पत्रांत कागद, शिक्के व शेरे या बाबतींत निजामशाहीचें किंवा विजापुरी खुर्दखतांचें अनुकरण फार आहे.

(३) मोगली व विजापुरी पत्रांप्रमाणें शिवाजीच्या पत्रांत पदव्यांची विपुलता आढळत नाहीं.

---

* या अनुमानांना आधार श्रीसंप्रदायाचीं कागदपत्रें, ले. १० ते ३१; खं. ८ ले. १८ ते ३६; शिवचरित्र साहित्य ले. २७५ ते २८० हे आहेत.

(४) कोणाला कसें पत्र लिहावयाचें या बाबतींत चारही शाह्यांत जवळ जवळ एकच पद्धत चालू असलेली दिसते. कदाचित् मोगली लेखनपद्धतच थोडी निराळी असावी.

(५) फारशी भाषेंतील शेंकडों शब्द व शब्दसमूह मराठी राज्यकर्त्यांनीं जसेच्या तसेच किंवा वेषांतर चढवून घेतले आहेत.

(६) ज्या गोष्टी मराठी राज्यकर्त्यांनीं मुसलमानांपासून घेतल्या असें दिसतें त्या मुसलमानांनीं कोठून आणल्या याचा शोध केला पाहिजे. कदाचित् त्यांपैकीं पुष्कळ भाग मुसलमान पूर्वकालीन हिंदु राज्यकर्त्यांपासून घेतला असण्याचा संभव आहे. कदाचित् बगदादकडील राज्यांतूनही त्यांपैकीं कांहीं गोष्टी आलेल्या असण्याचा संभव आहे.

मित्यांविषयीं कांहीं विचार.

शिवकालीन कागदांत मुसलमानी व हिंदु अशा दोन पद्धतीच्या मित्या येतात. पोर्तुगीज, डच, इंग्रज, फ्रेंच या परदेशी लोकांमुळें ख्रिस्ती पद्धतही कोठें कोठें आली आहे. दक्षिणेंतील तत्कालीन कागदपत्रांत हिजरी, फसली, सुहूर, जुलूस व इसवी हे सन, शालिवाहन, जव्हार व राज्याभिषेक हे शक इतक्या वर्षगणना आल्या असल्यामुळें त्या प्रत्येकाविषयीं थोडी थोडी माहिती देऊन नंतर प्रत्येक रियासतींतील पत्रांत कोणते विशेष आढळतात हें सांगतों.

हिजरी— महमदानें ज्या दिवशीं मक्केहून मदिनेस प्रयाण केलें तो दिवस हिजरी कालगणनेच्या पहिल्या वर्षाचा पहिला दिवस धरण्यांत आला असून या पहिल्या दिवसास श. ५४० श्रावण शु. २ (इ. ६२२ जुलै १५) ही मिति येते. हिजरी सनाचें वर्ष चांद्रमानाचें आहे. प्रत्येक महिना एका चंद्रदर्शनापासून दुसऱ्या चंद्रदर्शनापर्यंतचा असतो. प्रत्येक तारीख सायंकाळीं सुरू होऊन दुसऱ्या दिवसाच्या सायंकाळपर्यंत चालू असते. याचें शकांत रूपांतर करणें हें आकडेमोडीशिवाय करितां येत नाहीं.

सुहूर सन— या सनाचा आरंभ हिजरी ७४५ (श. १२६६) मध्यें झाला. मात्र आरंभींचें वर्ष १ न धरतां हिजरी इतकेंच म्हणजे ७४५हेंच धरलें. याचें शकांत रूपांतर करावयाचें असल्यास ज्येष्ठ ते फाल्गुन ५२१ व चैत्र ते वैशाख ५२२ वर्षें मिळवावीं लागतात. याचें वर्ष सौरमानाचें असून वर्षाचा आरंभ मृगनक्षत्रावर होत असल्यानें यास मृगसाल असेंही म्हणतात. महिने चांद्र-

मानाचे असल्यानें दरवर्षी याच्या एकाच सालांत एकाच नांवाचा महिना दोनदा (एकदां आरंभीं व एकदां शेवटीं) येतो. यामुळें असा महिना ज्यां पत्रांत आला असेल त्याची तारीख ठरवितांना मूळ महिना त्या वर्षांतील आरंभींचा कां अखेरचा हें पाहून तारीख ठरवावी लागते. नाहीं तर तारीख एक वर्ष अगोदर किंवा मागाहून लागल्यानें सुबोध पत्रही दुर्बोध होऊन जाईल. शके १५५८ च्या वैशाख अमावास्येस याचें १०३७ साल सुरू होत आहे. आरंभीं १२ दिवसांनीं हिजरी १०४६ व मोहरम महिना सुरू होत आहेत. हें साल १५५९ च्या ज्येष्ठांत शु. ११ स सरत आहे. त्यावेळींही मोहरम महिनाच चालू आहे. हिजरी वर्ष मात्र बदलून १०४७ हें आलें आहे. या वर्षी मोहरमच्या १–९या तारखा दोनदां आल्या आहेत. याचा प्रचार उत्तरेंत नसून फक्त दक्षिणेंत व तोही आदिलशाही व निजामशाही राजवटींत होता. हा अंकांत लिहिलेला सहसा आढळत नसून अंकदर्शक शब्दांनीं याचा उल्लेख सर्वत्र केलेला आढळतो.

फसली—ही कालगणना कोणी प्रथम सुरू केली हें निश्चित सांगतां येत नाहीं. दक्षिणेमध्यें ही गणना शहाजहान बादशहानें हि. स. १०४६ मध्यें सुरू केली. सुहूर सनाप्रमाणेंच आरंभीं या सनाचें १०४६ हेंच वर्ष धरून काल गणनेस सुरवात केली. फसली १०४६ ला सुहूर १०३७ येत असल्यामुळें हा सन सुहूरच्या पुढें ९ वर्षें आहे. सुहूर सनाप्रमाणेंच याचें नवीन वर्ष मृगनक्षत्रावर सुरू होतें. महिने व तिथि सुहूरप्रमाणेंच चांद्रमानाच्या आहेत. याचें शकांत रूपांतर करावयाचें असल्यास ५१२ व ५१३ अशीं वर्षें अनुक्रमें मिळवावीं लागतात.

राजशकः—ही गणना शिवाजीनें आपल्या राज्याभिषेकापासून सुरू केली. राज्याभिषेक श. १५९६ ज्येष्ठ शुद्ध १३ स झाला. अर्थात् या पद्धतीचें शकांत रूपांतर करण्यासाठीं ज्येष्ठ ते फाल्गुन १५९५ व चैत्र ते ज्येष्ठ शु. १३ पर्यंत १५९६ मिळविले पाहिजेत. याच्या किंवा अशाच इतर आड महिन्यांत (चैत्राशिवाय) सुरू होणाऱ्या कालगणनेच्या एकाच वर्षी दोन संवत्सरनामें येतील. उदाहरणार्थ राजशक १ ला आनंद संवत्सरही येईल व राक्षस संवत्सरही येईल.

जव्हार शक—जव्हार संस्थानांतील पत्रांतून हा शक आढळतो. याची सुरवात शके १२६५ ज्येष्ठ शु. १२ स झाली आहे. अर्थात् जव्हार पद्धतीला शकाचें रूपांतर द्यावयाचें असल्यास ज्येष्ठ ते फाल्गुन १२६४ व चैत्र ते ज्येष्ठ शु. १२ पर्यंत १२६५ वर्षें मिळविलीं पाहिजेत.

जुलूस— मोगल बादशहा व विजापूरचे बादशहा यांनीं जुलूस सन वापरलेला आहे. जुलूस सन म्हणजे राज्याभिषेकाचें वर्ष. आपल्याकडे राज्याभिषेक वापरण्याची पद्धत फार जुनी आहे. चालुक्य, राष्ट्रकूट वगैरे घराण्यांतील राजपुरुषांनीं सर्रास आपल्या राज्याच्या अभिषेकाचें वर्ष वापरलें असून अशा वर्षगणनेस सर्वांचें 'विजयराज्यसंवत्सर' असें सामान्य नांव आहे. येवढेंच नव्हे तर कांहीं कुलांनीं आपले स्वतःचे नवीन शक सुरू केले. उदाहरणार्थ, कल्चूरी, शिलाहार यांचे स्वतंत्र शक आहेत. तसेंच कल्याण चालुक्यांपैकीं एकानें आपल्या नावानें एक नवीन शक सुरू केला होता. शिवाजीनें या बाबतींत दुसऱ्या पद्धतीचें अनुकरण केलें; म्हणजे इतर राजांप्रमाणें त्यांनें आपल्यापुरताच राज्याभिषेक शक सुरू न करतां नवीन शक सुरू केला. तो पेशवाईअखेर कागदांत चालूं असलेला दिसतो. निजामशाहींत जुलूस वापरीत नसत. शिवकालांत आदिलशाही व मोगल या दोन घराण्यांपैकीं तीन पुरुषांनीं आपला जुलूस वारपलेला दिसतो. हे तीन पुरुष म्हणजे विजापूरचा अली आदिलशहा आणि मोगलांपैकीं शहाजहान व औरंगजेब हे होत. अली आदिलशहा हिजरी १०६७ च्या मोहरम २६ ला (श. १५७८ कार्तिक व. १३ इ. स. १६५६ नोव्हें. ४) गादीवर आला. त्यानें आपला स्वतःचा नवीन जुलूस सुरू केला. व तो सुमारें १६ वर्षें म्हणजे त्याच्या मरणापर्यंत चालू राहिला. (मृत्यू १५९४ मार्ग.) मोंगलांपैकीं शहाजहान हिजरी १०३७ जमादिलाखर १ ला (श. १५४९ माघ शु. २ इ. १६२८ जाने. २८) गादीवर आल्यामुळें त्या दिवशीं त्याचा जुलूस सन सुरू झाला व तो ३२ वर्षें चालला. त्यानंतर औरंगजेब गादीवर आला. औरंगजेबाचे राज्याभिषेकसमारंभ दोन दिवशीं झाले. पहिला श. १५८० श्रावण शु. १ स व दुसरा १५८१ ज्येष्ठ व. ११ स (इ. स. १६५९ जून ५) पण जुलूस सन यापैकीं कोणत्याच दिवशीं सुरू न होतां हिजरी १०६८ च्या रमजान महिन्यांत १ तारखेस (श. १५८० ज्येष्ठ शु. २ इ. स. १६५८ मे २३) सुरू झाला व तो ५१ वर्षें चालू होता.

इसवी सनः— हा कसा सुरू झाला हें प्रसिद्धच आहे. शिवकालांत या कालगणनेंत दोन प्रकार उत्पन्न झाले होते. एक ओल्ड स्टाईल व दुसरी न्यू स्टाईल. न्यू स्टाईल ओल्ड स्टाईलच्या १० दिवसांनीं पुढें आहे. म्हणजे न्यू स्टाईलच्या इ. स. १६७४ जानेवारीला ओल्ड स्टाईलची तारीख

इ. १६७३ डिसेंबर २२ हीं येते. येथें ज्या परकीयांनीं वखारी घातल्या त्यांपैकीं पोर्तुगीज, डच, व फ्रेंच हे न्यू स्टाईल व इंग्लिश ओल्ड स्टाइल वापरीत असत. अर्थात् पत्रांची संगति लावतांना स्टाईलची बाब अवश्य विचारांत घेतली पाहिजे.

महिने व वार— मुसलमानी पद्धतींत वर्षगणना जरी निरनिराळ्या जसल्या तरी महिने एकच आहेत. तसेंच वारही सर्वांचे सारखेच आहेत म्हणून ते पुढें देतों:—महिन्यांचीं नांवें (१) मोहरम किंवा मोहरम उल् हराम (२) सफर किंवा सफर उल् मुजफर (३) रबिअ उल् अवल (४) रबिअ उल् आखिर किंवा रबिअ उस्सानी (५) जमादि उल् अवल (६) जमादि उस्सानी किंवा जमादि उल् आखिर (७) रजब किंवा रजब उल् मुरजब (८) शाबान किंवा शाबान उल् मुअजम (९) रमजान किंवा रमजान उल् मुबारक (१०) शवाल किंवा शवाल उल् मुकरम (११) जिल्काद (१२) जिल्हेज. यांतील हराम (पवित्र), मुजफर (यशस्वी), अवल (पहिला) सानी (शेवटचा), मुरजब (पवित्र); मुअजम (श्रेष्ठ) मुबारक (दयाळू); मुकरम (प्रिय) हे शब्द त्या त्या महिन्यांना लावलेलीं विशेषणें आहेत. मराठी पत्रांत महिन्यांचे उल्लेख नुसते किंवा सविशेषण केलेले आढळतात.

वारांचा क्रम आपल्या सारखाच आहे. मात्र नांवें भिन्न आहेत. वार तिथी प्रमाणेंच रोज संध्याकाळीं बदलतो. गुरुवार सायंकाळ ते शुक्रवार सायंकाळ पर्यंतचा जो वार त्यास जुमा किंवा आदिना म्हणतात. शुक्रवार सायंकाळ ते शनिवार सायंकाळ या वारास शंबा किंवा हफ्ता म्हणतात. अशाच रीतीनें पुढील वारांस यकशंबा, दोशंबा, सीशंबा, चहारशंबा, पंजशंबा हीं फारशी नांवें किंवा इहिदेशंबा, इसनेशंबा, सलासशंबा, अर्बाशंबा, खम्सशंबा हीं अरबी नांवें आहेत.

कोणत्याही कालगणनेंतील एका मितीचें दुसऱ्या कालगणनेंत रूपांतर करावयाचें झाल्यास एकाच मितीस दुसरीचे दोन वार व दोन मित्या (क्वचित एक किंवा तीन) दिल्या पाहिजेत. पण असें करणें अतिशय जिकीरीचें व गैरसोईचें असल्यानें पंचांगें किंवा जंत्र्या यांतून प्रायः एकच वार, मिति व तारीख हीं दिलेलीं असतात.

येथवर निरनिराळ्या कालगणना आणि मुसलमानी महिने व वार यांची माहिती दिली. आतां प्रत्येक रिसायतींतील तारखा घालण्याची पद्धत कशी होती तें सांगतों.

निजामशाही पद्धत—खास निजामशाही फर्मानांत आरंभीं सुहूर घालीत व शेवटीं हिजरी सन घालीत. मात्र हिजरी सन आंकड्यांत न घालतां तदंकवाचक जे अरबी शब्द त्या शब्दांनीं दर्शवीत. उदा. खं. २० ले. २५४, २५५ हीं निजामशाही पत्रें पहा. यांत आरंभीं सुाा सन सबा अलफ असा सुहूरचा उल्लेख आहे व शेवटीं तेरीख १७ किंवा २२ माहे जिल्कादी खमस अशर अलफ असा हिजरी सनाचा उल्लेख आहे. आणखी उदाहरणाकरतां त्रै. २ पृ. ५६, ५७, ५८ व १४१, १५१-१५६ व खं. १५ ले. ४००-०१-०२ हीं पत्रें पहा. शके१५४०पासून शके १५५८ पर्यंत निजामशाहींत मलिकंबर व शहाजी हे अनुक्रमें सर्वाधिकारी होते. अर्थात् त्यावेळच्या खुद्द पादशाही फर्मानांत मलिकंबर किंवा शहाजी यांची तारखा घालण्याची पद्धतच बहुधा दिसून येते.

दुसऱ्या पायरीचे अधिकारी म्हणजे सुभेदार वगैरे प्रांताधिकारी. पहिले पहिले अधिकारी फर्मानाप्रमाणेंच प्रथम अरबी शब्दांत सुहूर सन व शेवटीं अरबी शब्दांत हिजरी सन घालीत. उ. खं. २० ले. २२६ पहा. यांत आरंभीं सुहूर घालून शेवटीं हिजरी सन घातलेला आहे. मलिकंबर व शहाजी यांनीं ही पद्धत टाकून दिली. त्यांच्या पत्रांतून प्रथम अरबी शब्दांनीं सुहुर सन दिला असून शेवटीं फक्त तारीख व महिना येवढींच दिलेलीं आहेत उ. सा. २८७ किंवा खं. २० ले. २५७ पहा. यांत प्रथम सुहूर देऊन शेवटीं फक्त तारीख व महिना दिलेले आहेत.

तिसऱ्या प्रकारचीं पत्रें म्हणजे महालकरी, मामलेदार, ठाणेदार वगैरे अधिकाऱ्यांनीं लिहिलेलीं पत्रें. यांत आरंभीं सुहूर सन देऊन शेवटीं फक्त तारीख व महिना हीं दिलेलीं असतात. उ. खं. २० ले. २२४ पहा. यांत आरंभीं सुहूर सन आणि शेवटीं महिना व तारीख दिलेलीं आहेत. खं.२० ले. २२५हा ठाणेदाराचा हुकूम असूनहीं आरंभीं सुहूर व शेवटीं हिजरी दिला आहे. पण अशीं उदाहरणें फारच थोडीं आहेत.

विजापुरी पद्धत— विजापुरी राजवटींत बादशाही पत्रावर आरंभीं सुहूर सन घालून शेवटीं तारीख, महिना, व हिजरी सन घालीत असत. यांत तारीख व सन हीं कधीं अंकांनी दाखवीत, कधीं तदंकवाचक फारशी शब्दांनीं दाखवीत, तर कधीं फारशी शब्दांऐवजीं अरबी शब्दांनीं सन व तारीख व्यक्त करीत. कधीं कधीं अंक व अंकवाचक शब्द दोन्ही लिहीत. उ. त्रै. व २ पृ. ६० पहा.

येथें एक विजापुरी फर्मान आहे. त्यांत आरंभीं सुहूर सन देऊन शेवटीं नहूमे ९ शहरे रमजान सने १०५९ असा उल्लेख आहे. यांत नहूम शब्द ९ अंक वाचक आहे हें उघड आहे. खं. २१ ले. १ मध्यें आरंभीं सुहूर व शेवटीं तारीख दुयेम ... सन एक हजार सात असा उल्लेख आहे. सर. ले. ४२,४३, ४४ त आरंभीं सुहूर व शेवटीं हिजरी दिला आहे. श्री. आतार यांनीं मंडळाकडे पाठविलेल्या फर्मानांवर शेवटीं तारीख हफ्तुम...सना १०७० असा उल्लेख आहे. बशीर अहमद यांनीं प्रसिद्ध केलेल्या ' फरामीनुस्सलातीन ' या पुस्तकांत दिलेल्या विजापुरी फर्मानांवर अशा तऱ्हेनें सुहूर व हिजरी यांचे उल्लेख केले आहेत. विजापूर बादशहांपैकीं दुसरा अली आदिल यानें आपला जुलूस सुरू केला होता. तेव्हां त्याच्या पत्रावर जुलूस सांपडावा हें साहजिक आहे. खं. २० ले. ७६ मध्यें किंवा मंडळाच्या संग्रहीं कांहीं फर्मानें आहेत त्यांवर तारीख व हिजरी सन याबद्दल अरबी शब्दच वापरलेले आहेत. व एकावर अली आदिलचा जुलूसही आहे.

विजापुरी राजवटींतील दुय्यम प्रतीच्या अधिकाऱ्यांच्या पत्रांत सामान्यतः आरंभीं सुहूर सन घालून शेवटीं फक्त तारीख व महिना यांचा उल्लेख केलेला असतो. अशीं पत्रें आज शेंकडों उपलब्ध आहेत. त्यांचीं उदाहरणें शिवकालीन कागदपत्रांच्या बहुतेक पुस्तकांत सांपडतील. क्वचित् दुय्यम अधिकाऱ्यांनींही शेवटीं हिजरी सन घातला आहे.

या अधिकाऱ्यांचा सनाचा उल्लेख करण्याचा आणखी एक प्रकार आहे. कांहीं पत्रांतून आरंभीं व शेवटीं अरबी शब्दांत सुहूर सनच सांगितलेला असतो उ. खं. २० ले. ८६ यांत आरंभीं व शेवटीं सन सबा अबैन असा उल्लेख केला आहे.

परगण्याहून सुटलेल्या हुकमावर प्राय: आरंभीं सुहूर सन व शेवटीं तारीख व महिना हीं दिलेलीं असतात. हिजरी किंवा जुलूस वापरलेले आढळत नाहींत उदाहरणार्थ खं. २० मधील चित्रावप्रकरणीं पत्रें पहा.

मोगली पद्धत—मोगली राजवटींतील शहाजहान व औरंगजेब यांच्या कारकीर्दींचीं दक्षिणेंत पत्रें आहेत. शहाजहान व औरंगजेब या दोघांचेही जुलूस होते. त्यामुळें त्यांच्या पत्रांतून हिजरी व जुलूस असे दोन्ही प्रकारचे सन दिलेले आढळतात. सुहूर सन मोगलांनीं कधींही वापरलेला नाहीं. दोघांच्याही पत्रांत आरंभीं कोणताही सन घालीत नाहींत. शेवटीं तारीख, महिना व हिजरी किंवा जुलूस, किंवा हिजरी व

जुलूस दोन्हीही वापरलेले आढळतात. तसेंच तारीख व सन यांचा निर्देश कधीं अंकांनीं तर कधीं अंकवाचक फारशी शब्दांनीं केलेला आढळतो. खं. ८ व प्रभात मासिक यांत दिल्लीपतीचा पत्रव्यवहार आला आहे. त्या पत्रांच्या मूळ फारशी नकला मंडळाच्या संग्रहास आहेत. खं. ८ ले. ३ च्या फारशी अस्सलांत 'तारीखे हफ्तुम शहरे जिअल्काद सना २३ जुलूस ' असे शब्द आहेत खं. ८ ले. ४ च्या फारशी अस्सलांत शेवटीं तारखेचा उल्लेख ' तहरीर फीतारीखे पंजुम शहरे जिल्हेज सना बीस्त व से जुलूस मिमिनत मानूस मुताबिक सना हजार व पंजाह व नुह हिजरी' असा आहे. खं. ८ ले. ५ च्या फारशी रूपांत शेवटीं 'तारीखे १८ रजबुल मुरजब सना ३१ ' असा उल्लेख आहे. हीं सर्व पत्रें शहाजहानाच्या कार-कीर्दीतील आहेत हें हिजरी सनावरून उघड होतें. खं. ८ ले. ६ चें पत्र औरंगजेबानें राज्याभिषेक झाला नसतांना पाठविलेलें आहे याच्या शेवटीं 'गुर्रे शहरे जमादिउल्‌ आखिर सना १०६७ ' असा उल्लेख आहे. अर्थात १०६७ हें हिजरी साल आहे. खं ८ ले. ७ च्या फारशी नकलेंत शेवटीं ' बतारीखे ४ जिल्काद सना इहिदे अज जुलूस मुताबिक सना १०६९ हिजरी ' असा कालाचा उल्लेख केला आहे. इहिदे हा एक अंक वाचक अरबी शब्द आहे. असे अनेक उल्लेख निरनिराळ्या २।३ प्रकारचे दाखवितां येतील.

मोगली दुय्यम अधिकाऱ्यांनीं लिहिलेलीं फारशी पत्रें उपलब्ध नाहींत. शि. प्र. पृ. १९४ वर एक जयसिंगाचें फर्मान दिलें आहे त्यांत तारखेचा उल्लेख 'बतारीखे चहारूम शहरे जमादि उल्अवल सना ७ जुलूस' असा आहे. खं. २० ले. २३८ व २५४ चीं पत्रें एका मोगली आधिकाऱ्याचीं आहेत. त्यांत विजापुरी शिर-स्त्याप्रमाणें आरंभीं सुहर आणि शेवटीं महिना व तारीख हीं घातलीं आहेत. खं. २० ले. १९९ च्या पोटांत एक सनद छापिली आहे. हीं मोगली दुय्यम अधिकाऱ्यानें लिहिली आहे. शेवटीं केलेला तारखेचा उल्लेख ' तारीख गुरे माहे जिल्हेज सन ९ जुलूसे वाला मुताबिक सन १०७६ ' असा आहे. औरंगजेबाच्या ९ जुलु-सला १०७६ फसली येत आहे. एकंदरींत दुय्यम अधिकाऱ्यांनीं फसली सन बराच वापरला असावा असें वाटतें.

तिय्यम अधिकाऱ्यांनीं लिहिलेलीं पत्रें विजापुरी पद्धतीचेंच अनुकरण करतात.

शिवशाही पद्धत—शिवशाहीच्या कागदांत शहाजीचेही हुकूम येतात. शहाजी-च्या हुकमांत आरंभीं सुहूर आणि शेवटीं महिना व तारीख दिलेली असतात. शिवाजीच्या पत्रांत २।३ प्रकार आढळतात. कांहीं पत्रांत आरंभीं सुहूर आणि शेवटीं

तारीख व महिना यांचा उल्लेख असतो. उ. सा. ले. २३९ पहा. यांत आरंभीं सुहूर व शेवटीं तारीख व महिना दिलेलीं आहेत. शिवाजीनें राजशक सुरू केला हें खरें. पण राजशक सुरू झाल्याबरोबर हिंदु महिना, मिति किंवा राजशक यांचा सर्रास उपयोग होऊं लागला अशी जर कोणाची समजूत असेल तर ती अगदीं चुकीची आहे. राज्याभिषेकानंतर किती तरी पत्रें अशीं आहेत कीं, ज्यांत सुहूर सन आणि मुसलमानी तारीख व महिना वापरलेलीं आहेत. उ खं. ८ ले. ३१ पहा. हें पत्र राज्याभिषेक झाल्यावर ५।६ महिन्यांनीं लिहिलेलें आहे. यांत मुसलमानी सन, तारीख व महिना नेहमींच्या पद्धतीनें दिलेलीं आहेत. उत्तरोत्तर मुसलमानी कालगणना शिवाजीच्या पत्रांतून कमी कमी होत जाऊन त्या ठिकाणीं राज्याभिषेक शक आणि हिंदु मास व मित्या यांचा जास्त जास्त प्रचार झाला हें खरें. उ. खं. ८ मधील ३३ ते ३६ लेखांक पहा. यांत राज्याभिषेक शक, हिंदु मास व मिति हीं आढळतात.

शिवाजीच्या २ ऱ्या व तिसऱ्या प्रतीच्या अधिकाऱ्यांनीं शिवाजीनें प्रयोगांत आणलेली कालगणनेची पद्धत उपयोगांत आणली असल्यानें तीविषयीं जास्त लिहिण्याची जरूरी नाहीं.

एका पद्धतीचा उल्लेख मात्र येथें केला पाहिजे. शिवशाहींतील कांहीं पत्रांवर शेवटीं तारीख, महिना व सुहूर सन हीं नमूद केलेलीं असतात. उ. खं. ८ ले. १२ पहा. यांत पत्राचे शेवटीं छ. ४ माहे रमजान सन सलास सितैन असा उल्लेख आहे. आणखी उदाहरणांकरितां इतिहाससंग्रहांतील 'गोमंतकाच्या इतिहासाचीं साधनें' हें प्रकरण पहा.

मित्यांविषयीं कांहीं विशेष—इ. वृ. १८३४ पृष्ठ ५६ वर एक मिरासीपत्र छापलें आहे. त्याची मिति त्या पत्रांत १५९१ सौम्य संवत्सर ज्ये. शु. ७ शुक्रवार अशी दिली आहे. जंत्रीप्रमाणें ज्येष्ठ शु. ७ गुरुवारीं ९ घटका ४ पळें असून शुक्रवारीं ८ मी १३ घटका ७ पळें आहे. या ठिकाणीं ७ मी प्रमाण मानावी तर वार चुकीचा लिहिला असें म्हणावें लागतें. वार प्रमाण धरला तर तिथी चुकीची घातली असें मानावें लागतें. सामान्यतः लोकांच्या ध्यानांत वार जितका निश्चयानें रहातो तितकी तिथि राहणें शक्य नाहीं. पंचांगाचा प्रसार आज जसा घरोघर झालेला दिसतो तसा पूर्वीं नव्हता. निदान खेडेगांवीं तरी (आजच्या स्थितीवरून पहातां) प्रत्येकाचे घरीं पंचांग असेल असें म्हणवत नाहीं. उलट वरील पत्रांत खरेदी विक्री करणारे अनुक्रमें जोशी कुळकर्णी आहेत

यामुळें त्यांनीं पंचांगांत तिथि पाहिली नसेलसें म्हणवत नाहीं. तरी पण तिथि चुकण्याची संभवनीयता जास्त येवढें मात्र खरें. येथें हेंही सांगून ठेवण्यास हरकत नाहीं कीं, अस्सल पत्रांत कित्येक वेळां अक्षय्य तृतीया, नागपंचमी, दसरा, अशा एकाद्या प्रसिद्ध तिथीचा उल्लेख असतो. अशा वेळीं मात्र तिथीच प्रमाण धरली पाहिजे. पण अशा तिथींना दिलेले वार चुकल्याचें आढळांत नाहीं. उलट दिव्य प्रकरणीं, शनिवार, रविवार, मंगळवार हे दिव्यांगभूत कार्यें करण्याचे ठरलेले असल्यामुळें अशा वेळीं वार व तिथी यांचा मेळ नसल्यास वार बरोबर मानून तिथि चुकीची मानिली पाहिजे.

शिवचरित्र साहित्य ले.२६७ मध्यें आरंभीं सुहुर सन १०४२ दिला आहे व शेवटीं हिजरी १०५२ जमादिलावल १७ ही तारीख दिली आहे. सुहुर १०४२ मध्यें जमादिलावल महिना येतो पण हिजरीचें साल १०५१ येतें. हिजरी १०५२ चा जमादिलावल घ्यावा तर सुहुर १०४२ संपून १०४३ चे २।३ महिने होऊन जातात. अशा घोटाळ्याचीं पत्रेंही बरींच सांपडतात. ह्या घोटाळ्याची संगति लावण्याचा एकच मार्ग दिसतो. सुहुर १०४२ च्या शेवटीं शेवटीं म्हणजे फाल्गुनांत पत्राचा मुख्य मजकूर तयार झाला. पण शिक्का मोर्तब व निरनिराळ्या अधिकाऱ्यांचे शेरे होण्यास ४।६ महिने लागून हिजरी १०५२ च्या जमादिलावलांत पत्र पूर्ण तयार झालें. अर्थात् पत्र पूर्ण तयार झाल्याची तारीख शेवटीं घातली. या ४।६ महिन्यांच्या अवधींत सुहूर सन तर बदललाच पण मुख्यतः हिजरी बदलून नवीन वर्ष सुरू झालें. यामुळें हिजरी व सुहूर जमत नाहींत. पत्रें तर त्यांच्या स्वरूपावरून खरीं म्हणणें भाग असतें. तेव्हां वरील उपपत्तीशिवाय इतर कोणत्याही रीतीनें या घोटाळ्याचा समाधानकारक निकाल लावतां येत नाहीं. अशा तऱ्हेचीं आणखी उदाहरणें पाहिजे असल्यास अभ्यासकांनीं पुढील पत्रें पहावीं. त्रै. व. ५ पृ. ६०; फरा. सला. पृ. २२०; स. प. पृ. ५२ ले. २०; सावंतवाडी संस्थानचा इतिहास जुने लेख नं. ८९।११ वगैरे. तारखेचा असला घोटाळा असणारे लेख बहुधा शुद्ध फारशी व खाशांचे असेच असतात. बादशहाकडून हुकूम मिळविण्यास ५।६ महिने लागले तर त्यांत आश्चर्य मानण्याचें कारण नाहीं. आजही कोर्टकचेऱ्यांचा जो अनुभव येतो त्यावरून एकतंत्री बादशाही कारभारांत ५।६ महिने लागणें म्हणजे कांहींच नाहीं. खं.२० ले. १७ यांत वतन राखण्याकरितां जो वाद खेळावा लागला त्याला खर्च काय आला व कोणकोणत्या लोकांच्या गांठी भेटी घेऊन कोणकोणते

विधि करावे लागले याची हकीकत दिली आहे. त्यावरून माझें वरील म्हणणें परिस्थितीला धरूनच आहे असें म्हणावें लागेल.

दुसरा असाच एक प्रश्न संशोधकांचा थोडा घोटाळा उडवून देणारा आहे. कांहीं पत्रांत असें आढळून येतें कीं, पत्रांत उल्लेखिलेला काळ एक असावा तर पत्रावरील शिक्यांतील काळ दुसराच असावा. अशा वेळीं निराळाच काळ दाखविणारा शिक्का खुद्द बादशहाचा किंवा त्याच्या एकाद्या प्रधानाचा असतो. अर्थात् शिक्यांतील काळ ज्याचा शिक्का तो मनुष्य त्या कामावर केव्हां आला हें दाखवितो. आणि म्हणूनच शिक्यांतील काळ हा प्रत्यक्ष पत्रलेखनाच्या अगोदरचा बहुधा असतो. याशिवाय इतर कोणत्याही तऱ्हेनें या दोन भिन्न कालांची संगति लागत नाहीं. शिवशाहींतील पत्रांत हा प्रश्न उत्पन्न होत नाहीं. कारण कोणाच्याही शिक्क्यांत कालाचा उल्लेख केलेला नसतो.

कित्येक पत्रांतून सुरुसन म्हणून पुढें कांहीं तरी आंकडा घातलेला असतो त्या ठिकाणीं पाठीमागील शब्द सुरुसन असला तरी आंकडा फसली सनाचा असतो. हा प्रकार मोगली पत्रांत फार आढळतो.

कधीं कधीं वर्षाचा उल्लेख सन समान १०४७ असा केलेला असतो या ठिकाणीं समान म्हणजे सुहूर १०३८; पुढील १०४७ ही फसली वर्षसंख्या घ्यावी लागते. असे उल्लेख पुष्कळ ठिकाणीं आलेले आहेत व त्या प्रत्येक ठिकाणीं असा अर्थ केल्याशिवाय संगति लागत नाहीं.

कांहीं ठिकाणीं वर्षाचा उल्लेख सन हजार १०५७ असा केलेला असतो. या ठिकाणीं हजार शब्द काय सुचवितो हें सांगतां येत नाहीं. पण पुढील आंकडा फसली वर्ष दाखवितो हें मात्र खास.

पत्रांत कधीं कधीं हकीकत सांगतांना सन सलास असा सुहूर सनांतील एका आंकड्याचा उल्लेख असतो. तेथें सलास हें सुहूर सनाचें 'ज्याच्या शेवटीं तीनचा आंकडा आहे' असें वर्ष असतें. तें कोणतें हें पुढचा मागचा संदर्भ पाहून अदमासानें ठरवावें लागतें.

शिवकालीन कागदपत्र चाळीत असतां एक ठिकाण असें आढळलें कीं त्या ठिकाणीं हल्लींच्या पद्धतीप्रमाणें वर्षसंख्या व संवत्सरनाम हीं जुळत नाहींत तें ठिकाण पुढीलप्रमाणें:—

	वर्ष	दिलेला संवत्सर	पाहिजे असलेलें साल
खं. २० ले. ५४	१५९४	" विरोधकृत् "	१५९३

महाराष्ट्रांत संवत्सर देण्याची जी पद्धत आहे तीप्रमाणें या ठिकाणीं संवत्सरांचीं नांवें दिलेलीं नसून तामील पद्धतीप्रमाणें दिलेलीं आहेत असें वाटतें. तामील व महाराष्ट्र या दोन्ही देशांत संवत्सराचें नांव एकच असतें पण वर्ष मात्र आपल्यापुढें एक वर्ष असतें म्हणजे आपल्या १८५१ ला तामील पंचांगांत १८५२ म्हटलेलें असतें. असलीं उदाहरणें फारच क्वचित् आढळत असल्यानें त्याविषयीं जास्त लिहावयाचें कारण नाहीं. अर्थात् वरील ठिकाणीं श. १५९४ हें वर्ष दिलें असलें तरी १५९३ हेंच वर्ष घेतलें पाहिजे.

सा. ले. ३८९ हा विजापुरी कागद आहे. नेहमींच्या पद्धतीप्रमाणें आरंभीं सुहूर आहे. पण शेवटीं मात्र नेहमींप्रमाणें हिजरी न घालतां फसली घातला आहे. पण अशीं उदाहरणें फारच थोडीं असतील.

खं. २० ले. १९९ मध्यें एक पत्र आहे त्याच्या शेवटीं ९ जुलूस दिला असून नेहमींप्रमाणें त्याशीं जुळता हिजरी सन न देतां फसली १०७६ असा दिला आहे. असलीं उदाहरणेंही क्वचित् आढळतात.

टीप १

फरामीनुस्सलातीन (ले. बशीरुद्दीन अहमद M. R. A. S. लंडन) हें पुस्तक चाळीत असतां खालील दोष माझ्या नजरेस आले.

(१) ले. १३७, हि. १०५६ चा म्हणून दिला आहे. मुळांत सुहुर सीत व खमसन व अलफ हा आहे. त्याला गणितानें हिजरी १०६५ व १०६६ हीं सालें पडतात. फर्मानाच्या शेवटीं हिजरी १०५६ छापला आहे. हिजरी ग्राह्य धरावा तर सुहूर चुकला व सुहूर ग्राह्य धरावा तर हिजरी चुकला असें म्हणावें लागेल.

(२) ले. १४० हें पत्र हि. १०६६ म्हणजे महमदशहाच्या (मृत्यु हि. १०६७) शेवटच्या वर्षाचें असून आरंभीं ' मुहरे इब्राहीम आदिलशाह जगद्गुरु ' असा शिक्का आहे. इब्राहीम मरून ३० वर्षें झालीं तरी त्याचा शिक्का चालू होता हें म्हणणें सयुक्तिक दिसत नाहीं. शिवाय हि. १०६६ च्या अगोदर किती तरी वर्षें महमदशहाचा शिक्का चालू असलेला आढळतो. तेव्हां भलत्याच फर्मानास भलताच शिक्का घातल्याचें दिसतें.

(४) ले.१४२ मध्यें सुहुर सन नीट छापलेला नाहीं हिजरी१०६६म्हणून लिहला आहे. मला वाटतें तेथें सुहुर, सीत सितैन व अलफ असा पाहिजे. सितैन व अलफ छापलें आहे. सुहूर सीत सितैनला हिजरी १०७६ येतो. शेवटीं १०६६ हिजरी छापला आहे. शिक्का 'नजफ अला मुरीदे सुलतान महमद आदिलशाह' असा छापला आहे. महमदशहाचा अशा प्रकारचा शिक्का कोठें पहाण्यात नाहीं. वास्तविक तो शिक्का 'मुरीदे नजफ शाह अली पादशाह गाझी इब्ने सुलतान महमद शाह' असा असावा आणि हा शिक्का अली आदिलशहाचा आहे. शिवाय सीत सितैनला अली आदिलच राज्य करीत होता. एवंच फर्मान वास्तविक अली आदिलचें आहे. पण महमद आदिलचें म्हणून छापलें आहे.

ले. १४५ व १४६ मध्यें सुहुर किंवा हिजरी कोणतेंच वर्ष दिलें नाहीं. असें असतां पहिलें फर्मान अली आदिलशहाचें व दुसरें अनामकाचें ठरविलें आहे. फर्मानांवर जो शिक्का आहे तो शिकंदर आदिलशहाचा आहे. तेव्हां दोन्ही फर्मानें शिकंदरचीं असावींत.

ले. १४७ त आरंभीं अली आदिलशहाचा शिक्का आहे; मजकुरांत सुहुर, समान खमसैन व अलफ असा असून शेवटीं हिजरी १०६९ दिला आहे. शिक्का, सुहुर व हिजरी हीं सर्व फर्मान, अली आदिलशहाचे कारकीर्दींतील आहे असें दाखवीत असून महमद आदिलशाहाचे नांवावर ग्रंथकर्त्यानें दिलें आहे.

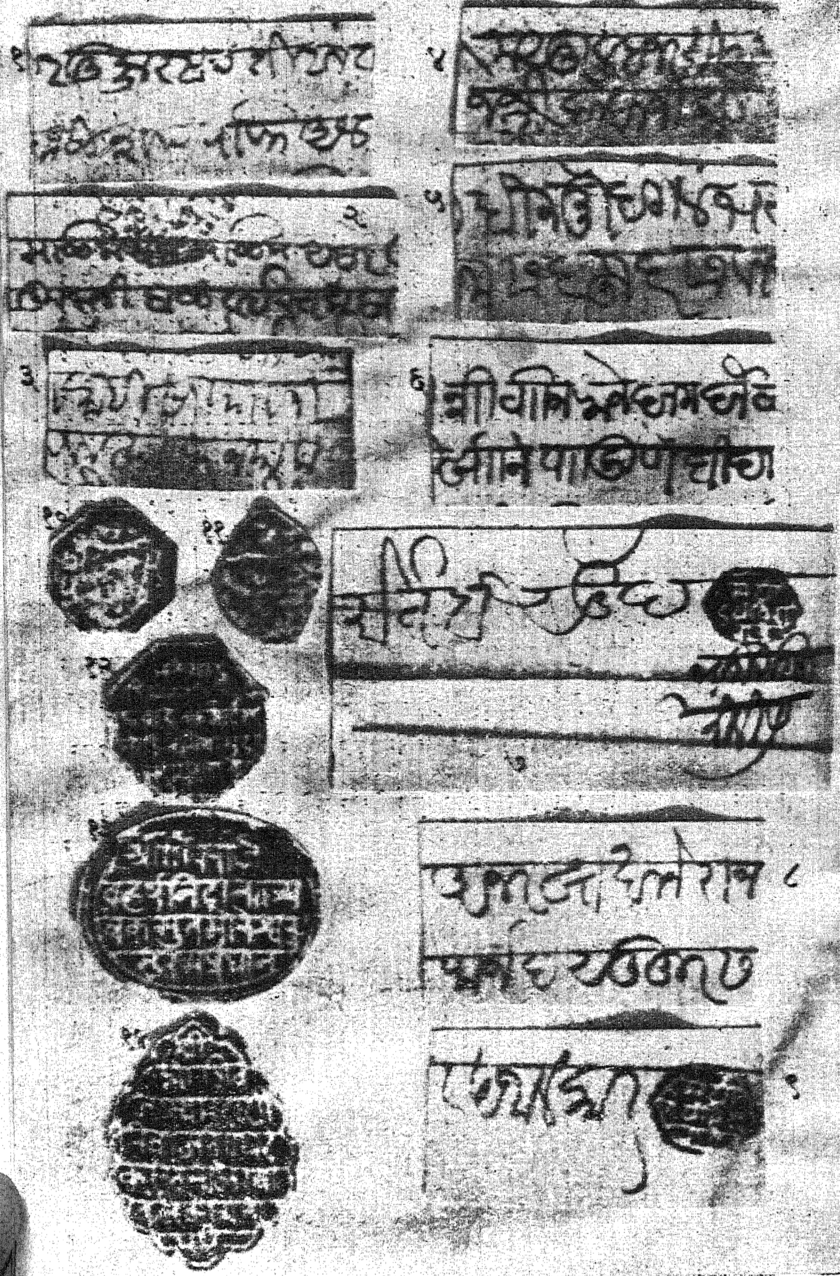
ले. १५० आदिलशहा सानीचें फर्मान म्हणून दिलें आहे. आदिलशहा सानी नांवाचा कोणीही राजा विजापुरास झाला नाहीं. शिवाय मजकुरांत सुहुर १०३१ व हिजरी १०७१ दिला आहे. या दोहोंचा मळ घालतां येणें कधींच शक्य नाहीं.

ले. १५२ शिकंदरचा म्हणून सांगितला आहे. मजकुरांत सुहुर सबैन व अलफ (१०७०) व हिजरी १०८६ दिला आहे सुहुर १०७० ला हिजरी १०८१ येईल व हिजरी १०८६ ला सुहूर १०७५।७६ येईल. कोणता तरी एक चुकीचा छापला आहे. मला वाटतें सुहुरच्या पुढें सना शब्द असून पुढें तत्सदृश सीत शब्द असावा. पण नकलणाऱ्यास हें न समजून त्याला वाटलें कीं सना शब्द चुकून दोनदां पडला आहे. म्हणून त्यानें एक सीत शब्द गाळला व मोठी चूक करून ठेविली.

ले. ४५ औरंगजेबचें फर्मान म्हणून दिलें आहे. या फर्मानांतील शिक्क्यांत सन १०६७ महमद अलमगीर बादशहा गाझी अहमद अबुअल अदल अजीजुद्दीन असा मजकूर आहे. व भोंवताली औरंगजेबाच्या १० पूर्वजांचीं, औरंगजेबाचें आणि २ वंशजांचीं अशीं १३ नांवें आहेत. हें फर्मान औरंगजेबाचें नसून आलमगीर दुसरा याचें आहे हें वंशावळ, औरंगजेबाचें नांव सन वगैरेंवरून स्पष्ट दिसून येईल. ले. ७७ ही असाच खोटा असावा याला कारणेंही वरचींच आहेत.



१ मर्तजा निजाम; २,३ मलिकंबर; ४-६ मोगल; ७ इखलासखान; ८ मुस्तफा; ९ अलीआदिल.



अक्षरांचीं वळणें— १ विजापुरी, २ मलिकंबरी, ३ दादाजी कोंडदेवी, ४-५ शहाजी, ६,
वाजी, ९ संभाजी; **शिक्के** —-१० शहाजी, ११ जिजाई, १२ शिवाजी, १३ मोरोपंत, १४ संभा

एकंदरींत या पुस्तकांत प्रसिद्ध केलेल्या कागदांचे सन वगैरेंचे आधार फार तपासून घेतलेले पाहिजेत.

टीप १

शहाजीचा शिक्का अष्टकोनी पाऊण इंच रुंदीचा असून आंत बंदा शहाजी भोसला असें लिहिलें असावें. अक्षरें स्पष्ट लागत नाहींत.

जिजाबाईंचा शिक्काही फारशीच होता. आकार कुयरीचा असून जास्तींत जास्त लांबी व रुंदी $\frac{6}{8}$ व $\frac{1}{2}$ इंच आहे.

शिवाजीची मुद्रा (अष्टकोनी १ इंच लांब रुंद) त्याच्या हयातभर एकच होती ती म्हणजे 'प्रतिपच्चंद्रलेखेव वर्धिष्णुर्विश्ववंदिता शाहसूनोः शिवस्यैषा मुद्रा भद्राय राजते' ही होय 'मर्यादेयं विराजते' ही शिवाजीची मोहर असून तिची लांबी रुंदी अनुक्रमें $\frac{1}{2}''$ व $\frac{5}{8}''$ आहे. मोहर षट्कोनी आहे.

शिवाजीचे प्रधान तीन झाले असून त्यांच्या ४ मुद्रा आहेत. पहिला प्रधान शामराज रांझेकर याची मुद्रा वाटोळी १ इंच व्यासाची 'श्रीशिवनरपति हर्षनिदान सामराज मतिमत प्रधान' अशी होती. ही श. १५८४ वैशाख शु. १३ पर्यंत आढळते.

दुसरा प्रधान महादजी याची मुद्राही वर्तुळाकार १॥ इंच व्यासाची व 'श्रीशिवनरपति हर्षनिदान महादेव मतिमत् प्रधान' अशा मजकुराची होती. ही शके १५९४ फाल्गुनपर्यंत चालू होती.

शिवाजीचा तिसरा प्रधान मोरोपंत याच्या मुद्रा तीन आढळतात. एक कुयरीच्या आकाराची असून ती श्रीशिवचरणीं तत्पर त्र्यंबकसुत मोरेश्वर अशी होती. दुसरी लंब वर्तुळाकार १×१॥ व्यासाची असून तींत श्री शिवराजेन्द्र हर्षनिदान त्र्यंबकसुत मोरेश्वर मुख्यप्रधान अशी आहे. तिसरी मुद्रा ही दुसरीच्याच मापाची पण एषा श्री शिवराजेंद्र, मुख्यामात्यस्य सत्यधृक ॥ मुद्रा मोरेश्वरस्यास्तां भद्रा सद्राज्यदायिनी अशी होती. पहिली मुद्रा श. १५९७ च्या विजयादशमीपर्यंत खात्रीपूर्वक चालू होती. दुसरी मुद्रा वरील विजयादशमीनंतर चालू झाली असावी; कारण सा. २७५ व २७६ हीं पत्रें श. १५९७ आश्विन शु. ४ व वद्य १० चीं असून पहिल्यांत पहिली व दुसऱ्यांत दुसरी मुद्रा आहे. यानंतर मोरोपंताच्या दोन मुद्रा कांहीं दिवस चालू असाव्यात; कारण रामदास रामदासीच्या ६३।६४ अंकांतील महजरांत मोरोपंताची पहिलीच मुद्रा आहे. श्रीसंप्रदायाचीं कागदपत्रें यांतील १५९८ शकांतील कागदांत मोरोपंतांची दुसरी मुद्रा आहे. तर खं. ८ ले ३६ श. १५९९ चा असूनही त्यांत पहिलीच मुद्रा आहे. तिसरी मुद्रा श. १६०२ च्या कार्तिक महिन्यांतील पत्रांत दिसते. पण आंतील शब्दांवरून ती शिवाजीच्या मरणापूर्वीची (श. १६०२ चैत्र

१५) असावी असें वाटतें. मोरोपंताची मोहोर वाटोळी असून 'विळसति लेखनांकधिर्मुद्रा' अशा मजकुराची आहे.

शिवाजीच्या कार्यकारी मंडळापैकीं सेनापति प्रतापराव गुजर याची मुद्रा चौकोनी असून तींत 'श्री शिवसेनाधिपमुद्रा जयति सुभद्रा प्रतापरायस्य' असा मजकूर आहे. (रामदास रामदासी अं. ६३।६४ यामध्यें प्रतापरावाच्या मुद्रेवर नागोजी गुजर लिहिलें आहे.तर पत्रसारसंग्रह ले. १४४१ मध्यें व बखरींमधून प्रतापरावाचें कडतोजी गुजर नांव येतें; तेव्हां प्रतापरावास दोन्ही नांवें होतीं असें वाटतें. याची मोहोर अजून आढळली नाहीं.) शिवाजीचा दुसरा सेनापति हंबीरराव (हंसाजी) मोहिते याच्या दोन मुद्रा होत्या. पहिली वाटोळी व 'श्रीमच्छिवमहानुभाव सेनाधीश हंबीरराव' अशा मजकुराची आहे. व दुसरी 'श्री शिवचरणीं दृढभाव, सरलष्कर मोहिते हंबीरराव' अशी होती. दोन्ही मुद्रा शिवाजीच्या कारकीर्दीतील दिसतात. पण पहिली मुद्रा श. १६०६ त (खं. १५ ले. १०) व दुसरी शके १६२७ मधील (खं ८ ले. ५३) आहे. पहिलीची संभवनीयता आहे. पण दुसरी शंकनीय आहे.

अनाजी दत्तोची मुद्रा षट्कोनी व 'श्रीशिवचरणी तत्पर दत्तसुत अनाजि पंत निरंतर' अशी असून मोहोर वाटोळी असून 'लेख, ना वधि रे, धते' अशा मजकुराची आहे.

शिवाजीचे धर्माधिकारी पंडितराय यांची मुद्रा लंबवर्तुळी व श्री. चिंतामणिचरणशरणं अशी आहे व मोहोर षट्कोनी व 'शुभं; भवतु' अशी आहे.

दत्ताजी त्रिमल वाकेनिवीस याची मुद्रा आढळत नसून फक्त अष्टकोनी 'मोर्तब सुद' च पहाण्यांत येतो.

टीप ३.

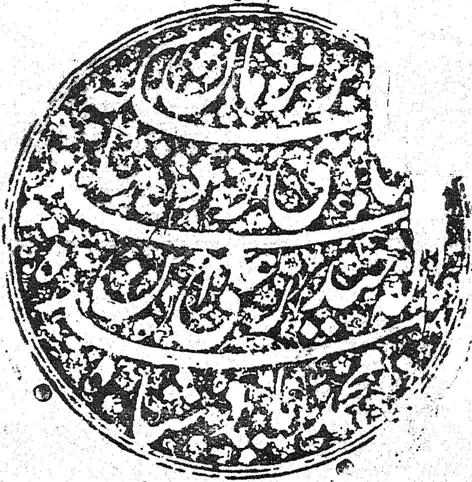
कांहीं आदिलशाही शिक्के.



इब्राहीम, महमद, व शिकंदर या तीन विजापुरी बादशहांच्या फर्मानांवर आढळणारा 'नादे अलीचा' शिक्का.



महमद आदिलशहा याच्या फर्मानावर आढळणारा शिक्का.



अली आदिलशहाच्या फर्मानांवर आढळणारा शिक्का.



अली आदिलशहाच्या फर्मानांवर आढळणारा शिक्का.

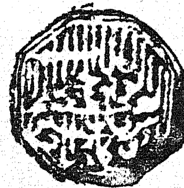


शिकंदर आदिलशहाच्या फर्मानांवर आढळणारा शिक्का



इब्राहीम आदिलशहाच्या प्रधानांचा जोडशिक्का.





फर्मानांचे पाठीवर शेरे लिहिणाऱ्या दोन अधिकाऱ्यांचे शिक्के.

जंजिरेकर सिद्दी

(लेखक— वा. सी. बेंद्रे, पुणें)

मोंगली साम्राज्यसत्तेला नवीन मराठी राजसत्तेचा अंकूर तोडून टाकणें जसें विशिष्ठ परिस्थितीमुळें अशक्य झालें; तसेंच मराठी राजसत्तेला जंजिरेकर सिद्यांचा मोड करणें अशक्य झाल्याचा दाखला इतिहासांत नमूद झालेला आहे. लष्करी शक्तीनें व संपत्तीनें अगदीं नामोहरम झाला असतांना सुद्धां वेळोवेळीं केवळ विशिष्ठ भौगोलिक परिस्थितीचा व शिवाजीच्या शत्रुमित्रांच्या मदतीचा फायदा घेऊन सिद्दी शेवटपर्यंत मराठ्यांशीं शत्रुत्व ठेवूनच टिकाव काढूं शकला, ही गोष्ट शिवकालीन आरमारी युद्धशास्त्रांतील हिंदी लोकांच्या तयारीचें जसें चित्र रेखाटते त्याचप्रमाणें तत्कालीन राजसत्तेची अन्तर्गत व्यवस्था किती पोकळ होती हेहि दिसून येतें. या दृष्टीनें सिद्दीचा इतिहास महत्वाचा वाटल्यास नवल नाहीं.

क्षेत्रफळः— जंजिरेकर सिद्याच्या मुलखाला हबसाण म्हणून संबोधलें जातें. हें हबसाण १७° ५९′ व १८° ३२′ अक्षांश व ७२° ५७′ व ७३° २१′ रेखांशामध्यें वसलेलें आहे. याचें क्षेत्रफळ सुमारें ३२५ चौरस मैल असून यांत मुख्यतः ८ तपे किंवा महाल केलेले आहेत. महालांचीं नांवें येणेंप्रमाणेंः—

१. जंजिरा कोट, २ मुरुड, ३ नांदगांव, ४ मांदले, ५ श्रीवर्धन, ६ म्हसळें, ७ गोवळें, ८ पंचायतन. या हबसाणाच्या उत्तरेस कुंडलिका नदी किंवा रोह्याची खाडी, पूर्वेस कुलाबा जिल्ह्यांतील रोहा, माणगांव व महाड तालुक्यांचा भाग, दक्षिणेस सावित्री नदी किंवा बाणकोटची खाडी आणि पश्चिमेस आरबी समुद्र आहे. या प्रांतास मुख्य फायदा म्हणजे समुद्रकिनाऱ्याचा होय. पश्चिमेच्या ४० मैलांच्या समुद्रकिनाऱ्याखेरीज बाणकोटच्या खाडीचा १७ मैल किनारा व रोह्याच्या खाडीचा ४–५ मैलांचा किनारा आरमारास फार महत्त्वाचा होता. याशिवाय राजपुरीचें मध्य आखात १४ मैल लांब असून बरेंच रुंद असल्यानें तर ही जागा आरमारास अत्यंत महत्त्वाची अशी होऊन राहिली होती. हा सर्व प्रान्त डोंगरी, जंगली व दलदलीचा असल्यामुळें जनावरांच्या वहातुकीस व विशेषतः पावसाळीं माणसांच्या

जा-येस अत्यंत दुर्गम असा असे. जंजिरा हें या भागाचें मुख्य ठिकाण असून तें राजापुरी आखाताच्या अगदीं तोंडावर आहे. जंजिरा-कोटाचा आकार अर्ध-वर्तुळाकृति असून सभोंवतालील तट फार मजबूत व उंच आहेत. पूर्ण ओहोटीचे वेळीं या कोटाचा कातळावरील पाया दिसतो. परंतु येथें भरती ४०-५० फूटप-र्यंत वाढते. पूर्वेस एक मोठा दरवाजा असून त्याला थेट पाण्याच्या सखल भागापर्यंत पायऱ्या बांधलेल्या होत्या. पश्चिमेच्या बाजूस एक ओटा असून तो भरतीच्या पाण्याच्या कमाल मर्यादेपेक्षां अधिक उंचीवर आहे. या ओट्यावर जाण्याकरितां एक लहानसा दरवाजाहि पश्चिमेस आहे. हा कोट फार मजबूत असून अत्यंत अवघड ठिकाणीं बांधला आहे.[१]

पूर्वेतिहास—जंजिरा निजामशाहीच्या ताब्यांत जाण्यापूर्वीची वि-श्वसनीय हकीकत फारशी उपलब्ध झालेली नाहीं. येथें प्रथम कोळी लोक वस्ती करून होते. दंडा–राजपुरीवर मासळी मारावी, वाळवावी व चरितार्थ चालवावा असा त्यांचा क्रम असे. त्यावेळीं दर्यावर्दी मलबारी व आरबी व्यापारी यांखेरीज इतरांना समुद्रकिनाऱ्याचें फारसें महत्त्व वाटत नव्हतें. त्यामुळें हा समुद्रकिनारा बहुतेक ओस पडलेलाच असावयाचा. प्रथम हे दर्या-वर्दी लोक जेव्हां या किनाऱ्यावर उतरूं लागले व राजपुरीचें ठिकाण बंदर करण्यायोग्य म्हणून तेथें येऊन ताबा घेऊं लागले; तेव्हां त्यांच्यांत व या कोळी लोकांत कांहीं खटके उडाले. या कोळी लोकांनीं या दर्यावर्दी लोकांचें चालूं दिलें नाहीं. पोर्तुगीज फिरंगी यांनींहि येथें तळ देण्याचा प्रथम प्रयत्न केला. परंतु त्यांनाहि त्या कोळ्यांनीं टिकूं दिलें नाहीं.[२] मात्र हे कोळी अहम-दाबाद गुजराथच्या मुसलमानी राजांचें मांडलिकत्व स्वीकारून रहात असावेत असें दिसतें. अहमदाबादचे मुसलमानी राजे दंडाराजपुरी हा एक त्यांच्या २५ सरकारांतील एक सरकार समजून वसूल घेत होते. परंतु या मुसलमानी राजांची सत्ता येथें कितपत मानली जात असेल याची शंका आहे.[३] इ. स. १४२९ त जी मलिक-उल-तुजार यानें कोंकणांत स्वारी केली व त्याचा मोड करण्याकरितां गुजराथच्या अहमदशाहानें आरमारासह चाल करून येऊन पुन्हां कोंकण प्रांत सोडवला त्यांत दंडाबंदर व दंडा राजपूर असल्याचा उल्लेख आहे.[४]

बहामनी कारकीर्द:—शेवटच्या बहामनी राजाच्या कारकीर्दींत जुन्न-रचा सुभेदार मलिक अहमदनें इ. स. १४८२–८३ चे सुमारास कोंकणांत स्वारी केली. ती बरींच वर्षे चालू होती. त्यांत पालीचा किल्ला घेतल्यानंतर दंडा-

राजपुरीच्या कोटाला वेढा इ. स. १४८५–८६ त दिल्याची हकीकत उपलब्ध आहे. यावेळीं येथें कोळ्यांचेंच राज्य होतें. यांना कोटाच्या तटबंदी-बद्दल बरीच खात्री वाटत होती. त्यांनीं अहमदास न जुमानतां त्याला विरोध केला. वेढा बरेच दिवस पडला होता. इतक्यांत अहमदास त्याचा बाप मेल्याची खबर आली. तेव्हां त्यानें वेढा उठविला व तो परत जुन्नरकडे गेला.[५] यावेळीं कोळ्यांचा नायक रामाऊ कोळी असावा.[६] कांहीं ठिकाणीं यावेळीं मलिक अहमदानें कोळ्यांस जेरीस आणलें व ते शरण आल्यावर त्यांना जीवदान दिलें व किल्ला त्यांचे स्वाधीन केला; मात्र सैन्यास ह्या कोळ्यांचीं घरेंदारें लुटण्यास सांगितलें व तीं त्यांनीं लुटलीं अशीहि हकीकत आढळते.[७] परंतु ही हकीकत विश्वासार्ह दिसत नाहीं. दंडा–राजपुरीचा वेढा उठवून मलिक अहमद तांतडीनें जुन्नरकडे गेला यावरून तो वेढा उठवून गेला असल्याचेंच विशेष संभवतें.

निजामशाही कारकीर्द:—मलिक अहमदाला दंडा राजपुरीचा वेढा उठवावयास लागल्यामुळें बरेंच वाईट वाटलें होतें. बापाच्या मृत्यूनंतर तो स्वतंत्र होऊन इ. स. १४९० मध्यें स्वतःच राजा म्हणवूं लागला. तेव्हां त्यानें प्रथम दंडा राजपुरीवरच धडकी दिली. पोर्तुगीजांचा या बंदरावर प्रथमपासूनच डोळा होता. त्यांची अहमदशहाकडे मागणीच पडली होती. अहमदशहानें जवळ जवळ एक वर्षपर्यंत वेढा दिला. कोळ्यानें अहमदशहास हार न जाण्याचें ठरविलें होतें उलट अहमदशहाची शक्ती व सामर्थ्य यांचें प्रदर्शन याच वेढ्याच्या यशापयशावर अवलंबून होतें. म्हणून अहमदानें वेढा अगदीं निकरानें लढविला; शेवटीं किल्ला सर केला व कोळ्यांना समुद्रांत फेंकून जीवेंच मारलें. नंतर अहमदानें किल्ल्याची चांगलीच डागडुजी करून त्याची बरीच मजबुती केली व किल्ला याकुतखानाचे हवालीं केला.[८] किल्ला सर करण्याच्या या हकीकतींत एकवाक्यता दिसत नाहीं. एके ठिकाणीं असें म्हटलें आहे कीं, अहमद वेढयाचे ठिकाणीं उभा राहून कोटाकडे पहातांना उद्गारला कीं. "ज्या ह्या कोटाला समुद्रानें संरक्षिलें आहे तो कोण घेऊं शकेल." त्याचा सेनापति सलाबतखान स्तब्ध राहिला. परंतु याकुतानें ताबडतोब समुद्रांत उडी घेतली व किल्ल्यांत शिरून किल्ला घेतला. तेव्हां अहमदानें खुष होऊन त्यालाच किल्लेदार केलें.[९] परंतु यापेक्षां अधिक संभवनीय हकीकत सांगितली जाते ती अशी:—जेव्हां कोट हस्तगत होत नाहीं असें अहमदशहानें पाहिलें तेव्हां त्यानें आपल्या पेरिमखान या नांवाच्या सरदाराबरोबर आणखी एक दोन सिद्दी

देऊन त्यांना रेशीन व दारू घेऊन एका जहाजांतून धाडलें. त्यांनीं 'आम्हीं व्यापारी आहोंत व सुरतेहून आलों आहोंत' असें सांगून रामा कोळी व इतबार-राव कोळी यांचेकडे आसऱ्यास जागा मागितली. ती त्यानीं दिली. तेव्हां आंतील कोळ्यांस त्यानें दारू पाजून बेहोष केलें व जहाजांतील पेटयांतून लपवून आणलेलीं ११७ सशस्त्र माणसें कोटांत घेऊन कोट हस्तगत करून घेतला.[१०] ज्या इतबारराव कोळयानें पेरिमखानास किल्यांत घेतले त्या इतबाररावाचें व रामा कोळी पाटिल यांचें भांडण झालें व इतबाररावाला त्यानें रात्रीं दस्त केला. परंतु पातशहाच्या हुकमावरून इतबाररावास सोडून त्याला हुजूर रवाना केलें. पातशहानें इतबारराव मुसलमान झाला म्हणून त्यास किल्लेदारी दिली व तो इ. स. १५२२ त किल्लेदारीवर आला. त्यानें ५ वर्षेपर्यं किल्लेदारी भोगली[११]. इ. स. १५२७ त बहिरवखान किल्लेदारीवर आला. तो इ. स. १५३८ पर्यंत किल्लेदार होता. नंतर काईमखानाची कारकीर्द इ. १५३८ ते इ. स. १५८७ पर्यंत झाली.[१३] बहिरवखानाचे कारकीर्दीत शहा तहीर यांस कोंकणचा सुभा दिला होता व तो जंजिरा येथें कांहीं दिवस ठाणें देऊन राहिला असावासें दिसतें. परंतु उत्तर कोंकणांतील कांहीं भाग व दंडाराजपुरीचे बंदरावर गुजराथचे मुसलमानांचा थोडाबहुत अंमल इ. स. १६ व्या शतकाच्या मध्यापासून बसला असावा असें दिसतें. निदान गुजराथचे व्यापारी येथें राहून त्या राजास खंडणी देत असावेत. जेव्हां अकबरानें गुजराथ प्रांत काबीज केला तेव्हां दंडाराजपुरी अहमदनगर सुभ्याचा एक भाग असल्याचें इ. स. १५७८ त ध्वनित केलें आहे. तसेंच काईमखानानंतर जी इ. स. १५८७ ते १६१२ पर्यंत उतुखान किंवा कांहीं ठिकाणीं म्हटल्या-प्रमाणें अलगखानी व इ. स. १६१२ ते १६१८ इब्राहिमखानी कारकीर्द जंजि-ऱ्यास झाली. ते दोघेही सरदार मोंगलीच असावेत असें दिसतें. दंडाराजपुरीस अहमदनगरचा सुभेदार सलाबतखान यास कांहीं दिवस इ. स. १५९४ त कैदेंत ठेविलें होतें.[१३]

मलिकअंबरी कारकीर्दः— परंतु मलिकंबरानें कोंकणप्रांत सोडविला व इ. स. १६१८ त दंडाराजपुरीवर सिद्दी सुरुल अबदुलखान यास सुभेदार नेमलें. यानें सुमारें दीड वर्ष कारभार पाहिला. त्याचेनंतर इ. स. १६२० त सिद्दी याकूत याची नेमणूक झाली.[१४] इ. स. १६२१ त सिद्दी अंबरास जंजिऱ्याचे सुभेदारीवर नेमलें.[१४] मलिकअंबराचें व इंग्रजांचें याच सुमारास वांकडें आलें; परंतु दंडाराजपुरीचे शिद्यांनीं त्यांना चांगल्या रीतीनें वागविल्यामुळें, जेव्हां मलिकअंब-

शांचीं जहाजें बुडविण्याचा त्यांनीं विचार केला. तेव्हां देवगडच्या इंग्रजांस सिद्दी अंबर, सिद्दी याकुत व सिद्दी रैहन यानें सिद्दी सुरूरला चांगले रीतीनें वागवावें म्हणून सूचना केली.[१५]

सिद्दी अंबरची कारकीर्दः—इ. स. १६२६ त मलिक अंबर वारला. नंतर सिद्दी अंबर व फत्तेखान यांचें बिनसल्यावरून तळकोंकणच्या हवालदारीवर हबसखानाची नेमणूक झाली. तेव्हां सिद्दी अंबरनें बंड केलें. तो इ. स. १६२८ च्या २१ फेब्रुवारीपर्यंत दंडाराजपुरी किल्यावर जोर धरून बसला.[१६] हबसखानानें कान्होजी जेधे व इतर लोकांची मदत मागितली. त्यांत हबसखान लिहितो कीं "हजरती साहेबाची आतां व मागेंहि दाभोलचे मसलतीविषयीं आज्ञा झाली. म्हणून आम्ही स्वार आलों. आम्हांमध्यें व दाभोलमध्यें तीन चार कोसांचें अंतर आहे. दाभोलचें काम बहुत असोन तुम्हांसारखे जाती असलियानें फतेच असे. तरी जमेतिनसी सिताब आले पाहिजे याबद्दल तिमाजी पाठविले आहेती."[१७] लगेच दुसरा एक खलिता गेला. "आम्हीं महाडास आलों सिताब दोभेलेस जाऊ. किताबती देखतांच स्वार होऊन येईजे. घडीचा देर न कीजे."[१८] तिसरा एक खलिता हबसखानानें तांतडीनें लिहिला. "मसलतीचे बाबे तुम्हांस हुजरून २ फर्मान व आमची ताकीद असे कागद पाठविले. तुम्ही दिवाण नफर होऊन मसलतीस हयगय केलीया कैसी सर्फराजी होईल. हाली ताजा फर्मान आला आहे. त्याप्रमाणें तुम्ही इब्राहीमखानाबरोबर स्वार होऊन येईजे.[१९] या सर्व खटपटींनींहि कान्होजी जेधे येऊन मिळालेला दिसत नाहीं. पुढील एका पत्रांत हबसखान लिहितो कीं "तुमचे बाबे येकोजी कृष्ण लिहिले ते सर्व कळून आनंद जाला. तुम्ही दौलतखा आहां. दाभोलचे मसलती चालूं आहे, तो तुम्ही येऊन मदत कराल हे काय अगाध आहे. परंतु तुमची आम्ही ८ रोजावरी (विल्हेस) वाट पाहिली. असो. आतां आमची किताबती पावतांच आम्हांस मिळावें.आमचें म्हणणें होतें कीं, मिर्जा अबदुल फत्तेखान इभरामखान हे जमेती घेऊन येतात तोंवर दाभोल कबज करावे. तरी कृष्णाजी राजे (बांदल) व तुम्ही घडीचा देर न करतां जमेतीनसी येणें. येकोजी कृष्ण बोलतां सर्व कळेल."[२०] खास निजामशाहींत मलिक अंबराच्या मृत्यूनें दोन तट पडल्यानें व नुकताच शहाजी फुटून याचवेळीं विजापूरकरांकडे गेल्यानें[२१] शहाजीच्या तटांतील जेधे बांदल हबसखानास सहजासहजीं मिळणें शक्य नव्हतें. तटांतील तेढ अद्यापपर्यंत तितकी उघड न झाल्यानें कांहीं तरी सबब सांगून मदतीस शक्य तर निदान विलंब

करावा हें सहाजिकच जेधेबांदलांनीं ठरविलें असावें. शिवाय, खास निजामशाहींतील दुफळीमुळेंच सिद्दी अंबरला बंड करून सुभा भांडवण्याचें धैर्य झालें होतें. शेवटीं इ. स. १६२८ च्या मार्चच्या सुरुवातीसच "निजामशाहीतर्फें हबसखान सिद्दी अंबरच्या दंडाराजपुरीस वेढा घालून बसला."[२१] या वेढयाचा शेवट कसा झाला हें समजण्यास मार्ग नाहीं. परंतु सिद्दी अंबर इ. स. १६३९ पर्यंत जंजिऱ्याचा सुभेदार राहिला असल्याचे उल्लेख आहेत.[२२] दंडाराजपुरीच्या तांडेलाची मदत शहाजीनें इ. स. १६३५-३६ त घेतल्याचें एके ठिकाणीं नमूद केलेलें आढळतें.[२३] परंतु त्यांत फारसा तथ्यांश दिसत नाहीं. आदिलशहा व मोंगल यांच्यामध्यें इ. स. १६३६ त जो तह झाला त्यांत निजामशाही कोंकण मोंगलाकडे द्यावयाचें ठरलें होतें. परंतु विजापूरकरानें हा मुलूख आपणच दाबून ठेवण्याचा प्रयत्न केला व तळकोकणचा भाग आदिलशहाकडे ठेवण्याचें ठरलें.[२४] मुख्यतः समुद्रावरील व्यापार व मक्केची यात्रा करणाऱ्या लोकांची सुरक्षितता राखावी या दृष्टीनें दंडाराजपुरीला यावेळीं बरेंच महत्व प्राप्त झालें होतें. म्हणून हा सर्व प्रांत आदिलशाही आरमारावरील मुख्य अधिकाऱ्याकडे ठेवण्याचें ठरलें. त्याप्रमाणें तो प्रथम सिद्दी अंबरकडे आला.[२५] इतक्यांत आदिलशहा व मोंगल यांचें बिनसलें. व इ. स. १६३९ त "शहाजहानानें विजापुरकरांना नरम केल्यामुळें व औरंगजेबाचा तळही दंडाराजपुरीजवळच पडल्यामुळें आपल्यावर हल्ला होण्याच्या भीतीनें दंडाराजपुरी शहराचा अधिकारी स्वरंक्षणाचा उपाय करील व त्यांत इंग्रजांचा फायदा होईल" असें समजून इंग्रजांना टपून बसण्याची वेळ आली होती.[२५]

मोंगली कारकीर्द—नंतर हा दंडाराजपुरीचा भाग इ.स.१६३९ ते १६४६ इ. स. पर्यंत मोंगलाकडे राहिला व सिद्दी अंबरकडून हा सुभा निघाला तो इ. स. १६४६ त पुन्हां दंडाराजपूर सिद्दी अंबर यांस दिलें. "त्याजकडून सिद्दी साद मुलखांचे हवालदारीस आला."[२६] हा प्रांत जेव्हां मोंगलांच्या ताब्यांत गेला होता व औरंगजेबाचा तळ दंडाराजपुरीजवळ पडला होता त्या सुमारास सिद्दी लोकांना त्रास दिला. बाळाजी आवजीचे बाप आबाजी हरी चित्रे हे जंजिऱ्याच्या सिद्दीजवळ दिवाणगिरी करीत होते. यावेळीं जंजिऱ्याचा किल्लेदार हाबंजीखान (?) नांवाचा सिद्दी होता. तो इ. स. १६३५ च्या सुमारास मृत्यु पावला. तेव्हां त्याचा कारभार त्याच्या लहान मुलांच्या व बेगमेच्या नांवानें

आबाजी पहात होते. तें इतर सिद्यांस न साहून त्यांनीं आबाजीस प्रथम विष घालून मारलें व नंतर त्याची पत्नी रखुमाबाई हिला व तिच्या तीन पुत्रांना गुलाम म्हणून राजापुरांत विकलें. आबाजी हरीचे बंधु खंडेराव यांना पेटाऱ्यांत घालून समुद्रांत बुडविलें.[२७] सारांश इ. स. १६३९ ते इ. स. १६४६ पर्यंत दंडाराजपुरींतील सिद्यांवरील नियंत्रण उठल्यानें ते बरेच स्वैर वागत होते. परंतु इ. स. १६४६ त तो प्रांत सिद्दी अंबरकडे येऊन इ. स. १६४७ त पुन्हा स्थिरस्थावर झाल्याचा दाखला[२६] सांपडतो. सिद्दी अंबर इ. स. १६४२[२८] मेल्याचा उल्लेख आढळतो तो चुकीचा दिसतो.

युसफखानाची कारकीर्द:——सिद्दी अंबरानंतर त्याचा मुलगा युसफखान यांजकडे दंडाराजपुरीचा सुभा झाल्याचें दिसतें. याची कारकीर्द इ. स. १६४६ ते १६५५ पर्यंत झाली.[२९] परंतु या कारकीर्दींत आदिलशाही कारभार बराच शिथिल झाला होता. प्रत्येक सुभेदार, सरदार स्वतंत्रपणें वागूं लागले होते. त्यांतच हे दंडाराजपुरीचे सिद्दी आदिलशाहीला जुमानितनासे झाले होते. इतर बंडखोर सरदारांवर आदिलशहानें जसे आपले लोक पाठवून त्यांचा बंदोबस्त केला त्याचप्रमाणें इ. स. १६५१ च्या आक्टोबरच्या सुमारास दंडा राजपुरीवर आदिलशहानें सैन्य रवाना केलें. “त्यांचे प्रतिकारार्थ दंडा राजपुरीच्या लोकांनीं वेढा पडेल या भीतीनें आपापल्या परीनें तयारी केली”[३०] औरंगजेब व आदिलशहा यांच्यांत वैमनस्य राहिल्यानें दंडाच्या सिद्यांनीं आपण मोगली सरदार आहोंत असें म्हणण्याचा धीर केला.

युसफखानी कारकीर्द इ. स. १६५५ त संपली. या अवधींत शिवाजीकडील सामराज पंत व बाजी घोलप व युसफखान (इसबखान) यांचेमध्यें बोलाचाली झाली त्याबद्दल शिवाजीला राग आला असल्याचा उल्लेख आहे.[३१] तसेंच दुसरे एके ठिकाणीं युसफखान शेखी मारून घाटापावेतों धांवत आला परंतु शिवाजी आल्याचें ऐकून घाटापासून माघारा फिरला. नंतर शामराजपंत व बाजी घोलप धाऊन गेले असा उल्लेख आहे.[३२] परंतु युसफखान इ. स. १६५५ त मला. त्यापूर्वीं शिवाजी व सिद्दी यांचा झगडा होण्याचें कारण दिसत नाहीं. मोऱ्यांची रायरी इ. स. १६५६ च्या एप्रिल-मे मध्यें घेतली.[३३] त्यानंतरच भांडण होणें शक्य आहे. अर्थात् युसफखानी कारकीर्द विजापूरकरांशींच भांडण्यांत गेली असें म्हटलें तर चालेल.

फत्तेखानी कारकीर्द:—युसफखानानंतर त्याचा बेटा फत्तेखान दंडाराजपुरी प्रांताचा हवालदार झाला. त्याची कारकीर्द इ. स. १६५५ ते १६६७ पर्यंत झाली.[३४] इ. स. १६५६ च्या एप्रिलांतील रायरीवरील मोहीम संपल्यानंतर इ.स. १६५७च्या जुलैपर्यंत शिवाजीला कोंकणपट्टीकडे लक्ष देण्यास फुरसतच नव्हती. इ. स. १६५७च्या जुलैच्या ३१ तारखेस रघुनाथपंत राजापुरीस गेले,[३५] याच सुमारास आदिलशहा व शहाजहान यांचेमध्यें तह होऊन कोंकणांतील निजामशाही किल्ले आदिलशहाकडे देण्याचें ठरलें.[३६] अर्थात या अदलाबदलीच्या भानगडींत रघुनाथपंताकडून कोंकणपट्टी काबीज करणें फार सोपें होतें. "दंडाराजपुरी येथील हबशी हा घरांतील उंदीर जैसा तैसा. ऐशियास कैसें करावें! म्हणोन तजवीज करूं लागले. तेव्हां रघुनाथ बल्लाळ सबनीस याणीं धैर्य करून, त्याजवर आपण स्वारी करतों म्हणोन बोलोन, पांच सात हजार पायलोक मावळे घेऊन राजपुरीवरी तळें घोसाळे देखील सर्व देश मारून राजपुरी पावेतों जाऊन, समुद्रकिनारा आसपाशीं सिद्दीच्या फौजा आल्या त्याही मारून घालविल्या. तेव्हां राजपुरीकरांनीं वकील पाठवून सल्ला केला आणि शपथ प्रमाण देऊन भेटीस नेले. भेटी जाहाली. सल्ल्याची बळकटी करून सख्य केलेंवरी हबशीयानें वस्त्रें व घोडा दिला. नंतर निघोन देशीं आले." हा सल्ला रघुनाथपंत तेथें असेपर्यंत टिकला.[३७] रघुनाथपंताची स्वारी कोंकणांत सबंध हिंवाळ्याभर चालली असावी म्हणजे इ. स. १६५८ च्या जानेवारीपर्यंत तरी रघुनाथपंत तेथें असावेत. या स्वारीमुळेंच पोर्तुगीजांना चौलच्या बंदोबस्तास ८० शिपाई ठेवावे लागले.[३८] कित्येक ठिकाणीं रघुनाथपंताची व शामराजपंताची दंडाराजपुरीवरील स्वारी स्वतंत्र मानण्यांत येते.[३९] रघुनाथपंतांच्या मदतीस शामराज नीळकंठ व बाजी घोलप पाठविण्यांत आले होते. कोंकणचा सुभा रघुनाथपंतास झाला होता. परंतु इ. स. १६५९ च्या सुरुवातीस रघुनाथपंताची पाठ फिरतांच सिद्दी पुन्हा कोंकणांत उपद्रव देऊं लागला. आणि विशेषतः आदिलशहाची शिवाजीवर स्वारी होत आहे याचा फायदा घेऊन तो पुन्हां जोरावारीनें वागूं लागला "खैरातखान आदिलशहाशीं मसलतीस विजापुरीं गेला."[४०] हें समजतांच "जंजिऱ्याच्या लगत्यांनीं हजारों लोक व स्वार पाठवून दंगा आरंभिला, आणि विजापुराहून परत येतां मार्गीं धरून कैद करावा अशी योजना करून, व्यंकोजी दत्तो चांगले मर्द माणूस, बहुत साहसी म्हणून त्यांची योजना केली."[४१]

" सर्वानुमतें व्यंकोजीपंतास पाठवावें असा सिद्धांत केला. महाराजांस मानलें. कित्येक झुंजांमध्यें त्याचा बदनक्षा जाहला होता. याजकरितां त्यासी रवाना केलें. पांचें हजार स्वार व दोन हजार लोक मावळे दिले" [४२] "व्यंकाजी दत्तो यांस नामजाद करून फौजेनिशीं रवाना केलें.", [४३] खैरातखान विजापुरास गेला होता. तो जोरावारीनें भिरवाडीवरून तळेघोसाळयावरून किल्ले जंजिरियास गेला त्या मागें महाराजांनीं बहुत कसाला केला. परंतु तो हातास आला नाहीं. " त्याचा पाठलाग करीत व्यंकाजी दत्तो जंजि-यापर्यंत गेले. शह देऊन ठाणें घालून बसले ", [४३] " मुलुख मारून फन्ना केला. " [४४] " रयतेची तक्रार किती ऐकावी म्हणोन फत्तेखान व याकुतखान यांनीं भाऊबिरादर सर्वांस मिळवून हिमतीनें एकदिलानें लढाई करावी, या विचारें आज्ञा करूं लागले. तथापि सर्वांस पसंत न पडे; कारण महाराजांकडील चतुरंगसेना सरंजाम मातबर; आपणा पायचे लोक चालून जाऊन लढाई करावी. ते बसले जागीं सरंजाम तयार. आपण थकलों गेलों असतां, लढाईअंतीं परत जाण्यास सामर्थ्य न रहातां, प्राणास मुकावें लागेल. यास्तव गनिमाशीं लढाई देऊं नये. " [४५] " फत्तेखानानी वकील जंजिरेकरांनीं व मोकाशी यांचे भाववंदानीं हबशी यांस सांगून झुंझास पाठविलें. त्यावर मोकाशी बोलले कीं आम्ही थोडके, पायप्यादे स्वारांची व आमची बरोबरी नाहीं. " [४६] " आम्ही जाऊन वाट धरितों. गनीमास कुमक रसद पोहोंचूं देत नाहीं. रात्रीस छापा घालून जेर करितों. परंतु ही गोष्ट फत्तेखानास नापसंत जाहाली " हबशीयानें त्यांना बळेंच रवाना केलें" [४७] जातीचे घोडे स्वार पाठविले [४८] " सिद्दी अबदुलखान (यास शि. दि. सिद्दी अंबर म्हणतो) व शेख (याकूत) बरोबर सरदार दिले. " [४९] " तयार होऊन झुंजास उभे राहिले. झुंज भारी जाहले " [५०] " हबशी याचा मोड जाहला. सिद्दी अबदुलाखान व शेख पठाण पळोन कोटास आले" [५१] " तीनशें स्वार मारले व्यंकाजीपंतानीं बरी खस्त केली. बारा जखमा लागल्या " [५२] " व्यंकाजीपंत पाठलाग करीत जंजिरेयाच्या समुद्रांत बैसोन, किल्ल्यांत प्रवेश करावयाचे स्थळापर्यंत गेले. त्यावरून पुन्हां लढाई करावी, हा हेतु न राहतां "जबरी पाहून सल्ल्याचें नातें लाविलें." परंतु महाराजांनीं सल्ला केला नाहीं." [५३] मनस्वी लोक जाया करूं लागले. हबशी निराश्रित, त्यांत येण्याजाण्याची लढाईची कजाखी जाली. त्यामुळें सामर्थ्य राहिलें नाहीं. जंजिरेकराकडील राजकोट जवळ होता, त्यांत शेवटीं आश्रयीं जाऊन पोहोंचलें. व्यंकाजीपतांनीं वेढा घातला. [५४] परंतु हा वेढा काढून घेणें भाग पडून सर्वांस अफजलखानाच्या मसलतीस

तोंड देण्याकरितां घाटांवर जाणें भाग पडलें. त्यामुळें जंजिरा कोट घेणें बाकी राहिलें. फत्तेखानानीं त्याची चांगलचि मजबुती करण्याचें काम सुरू केलें. इ. स. १६६० ते १६६७ पर्यंत शिवाजीला जंजिऱ्याच्या सिद्दीवर निकराचा हल्ला चढविणें शक्य नव्हतें. इ. स. १६५९ च्या सुरुवातीच्या व्यंकाजीपंताच्या स्वारीचा उल्लेख अली आदिलशानें आपल्या १६ जून १६५९ च्या फरमानांत केला असल्यानें व्यंकाजीपंताची स्वारी तत्पूर्वी झाली असली पाहिजे. अली कान्होजीस लिहितो कीं शिवाजीनें अविचारानें व अज्ञानानें निजामशाही कोंकणांतील मुसलमानांना त्रास देऊन लूट करून पातशाही मुलुखांतलि कित्येक किल्ले हस्तगत केले आहेत यास्तव त्याचे पराभवार्थ अफजलखास रवाना केले आहेत."[५५]

आदिलशहानें दंडा राजपुरीवर गुदरलेल्या प्रसंगामुळेंच तावडतोब दंडा राजपुरीच्या सिद्याचें संरक्षण केलें याचाही उल्लेख शिव भारतांत आढळतो. " माझा बाप महमुदशहा यानें जर ह्याचें निवारण केलें नसतें, तर ह्यानें दंडा राजपुरीच्या राजास समुद्रांत बुडविलें असतें."[५६] सारांश यावेळीं शिवाजीला औरंगजेबाचा पाठिंबा असल्यानें फत्तेखानाला आदिलशहाची मदत घ्यावी लागली. आदिलशहानें अफजलखानास धाडल्यानें व्यंकाजीपंतांना जंजिऱ्याचा वेढा उठवून वरघाटीं यावें लागलें; परंतु शिवाजीच्या मनांतून दंडाराजपुरी प्रांत जंजिरे किल्ल्यासह आपल्या ताब्यांत यावा ही इच्छा मात्र प्रबल होती. अफजल, शाहिस्ताखान व सिद्दिजोहार यांच्या मोहिमेनें इ. स. १६६३ पर्यंत कोंकणांत सैन्य पाठवून नवा मुलुख घेतां येणें शक्य नव्हतें. शिवाजीनें दंडा राजपुरीचा मुलुख आक्रमिल्यानें जंजिऱ्यांतील सिद्यांना अन्न वगैरे मिळणें कठीण झालें म्हणून त्यानें दर्यांतलि चांचेगिरीस सुरवात केली. " दंडा राजपुरींत बदमाष चांचे लोक राहतात व वाटेंत सांपडेल त्याला लुटण्याकरितां ते गलबतें बाळगतात तेव्हां त्यांचा नाश करणें योग्यच आहे."[५७] तसेंच " राजापुराहून सुरतेला जाणाऱ्या गलबताला दंडाराजपुरीच्या शिद्यानें त्रास देऊं नये म्हणून इंग्रजांची चिठी पाहिजे अशी एक व्यापारी रदबदली करितो"[५८] सारांश शिद्यानें आदिलशहाच्या गलबतांच्या सहाय्यानें चांचेगिरीस सुरुवात केली. तेव्हां शिवाजीनें इंग्रजांशीं संधान लावून त्यांच्याजवळील आरमाराच्या साहाय्यानें जंजिरा घ्यावयाची मसलत केली. रेव्हिंगटन नांवाचा वखारवाला यावेळीं राजापुरांत होता त्याच्याशीं बोलणें सुरू केलें. रेव्हिंगटन व रँडॉफ टेलर यानें

लंडनला कंपनीस पत्र लिहून सल्ला दिला कीं रुस्तुमजमानें आम्हास कळविलें आहे कीं आपण आपलीं जहाजें दंडाराजपुरीच्या किल्ल्यासमोरील समुद्रांत नेऊन ठेवावीं; मदत लागेल तर शिवाजीचे लोक किनाऱ्यावरून देतील. शिवाजीनें दंडाराजपुरीचें शहर घेतलेंच आहे, जंजिरा मात्र हातीं आला नाहीं. या किल्ल्यांत बरेंच धन आहे. जर अशा रीतीनें सिद्दी जेर होऊन किल्ला सोडवला तर या धनांतील कांहीं भाग व किल्ला आपणास मिळून व राहिलेली संपत्ति शिवाजीला द्यावयाची आहे; ही मसलत साधण्याची आम्ही शिफारस करितों. परंतु दोन तीन जहाजें आमचे हातीं असल्याशिवाय ही मसलत कशी साधते ? तरी जहाजें पाठवावीं. आम्ही सर्व कांहीं शिजवून तयार ठेवतों. जहाजें येतांच कार्य साधतों. कार्याबद्दल आपणांस टांकसाळ काढण्याची परवानगी मिळेल. सोन्यावरील कांहीं जकात माफ होईल व जंजिरा किल्ला हवालीं होईल. आह्मांस सुरतेला जर चांगला नेता मिळेल व हातीं सामर्थ्य राहील तर ही मसलत खास फत्ते करूं."[५९] यावेळीं रावजी सोमनाथास दक्षिण कोंकणचा सुभा झाला होता.

४ फेब्रुवारी १६६० च्या पत्रांत रेव्हिंगटन, रँडोल्फ टेलर वगैरेनीं राजापुरीस शिवाजीच्या सैन्याच्या सेनापतीशीं दंडाराजपुरीच्या किल्ल्याबद्दल बोलणें लावल्याचें लिहिलें आहे.[६०] नंतर लगेच १३ फेब्रुवारीला खास शिवाजीस त्यानें राजापुराहून पत्र लिहिलें त्यावरून हें बोलणें दोरोजीकरवीं चालूं होतें असें वाटतें.[६१] परंतु रेव्हिंगटन व सुरतवाले यांचेमध्यें वांकडें आलें. आणि सुरतचा वखाराध्यक्ष अँड्र्यूज यानें रेव्हिंगटननें परस्पर कंपनीशीं पत्रव्यवहार केल्याबद्दल टोमणा मारून मला कांहीं करतां येणार नाहीं अशा प्रकारचें उडवाउडवीचे उत्तर २ आगस्ट १६६० ला रवाना केलें.[६२] परंतु यापूर्वींच ता. १० जून १६६० च्या पत्रांत रेव्हिंगटनला पन्हाळा प्रकरणात सिद्दी जोहारास दारूगोळा पुरविण्याचें आरोपावरून सोनगड येथें तुरुंगांत जावें लागलें. तो तेथून ही मसलत पुढें लढविणार होता. त्यानें सुरतला लिहिलें कीं, " या दंडाराजपूर प्रकर्णीं सर्व कामकाज खासा शिवाजीच पहात असल्यामुळें त्यांच्याशींच हा व्यवहार करावयाचा आहे हें लक्षांत घेतलें पाहिजे. कोंकणांतील दोरोजी नांवाच्या त्याच्या मुख्य सरदाराजवळ गेल्या वर्षीं बोलणें लाविलें होतें त्यावेळीं त्याची मनीषा एकच दिसली कीं सिद्याकडून आपण जंजिऱ्याचा किल्ला शिवाजीला घेण्यांत जर मदत केली तर सर्व दंडाराजपुरीचा प्रांत त्याचे ताब्यांत जाईल व आपणांस

पैसा व बंदरें मिळाल्याशिवाय रहाणार नाहींत....... आमचेकडून दंडाराजपुरीचे बाबतींत शिवाजीला मदत पाहिजे आहे. आणि त्याबद्दल आम्हीं कांहीं तरी करावें याकरितांच तर हें खंडणीचें टुमणें आहे. त्याच्याशीं खालीलप्रमाणें बोलणें करावें. त्यांत त्यानें असें सुचविलें होतें कीं, दंडाराजपुरी येथे इंग्रजांची जीं जहाजें लागतील त्यांचा खर्च शिवाजीनें द्यावा. खर्चाबद्दल चौकशी न केली तर प्रसंग येईल त्याप्रमाणें तो देऊं करील त्याहून थोडा अधिक मागून त्याला **नकार** देतां येईल? शिवाजीनें विचारलेंच तर चार जहाजापैकीं प्रत्येकाबद्दल १०,००० होन खर्च सांगूं. हा आंकडा त्याला योग्य वाटून पटेल. परंतु त्याला हा पैसा आगाऊ पाहिजे असें सांगितलें म्हणजे अर्थातच त्याला तो आगाऊ देतां येणार नाहीं. व आपलाच त्याचेवर शह बसेल. दंडाराजपुरीबद्दल बोलणें करणें तें माझ्यावर सोंपवा असें रेव्हिंगटननें मुद्दाम बजावलें.[६३] परंतु हें पत्र लिहिल्यानंतर रावजी पंडिताशीं गांठ पडतांच रेव्हिंगटनची शिवाजीला फसविण्याची ऐट जिरलीसें दिसतें. पैशाच्या निकडीनें आपणच किल्ला घेऊं व शिवाय वाटेल त्या अटी कबूल करून घेऊं असें जें त्याला वाटत होतें तो त्याचा भ्रम होता असें त्याचें त्यालाच आढळून आलें. नंतर थोडेच दिवसांनीं त्याचें शिवाजीच्या एका नोकराबरोबर बोलणें झालें त्यांत " शिवाजीकरितां तुम्हीं काय करितां " म्हणून विचारल्यावर तो म्हणतो:—आम्हीं दंडाराजपुरीबद्दल बोललों. दंडाराजपुरी घेण्यास इंग्रजांनीं मदत केली तरी शेवटचा हल्ला शिवाजीनेंच करावा; म्हणजे इंग्रज किल्ला आपणच घेतील, ही भीति बाळगण्याचें कारण नाहीं....दंडाराजपुरी घेण्याबद्दल औरंगजेब इंग्रजाना तीन लाख रुपये देण्यास तयार आहे असेंही रेव्हिंगटननें सांगितलें. ...शिवाजीचा एकच हेतू असेल तर तो दंडाराजपूर घेण्याचा. त्याबद्दल उत्सुकतेनें बोलावें. कंपनीला तें आवडलें नाहीं तर मागाहून बोलणें फिरवावें......बरें किल्ला स्वतःकरितां घ्यावयाचा म्हटलें तरी माणसें (शिपाई) लागतील. तीं शिवाजीशिवाय दुसरा कोण पुरवील? आतां आपल्यास किल्ला व शहर मिळणें शक्य नाहीं. तो जें बंदर देईल तें घेऊन मुकाट्यानें बसलें पाहिजे. वकिलानें पत्र शिवाजीच्या स्वतःच्या हातांत द्यावें. हे ब्राह्मण त्यांना वाटेल तो मजकूर एकाद्या पत्रावरून वाचून दाखवितात. याप्रमाणें[६४] २८ जूनला लिहून कळविलें. परंतु शिवाजीला फसविणें जसें खास रेव्हिंगटनलाच अशक्य कोटी-

तील वाटलें तसेंच सुरतच्या वखाराध्यक्षाला वाटून रेव्हिंगटनच्या उथळ स्वभावाच्या भरीस न पडतां ता. २५ आक्टोबर इ. स. १६६१ च्या पत्रांत त्यांनीं कळविलें कीं " कौन्सिलनें दंडा राजपुरी घेण्याच्या तुमच्या मसलतीचा पूर्ण विचार केला. परंतु कंपनीनें लिहिल्याप्रमाणें येथेंही मनुष्यें व आरमार याची उणीव असल्यानें तूर्त त्या बाबतींत कांहींच करतां येणें शक्य नाहीं. आवश्यकच होईल तर विचार करूं "[६५] अशा रीतीनें रेव्हिंगटनचा जंजिरा वशांत टाकण्याचा बेत फसला. कंपनीला मात्र वाटत होतें कीं जंजिरा घेणें खरोखरींच रेव्हिंगटन ह्मणतो त्याप्रमाणें सोपें आहे. ह्मणून त्यानें १९ मार्च १६६२ ला जें सुरतला पत्र लिहिलें त्यांत लिहिलें कीं " हीं जहाजें पोहोचण्याच्या समयीं जर दंडाराजपूर कंपनीच्या ताब्यांत आलें असेल तर सोईप्रमाणें सुरत सोडून देऊन व नीट बंदोबस्त राखून वखार दंडाला आणून वसवावी. आणि तेथें हाताशीं इंग्रज असतील तेवढ्या इंग्रजाचे सहायानें बंदोबस्त करावा आणि इकडे कळवावें. म्हणजे पुढील व्यवस्था काय करावयाची त्याबद्दल विचार करूं "[६६] सिद्दी जोहार व शाहिस्तेखान यांच्या स्वाऱ्यांमुळें शिवाजीला जंजिऱ्याकडे लक्ष घालण्यास अवसर सांपडला नव्हता. तरीहि इ. स. १६६२–६३ त शिवाजीनें आरमार तयार करण्याची खटपट केली व कांहीं गलबतें बांधलीं. इ. स. १६६३ व १६६४ त दक्षिण कोंकणांत मोहीम झाली. रावजी पंडिताकडे ही मोहीम होती. इ. स. १६६४ त म्हणजे शाहिस्तेखानाचा मोड झाल्यावर तर या मोहिमेस बराच जोर आला व ती मोहीम इ. स. १६६५ च्या मार्चापर्यंत पुरली. बसनुरची स्वारी आरमाराच्याच सहाय्यानें झाली. परंतु इ. स. १६६५ च्या एप्रलिच्या सुरवातीलाच जयसिंग पुरंधरीं येऊन बसल्यानें दक्षिण कोंकण व कर्नाटकाचीहि मोहिम अर्धीच थांबवून शिवाजी वरघाटीं आला. इ. स. १६६३ च्या अखेरीस शिवाजीनें दंडाराजपुरीच्या मदतीला डचांशींही बोलणें लावून पाहिलें होतें.[६७] इ. स. १६६५ च्या जून महिन्यांत शिवाजी औरंगजेब व जयसिंग यांचेमध्यें तहाचीं बोलणीं सुरू झालीं. त्यांत " तळकोंकणांतील चार लक्ष होनांचा मुलुख शिवाजीला देण्याचें ठरलें. परंतु निजामशाही तळकोंकण शिवाजीकडून घेऊन मोंगली साम्राज्यास जोडण्यांत आलें.[६८]

शिवाजीनें निजामशाही मुलुखांतील कांहीं खेडीं व महाल आपल्यास मिळावे अशी विनंती केली.[६९] " महाराजांनीं मिर्जा राजास सांगितलें कीं, रेवदंडा, राजापुरी निजामशाही किल्लेदार किल्ला बळकावून बसला आहे. आम्हांस येऊन

भेटत नाहीं. हबशी जबरदस्त आहे. त्याशीं बोलावून आणावें आणि किल्ला मागावा. त्याजवरून मिर्जा राजे यांनीं हबशी यासि बोलावून विचार मांडला. शिद्दी खैरु, शिद्दी संबुल, शिद्दी याकुत हुजुर येऊन रुजू जहाले. त्यांसि हुकूम केला कीं, जंजिरा खालीं करून शिवाजी राजे यासि देणें. त्यानें उत्तर केलें कीं, किल्लेदार पातशहा हुकुमाखेरीज देत नाहीं. त्याजवरून हुजूर हुकुम आणविला. परंतु आला नाहीं."[७०] शिवाजीला औरंगजेबाच्या भेटीचें राजकारण साधावें लागल्यानें आग्र्याहून सुटका होईपर्यंत महाराष्ट्रांतील सर्वच कारभार थांबून राहिला. इ. स. १६६६ च्या अखेरीस शिवाजीची मुक्तता झाली व स्वदेशीं प्रयाण झालें व इ. स. १६६७ च्या एप्रिलांत मोगलांचें व शिवाजीचें सख्य झालें. शिवाजीनें परत आल्यानंतर दंडाला वेढा घातला. या वेढ्यांत फत्तेखान अगदीं जेरीस आला व जंजिरा देऊं केला. परंतु इतर सिद्दी एकत्र जमून एके रात्रीं फत्तेखानास ठार मारून किल्ला लढवूं लागले.

सिद्दी खैरातखानी कारकीर्द:–इ. स. १६६७ मध्यें फत्तेखानानंतर सिद्दी खैरातखान जंजिऱ्याचा हवालदार झाला. सिद्दी खैरातखानानें सिद्दी सबळ व सिद्दी कासम यांस सुरतेच्या सुभेदारामार्फत औरंगजेबापाशीं बोलण्यास पाठविलें. शिवाजीनें आरमार बांधण्यास सुरवात केल्यानें मोंगलाच्या गुजराथी आरमाराला आरबी समुद्रांत फारशी लूटमार करतां येत नव्हती. ती या सिद्दीच्या योगें पुन्हां मिळेल व शिवाजीच्याही आरमाराला पायबंद पडेल या हेतूनें यांना मदत देण्याचें ठरविलें व सिद्दी संबळ यांस मोंगली आरमार देऊन रवाना केलें. खर्चास सुरतेच्या सुभ्यावरच तनखा नेमून दिला. "हबसी यांसी इजाफा सुरतेवर पातशाई तनखा करून दिला आणि नशरतशाई व जाफरशाई जहाजें दोन व गुराबा तीन व गलबतें पंचवीस करविलीं आणि आरमाराचा सुभा शिद्दी संबळ यांसि सांगितला. आरमार व जंजिरेयांसि सुरतेवर दोन लक्ष रुपये दिलें."[७१] इ. स. १६६७ च्या अखेरीस मोंगलाचा व शिवाजीचा जो तह झाला त्यामुळें जंजिऱ्याचा हल्ला थोडाबहुत थांबवावा लागला.

इ. स. १६६९.– नंतर एका वर्षांनींच तो सल्ला तुटला व इ. स. १६६९ च्या सुरवातीस शिवाजीला सिद्यांवर हल्ला चढविणें भाग पडलें. "इ. स. १६६९ च्या सुरवातीला (म्हणजे १९ एप्रिलचे पूर्वीं) दंडा राजपुरीच्या सिद्यांनीं शिवाजीच्या कांहीं कोंकणांतील किल्ल्यांस वेढा घातला. यांत शिवाजीकडील कांहीं लोक फितूर होते. परंतु

शिवाजीनें त्या सर्वांस संशयानें आधींच पकडून कैद केलें व बाकी पळाले ” ७२ शिवाजीनें शिद्यांचा मोड करविण्याचें ठरवून त्याच्या प्रांतांत धुमाकूळ घातला. तेव्हां शिद्यानीं प्रसंग कठीण पाहून मुंबईकर इंग्रजाशीं मेच्या अखेरीस आपल्या लोकांस आश्रय मिळण्याबद्दल बोलणें लावलें. तेव्हां मुंबई-करांनीं सुरतेला ता. ९ जून १६६९ ला पत्र लिहून परवानगी विचारली कीं “ दंडाराजपुरीच्या सिद्यांनी लिहून विनंति केली आहे कीं, शिवाजीराजा आपल्या मुलुखांत शिरून बरीच जाळपोळ व लुटालूट करीत आहे. तरी येथील लोक आश्रयार्थ तिकडे पळून आले तर त्यांना मुंबईत प्रवेश मिळावा. त्यावरून आम्हीं शक्य ती व्यवस्था करण्याचें वचन दिलें आहे.”[७३] परंतु मुंबईकरांची सूचना सुरतवाल्यांना पटली नाहीं. त्यांनीं ता. २३ जूनच्या पत्रांत मुंबईकरांना स्पष्ट कळविलें कीं, “ आम्हांला स्वतःच्या संरक्षणासाठीं जेथें खटपट करणें भाग पडत आहे तेथें दुसऱ्यांच्या भांडणांत पडणें शहाणपण वाटत नाहीं. त्यांतूनही ज्यांनीं आपल्याशीं शत्रुत्व पत्करलें व उघडपणें आपले काफिले व गलबतें लुबाडलीं व ज्यांचा आपणांस अजूनही संशय वाटतो अशा परकीय लोकांना आपल्या हद्दींत ठाव देऊन सुरक्षितता राखण्याइतकी मुंबई बंदराच्या शिबंदीची परिस्थिति चांगली नाहीं. म्हणून तुम्ही फार सावधगिरीनें वागावें व कोणत्याही रीतीनें वचनास गुंतूं नये. कारण यायोगें तुम्हीं शिवाजीस आपल्याविरुद्ध अधिकच चिडवाल आणि तुम्हांस माहित आहेच कीं हल्लीं शिवाजीशीं भांडण्याची आपली ताकद नाहीं. दंडा व मुंबई हीं दोन्हीही ठाणीं संभाळण्याइतकें सैन्य व दारुगोळा जर आपल्याजवळ असता तर आपण सिद्दी व शिवाजी या उभयतांवरही चांगलाच सूड उगवून भरपाई करून घेण्यास ही चांगली संधि होती. सध्यां अशा तऱ्हेचा बेत अमलांत आणण्यापेक्षां त्याचें मनोराज्य करणें सोपें आहे. ”[७४] इकडे “ शिवाजीनें व सिद्दीनें एकमेकांच्या मुलुखांत लुटालूट मांडली होती. त्यामुळें व्यापाराला बराच फटका बसला ”[७५] तारीख १२ आक्टोबर १६६९ नंतर मुंबईकरांना सिद्दीनें निरोप धाडला. त्यांत त्यानें “ शिवाजीनें आपणांत बरेंच जेरीस आणल्याचें कळविलें आहे. शिवाजीला एकदम हल्ला चढवून दंडाराज-पुरीचा किल्ला हस्तगत होत नाहीं. परंतु तो उपासमार करून जेर करूं पहात आहे. मोंगलानें त्याला दंडाराजपुरीचा वेढा उठविण्याबद्दल हुकूम दिला आहे. परंतु तो हुकूम जुमानित नाहीं. सिद्दीनें शेवटपर्यंत किल्ला लढविण्याचें ठरविलें आहे. परंतु तसें न जमलें तर कल्याणजवळ तळ देऊन

बसलेल्या लोदीखान नांवाच्या मोंगली अधिकाऱ्याचे हवालीं किल्ला द्यावा असा सिद्दीचा बेत आहे. सिद्दीनें पोर्तुगीजाशीं सख्यत्व करण्याचा प्रयत्न केला. परंतु चौलच्या अधिकाऱ्यानें त्याचें जहाज पकडलें व फसविलें. तो आतां इंग्रजाची मैत्री धरूं पहात आहे. सिद्दीजवळ ४ चांगलीं जहाजें व १० इतर मोठीं गलबतें आहेत. १५–२० मचवे आहेत. त्यांपैकीं तो १५ मचवे आपल्या बंदरांत पाठवूं पहात आहे. त्याचप्रमाणें ३० घोडे व अन्नाचा सांठा अपुरा असल्यामुळें कांहीं बायकांमुलें इकडे पाठविण्याबद्दल त्याचा विचार आहेसें दिसतें. तरी आम्हांस वाटतें कीं अशा तऱ्हेची मदत करण्यास कांहीं हरकत दिसत नाहीं.आम्ही असें ठरविलें आहे कीं फक्त २०० पर्यंत बिनहत्यारी माणूस येऊं द्यावयाचें. अद्याप त्यानें अशा प्रकारची विनंति प्रत्यक्ष केली नाहीं; परंतु तो हल्लीं ज्या परिस्थितींत आहे त्यावरून आमचा असा अंदाज आहे कीं त्याचेकडून अशा तऱ्हेची मागणी येईल"[७६] ह्या तारीख १६ आक्टोबर रोजीं लिहिलेल्या हकीकतीवरून सिद्दीची हलाकी कशी झाली होती हें दिसून येतें. याच सुमारास मोरोपंतही वेढ्याच्या कुमकेस गेले. ता. ६ नोव्हेंबरच्या पत्रांत "शिवाजीचा मुख्य प्रधान मुंबई नजीक पेण येथे आल्याची व शिवाजीहि जवळ पास असल्याची खास बातमी" दिलेली आहे. "सिद्दी अद्यूनही अडचणींतच असल्याचे" लिहिलें आहे.[७७] परंतु नोव्हेंबरानंतर वेढ्याचें काम शिथील होऊन शिवाजीचें लक्ष कोंकणांतील इतर मुलुख व किल्ले घेण्याकडे वेधलें असें दिसतें. सिद्दी त्यामुळें गलबतांच्या सहाय्यानें किल्ला संभाळून राहूं शकला.

सिद्दीची हलाखी व जंजिऱ्याची मजबुती पाहून इंग्रजांस जंजिरा घेण्याचा मोह सुटूं लागला होता. "इ. स. १६६९ त या किल्ल्यावर ५७२ तोफा असून तो अभेद्य आहे. थोड्याही लढवय्यांच्या सहाय्यानें तो लढविण्यास सोपा आहे. आपणास पोर्तुगीज शिपाई कामापुरते मिळूं शकतील. या किल्ल्यावर आपला पूर्वीपासून डोळा होताच. आतां तर २–३ जहाजें या किनाऱ्यावरून जातांना आमचे ताब्यांत दिलीं तर आम्हीं दंडाराजपुरी समोर जाऊन उभे राहतो व किल्ला घेतो" अशा अर्थाचें पत्र ता. १६ आक्टोबर रोजीं मुंबईहून सुरतेला गेलें.[७८] या पत्राबरोबरच हेनरी यंगचें खास खासगी पत्रही गेलें. त्यांत तर या योगें शिवाजीचें सर्व आरमार मारून काढतां येईल असें म्हटलें आहे.[७९] परंतु मुंबईकरांची सूचना सुरतवाल्यांनीं तितकी सहज मान्य

केली नाहीं. त्यांनीं "याचा चांगला विचार केला पाहिजे, तोंपर्यंत सैनिकावर चांगली दक्षता ठेवून काळजीपूर्वक वागा. जर सिद्दी मुंबईस येऊं इच्छित असेल तर त्यांच्याशीं बोलणें लावण्यांत फार सावधगिरी बाळगा. त्याला आमच्या हुकमाची वाट पहात आहों म्हणून झुलवीत ठेवा. जर तो दंडाराजपुरीचा किल्ला मोंगलाचे हवालीं करीत असेल तर आपणांस त्यापासून काय फायदा होईल हें आम्हांस समजत नाहीं. उलट कंपनीचें नुकसान होईल. या अटीवर तर आपल्याला सिद्दीला मुंबईत घेतांच येणार नाहीं. त्याप्रमाणें त्यांच्या लोकांनाहि आश्रय देण्याचें कारण नाहीं. असें केलें तर आपला साहसी व महापराक्रमी शेजारी शिवाजी याला आपण खात्रीनें चिडविण्यास कारण होऊं. त्यानें आपली कुचाळी केली तरीहि त्याच्याशीं लढण्याची आपली तयारी नाहीं. परंतु जर सिद्दी किल्ला कंपनीला देत असेल तर तसें तुमच्याकडून समजल्यानंतर आम्ही जें कांहीं ठरवावयाचें तें ठरवूं." [८०] हें ता. १ नोव्हेंबरचें पत्र मुंबईस १६ जुलै १६७० ला मिळालें. अर्थात तोंपर्यंत जंजिऱ्याचा मोह त्यांना आवरून धरणें भागच होतें.

इ. स. १६७०:— इ. स. १६७० चे सुरवातीस खांदेरी बसविण्याचा प्रयत्न मोंगली सैन्य करूं लागलें. परंतु तो त्याचा प्रयत्न यशस्वी झाला नाहींसा दिसतो. सिद्यांनीं हा प्रयत्न केला होता. परंतु इंग्रजांनीं तो सफल होऊं दिला नाहीं. कारण "शिवाजी जर हें बंदर ताब्यांत घेईल तर बरें. कारण हे 'मूर' लोक शेजाराला तितके चांगले नाहींत." [८१] शिवाजीची स्वारी मोगलावर झाल्या कारणानें दंडाराजपुरीवर निकरानें हल्ला चढवावा तर तें घडलें नाहीं. परंतु "त्यांनीं कांहीं सैन्य दंडाराजपूरीवर धाडून वेढा घातलाच. जर तो स्वतः या सैन्याला जाऊन मिळाला असता तर किल्ला शिवाजीच्या हातांत पडण्याची भीति इंग्रजांना वाटत होती. परंतु तें घडून आलें नाहीं. नंतर पावसाळ्याच्या सुरवातीची वादळी हवा निवळून "गलबतें चालूं होतांच कॅ. यंगकडे जशी गुदरत साली मागणी घातली त्याप्रमाणें कुटुंब संरक्षणार्थ (किंवा त्याची मोठी अडचण म्हणजे रसद त्याकरितां) मागणी घालील." [८२] असें इंग्रजांना वाटत होतें. "परंतु हा वेढा पावसाळ्याच्या सुरवातीस उठविला गेला." [८२] शिवाय मोगलाकडील वकील दंडाराजपुरीच्या सिद्याजवळ बोलणें लावण्यास म्हणून मुंबईस येऊन बसला होता." [८३] दंडाचा वेढा उठविला गेला होता तरी शिवाजी दंडा घेण्याचा नाद सोडील हें शक्य नव्हतें. इंग्रज दंडा

घेऊं म्हणतील तर त्यास इंग्रजाचे सुरतवाले अधिकारी विरुद्ध जात. कारण त्यांना तसें करणें धोक्याचें वाटत होतें.[८४] अवर्षणामुळें दुष्काळ पडण्याची भीति होती; व सिद्दीची तांदुळ पुरविण्याबद्दल तर सारखी मागणा होती. तरीहि "५ आगष्ट पूर्वी इंग्रजानें सिद्याला ५–६ मचवे तांदूळ दिला."[८५] नंतर लगेच पुढें १४–१५ दिवसाचें आंतच सिद्यानें पुन्हां एक गलबत धाडून घोड्याकरितां चंदी व कांहीं सोरा मागितला. परंतु प्रवासापुरतें धान्य व औषधें देऊन सिद्याचा आलेला नोकर परत धाडला. यावेळीं दंडाराजपुरीला तांदूळ पुरविण्याची दोन तीन इंग्रज व्यापाऱ्याची तयारी होती. परंतु युद्धांत सामील झालेल्या कोणत्याहि पक्षाला मदत करणें म्हणजे आपल्यावर शत्रू ओढवून घेण्यासारखें असल्याचें सांगून त्यांना तांदूळ देण्याची बंदी केली. याच सुमारास "आपण माहुली वगैरे सर्व किल्ले घेतले असतांना तूं माझ्यासमोर टिकाव धरूं शकशील काय ? असें शिवाजीनें सिद्यास लिहून विचारलें व जर किल्ला हवाली करशील तर तुला मी आपल्या सैन्याचा सरदार करीन असें त्याला अभिवचन दिलें. परंतु शिवाजीच्या लिहिण्यास त्यांनीं मान दिला नाहीं." जोंपर्यंत सिद्याला जमिनीवरून अगर समुद्रांतून रसद मिळूं शकते तोंपर्यंत किल्ला अभेद्य आहे अशी त्याची पूर्ण खात्री आहे."[८७] सिद्दीचे लोक बहुधा रात्रीं हल्ले चढवितात व बरेंच सैनिक व इतर लोक दगावले जातात."[८७] सिद्याला इंग्रजांकडून चोरून दाणागोटा मिळूं शकतो. असें शिवाजीच्या लक्षांत आलें. तेव्हां त्यानें "आपल्या हद्दींतील मुंबईच्या लोकांस लाकुडफांटा नेण्याची आक्टोबरांत सक्तीची बंदी केली"[८८] तेव्हां "शिवाजीच्या मुलखांत शिरून उगाच जबरदस्तीनें लांकूड आणूं नये. कल्याणच्या सुभेदारास मात्र नम्र विनंति करून परवानगी मिळवावी" असा मुंबईकरांना सुरतचा हुकूम आला.[८९] नंतर शिवाजीचें आरमार नागांव व मुंबईजवळ राहिल्यानें नोव्हेंबर महिन्यांत फारशी कोणीच गडबड केली नाहीं. हें आरमार दाभोळकडे गेल्याची खास खबर १७ डिसेंबर १६७० रोजीं मुंबईकरांनीं सुरतला कळविली.[९१] ता. २२ फेब्रुवारीच्या कंपनीच्या हुकमावरून इंग्रज शिवाजीशीं सख्यत्व संपादन करूं लागले.[९२] शिवाजीकडूनहि एक वकील आला आणि त्यानें बोलणें लाविलें कीं, "शिवाजीचा मुख्य हेतु दंडाराजपुरीविरुद्ध इंग्रजांची मदत मिळविण्याचा आहे. तशी मदत खासगी रीतीनें गुप्तपणें कशी देतां येईल याबद्दलच्या सूचना शिवाजी स्वतःच करणार आहे. त्या अशा कीं, ज्यायोगें मोंगलांना मागमूस, लागून रागावण्याचें कारण घडेल. एक इंजिनियर, एक मोठी तोफ,

गोळे, एक दोन जेजाला इतकें गुराबणें पोंचतें करावें अशी त्याची अपेक्षा आहे. या बाबतींत आपला निकाल तावडतोब करावा असें त्याचें म्हणणें आहे."[१३] अशा अर्थाचें बोलणें सप्टेंबर १६७० च्या सुरुवातीस सुरू झालें. सुरतेच्या इंग्रजांनीं स्टिफेन डास्टिक यांस शिवाजीकडे पाठविण्यास कळविलें. परंतु शिवाजीनें जर दंडाराजपुरीच्या विरुद्ध लढण्यासाठीं म्हणून तोफा व दारुगोळा मागंविला तर तो आम्हांस त्रयस्थाला देतां येणार नाहीं असा हुकूम ता. १५–९–७१ ला दिला.[१४] कारण सुरतवाल्यांनीं आपल्या ३०–९–७१[१५] च्या पत्रांत लिहिल्याप्रमाणें "खरें पाहिलें तर दंडाराजापूर शिवाजीच्या ताब्यांत जाण्यानें इंग्रजाचे मुंबई बंदरास संकट आहे."

इ. स. १६७१:—इ. स. १६७१ त शिवाजीची दंडावरील स्वारी अगदींच मंदावली होती. "सिद्दीनें मात्र याचा फायदा घेऊन शिवाजीच्या मुलखांत शिरून थळ वगैरे कांहीं शहरांत जाळपोळ केली. म्हणून शिवाजीनें त्यांच्यावर लहानसें आरमार आक्टोबरचे सुमारास पाठविलें.[१६]

एकंदरींत नुसता हल्ला चढवून किल्ला हातीं येईल ही आशा मावळली होती. दोनच मार्ग मोकळे होते. मोठया तोफांचे साहाय्यानें किल्ला घ्यावयाचा; किंवा आरमारी लढाई देऊन सिद्याला नामोहरम करून घालवून द्यावयाचें. यांपैकीं तोफा मिळविण्याबद्दल त्यानें इंग्रजांशीं सारखें बोलणें लावलेंच होतें. ३-४ तरी मोठ्या तोफा एकाद्या पोर्तुगीजाला विका म्हणजे त्या तो त्याचेकडून घेण्याची व्यवस्था करील वगैरे सर्व गुप्त व्यवहार त्यानें बोलून पाहिले.[१७] परंतु सुरतकरांना मोंगलांची विशेष भीति असल्यानें त्यांना ही मसलत शेवटपर्यंत साधूं देतां आली नाहीं.[१८]

इ. स. १६७२:—जेव्हां हा बेत सिद्धीस जात नाहीं असें दिसून आलें तेव्हां इंग्रज व सिद्दी या दोघांसहि चांगलाच पायबंद देतां येऊन त्यांच्या आरमारी हालचालीस आळा बसावा म्हणून शिवाजी बेत करूं लागला. इ. स. १६७२ च्या सुरुवातीस शिवाजीचा खांदेरी बांधण्याचा बेत सुरत[९९] व मोंगली दरबारांत समजला. परंतु १० मेपर्यंत तरी खास कामास सुरुवात झाली नव्हती.[१००] ता. २२ आगष्ट १६७२ च्या सुमारास उमर नाखवा १२ फ्रिगेटे व १००० दर्यावर्दी लोक घेऊन दंडाराजपुरीची मसलत करण्याकरितां सुरतेच्या खाडींत शिरला[१०१] व त्यानें बादशहास अर्जदास्त पाठवून आपणास १ लाख २० हजार रुपये दिल्यास

आपण शिवाजीनें सुरू केलेलें खांदेरीउंदेरीचें काम पूर्ण होण्यापूर्वींच बंद पाडतों असें कळविलें. बादशहानें उमरला परवानगी दिली व जामीन घेऊन पैसा देण्याचें अभिवचन दिलें.[१०२] हें मोगली आरमार तारीख ३१ आक्टोबर १६७२ ला मुंबईचे बंदराबाहेर येऊन नांगरलें. २० गलबतें होतीं. तीं इंग्रजांच्याच मदतीला आलीं होतीं. त्यांनीं मुंबईत शिरण्यासाठीं परवानगी मागितली. त्यानें इंग्रजांच्या किनाऱ्यावरून शिवाजीच्या मुलुखांत शिरून जाळपोळ करण्याचें ठरविलें. परंतु अशी परवानगी देणें मुंबईकरांना शक्य नव्हतें म्हणून त्यांनीं परवानगी देण्यापूर्वीं सुरतेचा सल्ला मागितला.[१०३] मोरो पंडितानेंहि आपलें आरमार मोंगली आरमार जाळण्याच्या उद्देशानें पाठविलें. मुंबईकर बंदरांत शिरूं देत नाहींत म्हणून मोंगली आरमार सिद्याच्या आरमाराच्या संरक्षणाखालीं व जंजिरा किल्ल्याच्या आश्रयाला गेलें. मोरोपंतानें किल्ल्यास वेढा घालण्यास सांगितलें.[१०३] परंतु मोगली व सिद्दी जोड आरमारानें शिवाजीचे ५० मचवे बुडविले. व किनाऱ्यावर शिरून बरीच जाळपोळ व लुटालूट केली. सिद्दीचेंहि बरेंच नुकसान झालें. " सरशी कोणाची झाली हें मात्र समजलें नाहीं. " मुंबई बंदरांत यावेळीं शिवाजीचे ६ मचवे होते ते इंग्रजांनीं आम्ही पकडल्यांपैकीं आहेत असें सांगितल्यावरून वांचले.[१०४] सिद्दी संबळ हा या जोड आरमाराचा मुख्य अधिकारी होता. त्यानें जंजिऱ्याचा वेढा अशा तऱ्हेनें उधळून लावल्यानंतर तो परत ३६ गलबतांचें आरमार घेऊन मुंबईस २४ डिसेंबरला आला.[१३५] तेव्हां त्याचें इंग्रजांनीं आदरातिथ्य केलें. नंतर इंग्रजांनीं शिवाजीविरुद्ध लढण्यास मदत करावी म्हणून सिद्दीनें बोलणें लाविलें आणि तसें केल्यास त्याबद्दल पुष्कळशा सवलती देऊन भरपाई करूं म्हणून कबूल केलें. उलट शिवाजीनेंहि आपला मनुष्य पाठवून सिद्दीविरुद्ध कारस्थान सुरू केलें. इंग्रजांना मात्र या अडचणीच्या प्रसंगीं स्वस्थपणानें राहणें मोठें कठीण झालें. यावेळीं आंजिअर हा मुंबईचा कार्याध्यक्ष राहिल्यानें इंग्रज भलत्याच फंदांत पडले नाहींत.[१०७] परंतु सिद्दीच्या लोकांनीं मात्र मुंबईस आल्यानंतर थोडेच दिवसांनीं माजगांव भागांतील कांहीं घरें जाळलीं.[१०८] ता. १५ जानेवारी १६७३ रोजीं सिद्याला इंग्रजांनीं मेजवानी दिली व सिद्दी मोंगली आरमारासह ता. २१ जानेवारीला मुंबई शहर सोडून निघाला.[१०९] ता. २८ मार्च १६७३ पर्यंत शिवाजीकडील १५००० माणसें व बराच पैसा या जंजिऱ्याच्या लढाईमुळें खर्ची पडला असा एक त्यावेळीं अदमास होता.[११०]

इ. स. १६७३:--सिद्दी संबळ ता. २० जानेवारीला मुंबईहून सुरतेला गेला. परंतु त्यानें पावसाळयांत मुंबईला आरमारानिशीं रहाण्याचा विचार चालविला होता. त्यानें मार्च महिन्याच्या सुरवातीसच सुरतवाल्यांशीं मुंबईत राहावयास मिळावें म्हणून बोलणें लावलें. परंतु मुंबईकरांनीं त्यांना मुंबईत राहूं देण्याचें नाकारलें. कारण कीं सिद्याच्या लोकांनीं त्रास दिला तर दिलाच पण त्यामुळें व्यापाराला व बंदराच्या सुरक्षिततेला बराच धोका बसलेला त्यांना आढळून आला.[111] शिवाय डचांच्या आरमाराचा अधिकारी रिक्लॉफ व्हान गोएन हा २२ जहाजें व १००० लोकांनिशीं कोंकणच्या किनाऱ्यावर आला होता. आपण जंजिरा घेण्यास मदत करितों, आम्हास ३००० सैन्याची मदत किनाऱ्यावरून हल्ला चढविण्यास द्या असें त्यानें शिवाजीस लिहून कळविलें होतें. त्यामुळें इंग्रजांना अधिकच पेंच पडला आणि त्यांनींहि आपण होऊन गोडीचीं बोलणीं सुरू केलीं. डचांची मदत शिवाजीनीं घेतली नाहीं व रिक्लॉफ मुंबई बंदराबाहेर २० फेब्रुवारी १६७३ ला येऊन नंतर सुरतेला निघून गेला.[112] याचा परिणाम असा झाला कीं, मुंबईकरांच्या सिद्दीला मदत करण्याच्या बेताला बराच आळा बसला व त्यांनीं पुन्हा सुरतेला ता. २६ एप्रिलला निक्षून लिहिलें कीं हें पत्र पोहोंचण्यापूर्वीं जर सिद्दी आरमारासह निघाला नसेल तर त्याला सांगावें कीं मुंबईचा गव्हर्नर त्याला बंदरांत घेणार नाहीं. गेल्या खेपेला सिद्दीचीं गलबतें मुंबईला राहिलीं असतां त्यांनीं शेजारच्या बंदरांना पुष्कळ उपद्रव दिला आणि त्यामुळें व्यापारावर अनिष्ट परिणाम झाला. शिवाय इतकीं लढाऊ गलबतें बंदरांत राहूं दिल्यास इंग्लंडचा राजा व कंपनी यांना त्या बाबतींत योग्य जबाब देणें गव्हर्नरला कठीण जाईल यासाठीं सिद्दीच्या गलबतांनीं मुंबईस येऊं नये.[113] याचवेळीं निकोलस या नांवाचा इंग्रज शिवाजीच्या मुलखांतील बातमी आणण्यास पाठविला होता.तो सिद्दीचा गुप्त हेर आहे असें समजून त्याला बराच त्रास शिवाजीच्या लोकांनीं दिला त्यामुळें इंग्रजांनीं त्याला परत बोलावून घेण्याचें ता. १० मे ला[114] ठरविलें. याच सुमाराला सिद्दी संबळ सुरतेहून ३० गलबतांचें आरमार घेऊन मुंबईस ता. ८ मेला आला. सिद्दी संबळनें प्रेसिडेंटकरितां एक शिरपाव बादशहाकडून आणला आहे असें त्यानें खोटेंच सांगितलें. प्रेसिडेंटनें मात्र समारंभानें तो स्वीकारला. मोंगली आरमार पावसाळयांत मुंबईला ठेवावें अशी सुरतेच्या सुभेदाराचीं शिफारसपत्रें सिद्दी संबळ घेऊन आला होता. परंतु तशी परवानगी न देतां फक्त मोगलांचीं ५ गलबतें माज-

गांवला ठेवण्याची परवानगी दिली. यामुळें सिद्दी संबळ आपले सर्व लोक घेऊन सिद्दीचा मुख्य किल्ला जो दंडाराजपूर तिकडे त्यानें जावें असें ठरलें.[११५] परंतु हवा वादळी असल्यामुळें सिद्दी मुंबई बंदरांतच ता. २३ मेपर्यंत राहिला व मोठ्या नाखुषीनें ता. २६ मेला सिद्याच्या आरमारासह दंडाला गेला. मोगली आरमार व त्यावरील मिर्झा महमद हुसेन नांवाचा अधिकारी मात्र माजगांव येथें राहिला.[११६]

त्यामुळें शिवाजीला इंग्रजांविषयीं थोडा संशय येऊं लागला. परंतु त्यानें हुबळींत बरीच नुकसानी केल्याचें समजतांच पुन्हां शिवाजीशीं बोलणें लाविलें व तहाच्या अटींबद्दल ज्या कांहीं सूचना द्यावयाच्या त्या देऊन निकोलस याला रवाना करण्याचें ठरविलें. त्यांत "जरूर पडल्यास त्याचा शत्रू सिद्दी आमचे येथें आला असतांना आम्ही त्याला पावसाळ्यांत राहूं दिला नाहीं, त्याच्या व शिवाजीच्या भांडणांत आम्ही पडूं इच्छित नाहीं; किंवा आमचा मोगलाशीं असलेला संबंध निष्कारण धोक्यांत न यावा इतकें धोरण राखून आम्हीं सिद्दीला फारशी मदत देत नाहीं. या गोष्टी त्याच्या नजरेला आणून शिवाजीनेंच आम्हांस चिडविल्याशिवाय आम्हीं सिद्दीला अधिक मदत देणार नाहीं हें त्याला समजावून सांगावें. असेंही निकोलसला सुचविण्यांत आले होतें.[११७] परंतु या तहाच्या बोलण्याला शिवाजीनें फारसा मान दिला नाहीं व उडवाउडवीचीं उत्तरें देऊन ता. १९ मे ला निघालेला निकोलस ३ जूनला भेट घेऊन १७ जूनला परत आला. सिद्दी मुंबईंत राहिला असतांना सिद्दीप्रकरणीं निकोलसजवळ अवाक्षर न काढणें इतकेंच नाहीं तर बोलणें टाळणें अगदीं योग्यच होतें. निकोलस लिहितो कीं " शिवाजी सिद्दीप्रकरणीं मजपाशीं बोलेल असें मला वाटत होतें; परंतु त्या बाबतींत किंवा पकडलेल्या गलबताच्या बाबतींत त्याला आज पत्रें येऊन पोंचलीं होतीं; आणि त्याबद्दल संभाषणाचे वेळीं बोलणें काढण्याबद्दल त्याला स्मरणाहि दिलें गेलें; असें असतांना त्यानें तें विषय आजिबात टाळले ! "[११८] उलट शिवाजीनें ही इंग्रजांनीं केलेली प्रत्यक्ष मदत पाहून मुंबईबंदरांतील गलबतें जाळण्याचा विचार केला. "समोरील किनाऱ्यावरील शिवाजीच्या लोकांनीं माजगांवला ओढून ठेवलेलीं मोंगली गलबतें जाळून टाकण्याचा बेत केल्याविषयीं अनेक वेळां बातम्या आल्या. मिर्झा महमद हसन यानेंहि गव्हर्नरला याविषयीं कळविलें. म्हणून माजगांव बंदराच्या मुखाशीं रिव्हेंज गलबत व कित्येक लहान होड्या ठेवून कंपनीच्या व

मोंगलांच्या गलबतांचें संरक्षण करण्यास ३ जूनपासूनच सुरुवात केली.[११९] तसेंच शीव व माच्छिम या बाजूनेंहि शिवाजीचे लोक येण्याची भिती वाटल्यावरून तेथेंहि २३ जूनपासून बंदोबस्त राखण्यांत आला.[१२०] "इंग्रजानीं शत्रूच्या गलबतांना आश्रय दिला याबद्दल शिवाजीची मुख्य तक्रार होती. त्याच्या भरपाईकरितां त्यानें पुन्हां २–३ मोठया तोफा मागितल्या परंतु अंगिअरनें शिवाजीच्या वकीलाजवळ नीट सामोपचाराच्या गोष्टी सांगून व सर्व कारणांचा खुलासा करून त्याचें समाधान केलें व सलोखा करण्याचा प्रयत्न केला.[१२१] पावसाळा संपतांच मोगली स्वारीस सुरुवात झाली त्यांत सिद्दी संबळनें शिवाजीच्या किनाऱ्यावरील सर्व बंदरांवर हल्ले चढविण्यासाठीं मुंबईत पावसाळ्यांत नांगरलेलें आरमार व सुरतचें आरमार त्याच्या हवालीं करण्याचें ठरलें.[११२] यावेळीं सुरतकरांना सिद्दीला मदत देणें अधिक श्रेयस्कर वाटत होतें. परंतु मुंबईकरानीं कोणतीहि मदत करतां येणार नाहीं म्हणून निक्षून कळविलें. त्यांना डचांशीं भांडण चालू आहे ही गोष्ट व शिवाजीची कर्तबगारी हीं स्पष्ट दिसत होतीं.[१२३] तेव्हां इंग्रजानीं मदत देण्याचें नाकारलें. परंतु सिद्दीनें मात्र शिवाजीच्या गलबतांवर हल्ले करून तीं पकडणें वगैरे कामास सप्टेंबरपासूनच सुरुवात केली.[१२४] सिद्दी परत [११५] १० आक्टोबरला मुंबईंत शिरला. "सिद्दी पैगंबराच्या आणि कुराणाच्या घेतलेल्या सर्व शपथा बाजूला ठेवून तो आमच्या बंदरांत जबरदस्तीनें शिरला इतकेंच नाहींतर त्यानें करंज, नागोठणें पेण ह्या बाजूच्या खाडींत प्रवेश करून नाकेबंदी केली. त्यामुळें इंग्रजांचा मोठाच अपमान झाला आहे. आपलें वजन कमी झालें आहे. सिद्याचीं जहाजें साफ बुडवून टाकावीं असें मनांत येतें. परंतु सुरतेचा विचार करावा लागतो. शिवाजी किंवा दुसऱ्या कोणींहि लबाड माणसापेक्षां सिद्दी अधिक नीच, कृतघ्न आणि दुष्ट शत्रु आहे. त्याला रसद मिळवून देण्याचें बाबतींत या बेटाचे त्याच्यावर इतके उपकार झाले आहेत असें असूनहि ज्या अर्थीं त्यानें बेटांतील आयात बंद केली त्याअर्थीं शिवाजीपेक्षां आमच्याच राशीला अधिक बसावें असा त्याचा उद्देश दिसतो. आह्मांला रसदीचा तोटा आल्यामुळें आम्ही त्याच्या होड्यांना मुंबईत येण्याची बंदी केली. याबद्दल तक्रारी होऊन सुरतेचा सुभेदार तुम्हांस घालवून देण्याची धमकी देईल तर आपण एका पायावर तयार असल्याचें सांगा असें मुंबईकरांनीं सुरतेस कळविलें. सिद्दी संबळ करंजाच्या खाडींत बंदी करून या वर्षभर तसाच राहणार असें दिसतें. खाडीच्या तोंडावरील एका

लहानशा बेटावर तो एक नवीन किल्ला बांधण्याच्या विचारांत आहे. त्याला तसें करूं दिलें तर मुंबईस तें मोठ्या धोक्याचें होणार आहे.[१६६] या इंग्रजांच्या तक्रारी विरुद्ध सिद्यानेंहि सुरतेच्या गव्हर्नरकडे तक्रार दिली.[१६७] परंतु मुंबईकरांना स्वस्थ बसून कल्याणच्या मोंगली सुभेदाराकडे तक्रार देण्यापलीकडे कांहींहि करतां येणें शक्य नव्हतें.[१६८] सिद्यानें मात्र मुंबईला १० आक्टोबरला आल्यानंतर शिवाजीच्या मुलखांत लूटालूट जोरानें करण्यास सुरुवात केली. आक्टोबरच्या दुसऱ्या पंधरवड्यांच्या सुरवातीस "सिद्यानें कांहीं लोक शिवाजीच्या मुलखांतील भाताचीं उभीं शेतें कापून आणण्याकरितां पाठविले. तेव्हां शिवाजीच्या सैनिकांनीं त्यांच्यावर अचानक छापा घालून सुमारें शंभर जणांचा नाश केला व त्यांतलि कित्येक मुख्य मुख्य लोकांचीं शिरें धडापासून वेगळीं करून शिवाजीकडे नेलीं.[१६८] नंतर शिवाजीनें ३००० लोकांनिशीं बंदोबस्त केल्यामुळें सिद्दी संबळ अगदीं फजीत पावला व तो पुन्हां इंग्रजाशीं स्नेहाचें बोलणें बोलूं लागला.[१६९] सिद्यानें नंतर चांचेगिरीस सुरुवात केली. व शिवाजीशीं लढण्याऐवजीं इंग्रजांच्या मुलुखांतच त्रास देण्यास सुरुवात केली.[१७०] व आपली पत मोंगली दरबारांत व बहादुरखानाजवळ रहावी म्हणून त्यानें त्यांना खोटेंच कळविलें कीं "त्यानें शिवाजीचीं अनेक शहरें जाळलीं व कित्येक लोक ठार मारिले. खरें पाहिलें तर, सिद्दीचाच पराजय होऊन त्याचेच बरेच लोक मारले गेले होते. जास्तींत जास्त त्यानें शिवाजीविरुद्ध कांहीं केलें असेल तर किनाऱ्यावरील कोळी वगैरे हलक्या लोकांच्या झोंपड्या जाळून त्याच्यांतील कांहीं कैदी धरून आणून गुलाम म्हणून विकले. शिवाजीनें मात्र युक्तीनें छापे घालून त्यांत सिद्दीचीं बरींच माणसें जाया झालीं. त्यामुळें शिवाजीचें जरी थोडेंसें सैन्य असे तरी तें जेथें असे तेथें सिद्दीची डाळच शिजत नसे.[१७१] नोव्हेंबरांत शिवाजीला फ्रेंचांनीं ७ ते १७ पौंडर, ८८ लोखंडी तोफा व २००० मण शिसें दिलें; त्यामुळें शिवाजीच्या आरमाराला बरीच मदत झाली असावी.[१७२] परंतु सिद्याचें आरमार नागोठण्याच्या खाडींत डिसेंबर १५ पर्यंत तरी गडबड करीत होतेंच.[१७३] नंतर तें चांचेगिरी करण्यास बंदर सोडून गेलें. परंतु शिवाजीचें आरमारहि सज्ज होऊन बाहेर निघाल्यामुळें सिद्याचा जोर कमी होऊन लढाई बरीच मंदावली होती. शिवाजीला मोंगल व विजापूर या दोघांशीं लढावयाचें असल्यानें त्यानें जंजिऱ्याचे बाजूला फारसें लक्ष दिलें नाहीं.

इ. स. १६७४:—मोंगली सैन्याचा पराभवं होत आहे असें पाहून व सिद्दी अगदीं जेरीस येऊन शिवाजीशीं सलोखा घडवून आणण्यासाठीं इंग्रजांच्या मध्यस्थीची अपेक्षा धरून त्यांच्याशीं त्यांनीं फेब्रुवारी १६७४ त बोलणें लावलें.[१७४] शेवटीं ६ मार्च १६७४ रोजीं मुंबईकरानीं तें मान्य करून तह करून देण्याचें कबूल केलें.[१७५] परंतु सिद्यानें भांडण थांबविलें नव्हतेंच. मार्च महिन्याचे अखेरीस "सातवळीच्या खाडींत सिद्दी संबळ व दौलतखान यांची लढाई झाली त्यांत शिद्दी जखमी होऊन त्याचे १०० लोक मारले गेले व दौलतखानाकडील ४४ लोक पडले. दौलखानाला बाण लागून जखम झाली. परंतु त्याचा जय झाला. सिद्याचा मोड झाल्यानें तो वेशवीजवळ हरेश्वरला पळून गेला.[१७६] तरी देखील सिद्याच्या तहाबद्दल बोलण्याचें इंग्रजानें ठरविलें होतेंच. नारायण शेणव्यानें बोलणें काढतांच फत्तेखानाशीं तह करण्याची आमची मुळींच इच्छा नाहीं म्हणून सांगण्यांत आलें. इतकेंच नव्हे तर सिद्याचें आरमार मुंबई बंदरांत या पावसाळ्यांत राहूं द्याल तर इंग्रजाशींही तह करण्याची शिवाजीची तयारी नाहीं असें बजावलें.[१७७] तेव्हां सिद्दी व शिवाजी यांचा तह घडवून आणण्याचें बोलणेंच थंड झालें. परंतु मोगली आरमार आश्रयास न घेणें म्हणजे बादशहाचा आपल्यावर कोप होणार ही त्यांना भीति होतीच. म्हणून सुरतवाले व मुंबईकर यांचा विरोध आला. मुंबईकरांनीं ता. २४ मार्चला सिद्याचें लिहून आल्याचें सुरतला कळविलें आणि त्यांस बजाविलें कीं मागचे वेळीं जो सिद्यानें आम्हांस त्रास दिला त्याचा विचार करून आम्हीं त्याला येथें येऊं न देण्याचें ठरविलें आहे.[१७८] ता. ९ एप्रीलला पुन्हां कळविलें कीं, सिद्याला मुंबईत राहूं दिल्यास शिवाजीशीं तह होणें अशक्य असून शिवाय बंदरासहि धोक्याचें आहे. करितां आम्हीं त्याला बंदरांत न घेण्याचें ठरविलें आहे.[१७९] परंतु सुरतवाल्यानींहि आपली बाजू मांडण्याचा प्रयत्न केला. त्यांनीं लिहिलें कीं, सिद्याला मेहरनजरेनें गलबतें शाकारण्यास परवानगी दिल्यामुळें शिवाजी नारायण शेणव्याजवळ नाखुषीच्या गोष्टी बोलला असेल हें खरें आहे. तथापि जेव्हां शिवाजीशीं चाललेल्या स्नेहाच्या तहाची बातमी इकडे सुभेदारास किंवा तुमच्या आसपास वावरणाऱ्या मोगल सरदारांस कळेल आणि त्या बरोबरच सिद्दीचे आरमाराला तुम्हीं दिलेला नकार ते विचारांत घेतील, तेव्हां आमचें अमित्रत्व त्यांचे प्रत्ययास येऊन आम्हाला किंबहुना कंपनीच्या व्यापाराला धोका बसेल हीहि गोष्ट लक्षांत

घेतली पाहिजे. सुरतवाल्यानीं त्यांतूनहि शिवाजीशीं सलोख्याचें बोलणें करण्यास परवानगी देवून पुढें म्हटलें कीं, " त्यासाठीं भोगाव्या लागतील त्या आपत्ति आम्ही शांतपणें भोगूं. " सिद्दीशीं तह करण्याची शिवाजीची इच्छा नाहीं त्या अर्थीं दीर्घकाल धुमसणारें त्यांचें वैर एकदम बंद होणें अशक्य दिसतें."[१८०] परंतु मुंबईकरांनीं आणखी एक युक्ति काढली. त्यांनीं मोगलांनाच कळविण्याचें ठरविलें कीं, बादशहाचें आरमार मुंबईत ठेवणें धोक्याचें आहे. एकतर धान्यसामुग्रीची अडचण आहे, व दुसरें असें कीं शिवाजीनें इचांना १०,००० सैन्यानिशीं मदत करून बादशाही आरमार जाळीन व मुंबईहि घेईन अशी धमकावणी दिली आहे. आम्ही तर या हल्ल्याला तोंड देण्यास असमर्थ आहोंत. तरी पातशहानीं आपल्या आरमाराची सुरक्षितता व बोज राखण्याकरितां आरमार दंडाराजपुरीला किंवा सुरतेला ठेवावें, असें लिहिण्यास सुरतला ता. १९ एप्रीलला कळविलें.[१८१] याप्रमाणें पत्रव्यवहार चालू असतांच ता. २४ एप्रील रोजीं सायंकाळीं सिद्दी २ पातशाही लढाऊ जहाजें, ५ फत्तेमाऱ्या व १५ गुराबें घेऊन बंदराबाहेर आखातांत येऊन नांगरून राहिला. परंतु सायंकाळीं भयंकर वादळ झालें. समुद्रांत राहणेंच कठीण झालें. तेव्हां त्यांनीं आरमार बंदरांत घातलें. अध्यक्षानें ते संकटांत आहेत असें पाहून राहूं दिलें व धान्यसामुग्रीही घेऊं दिली. सिद्यानें आपल्यास राहूं दिलें हें पाहून एक नाखवा पाठवून पातशहाच्या ५ फत्तमाऱ्या येथें शाकारून ठेवण्यास परवानगी द्या म्हणून बोलणें लाविलें; परंतु मुंबईकरांनीं आरमार न ठेवण्याचा निर्धार केला होता तो कायम ठेवून २७ एप्रीललाहि तसाच निकाल केला. सैयद् महमदला पत्र पाठवून शिवाजीनें अशा प्रकारची धमकी दिली आहे व शिवाजीनें तुमचीं जहाजें जाळल्यास आम्हांस कांहीं बंदोबस्त करतां येणार नाहीं वगैरे सर्व गोष्टी सांगून पाहिल्याशिवाय महागाईमुळें खर्चाहि अधिक लागेल म्हणून सांगितलें; परंतु त्याचा कांहीं उपयोग झाला नाहीं. सिद्दी संबळास आरमार सुरतेला नेणें म्हणजे तें आपल्या हातचें घालविणें असें झालें होतें. कारण संबळनें जो पैसा खर्च केला त्याचे बदला काय मिळविलें असें विचारल्यास त्यानें उत्तर देण्याइतकें कांहींच केलें नव्हतें हें तो पूर्णपणें जाणून होता. परंतु त्याला तेथें राहूं देणें तितकेंच धोक्याचें होतें. कारण शिवाजीनें कल्याणच्या सुभेदार दादाजी पंडितास सिद्दीला मुंबईत थारा दिल्यास मुंबईची रसद लाकुडफांटे एकदम बंद करण्याची व इंग्रजावर चालून जाण्याचे हुकूम दिले होते.[१८२] सिद्दीला मुंबईत राहूं दिल्यामुळें शिवाजीस राग आला. परंतु कोणत्या

अडचणींत व कोणत्या अटीवर त्याला तेथें राहूं दिलें हें समजावून सांगितल्यावर त्याचें समाधान झालें.[१८३] तारिख ३० एप्रिलपर्यंत सिद्दी मुंबईंतच राहिला. त्याच्या निःशस्त्र लोकांनाच आणि तेहि २०० च लोकांना बंदरांत उतरण्याची परवानगी ठेवली होती. दाणागोटा घेतांच त्यानें परतलें पाहिजे अशीहि त्यांना ताकीद होती. परंतु सिद्दी हालेना म्हणून ता. ३० एप्रिल रोजीं असें ठरविलें कीं जॉन शाक्सटन, डेप्युटी गव्हर्नर, जॉन चाइल्ड, हेन्री ऑक्झिडन व स्टीफन उष्टिक यांनीं सिद्दीची गलबतावर भेट घ्यावी आणि सामोपचारानें बंदर सोडून जाण्यास सांगावें. जर तसें जमत नसेल तर त्यांना कायद्याप्रमाणें ३ दिवसांच्या आंत बंदराबाहेर गेलेंच पाहिजे अशी ताकीद द्यावी. त्यानंतर त्यांच्या कोणाहि माणसाला किनाऱ्यावर येऊं देणार नाहीं व रसदहि मिळणार नाहीं शिवाय जी कांहीं नुकसानी होईल तिची सर्व जबाबदारी तुमचेवर पडेल.[१८४] असें जाहीर केलें. याच दिवशीं सिद्दीनें माहीमवरून सिवरी (Sienry) व शीवच्या बाजूला, व म्हातारपाखडी (Martherges) व इतर ठिकाणीं आपलीं ३–४ गलबतें किनाऱ्याला लावलीं व आपले सैनिक उतरवून तेथें लुटालूट केली. बायका, पोरें, माणसें वगैरेंना घराबाहेर हाकून दिलें. नंतर त्यांची तक्रार येऊन पोहोंचतांच ४–५ सैनिकांच्या तुकड्या त्या त्या दिशेला इंग्रजांनीं रवाना केल्या. हंटर नांवाची फत्तेमारीहि तिकडे पाठविली. व सिद्दीच्या व त्यांस सामील झालेल्या सर्व लोकांना पकडून आणण्याचा हुकूम दिला.[१८५] परंतु या सर्व खटपटीचा फारसा उपयोग झाला नाहीं. सिद्यानें आपले ५०० हत्यारबंद लोक उतरविण्याचा प्रयत्न केला. इंग्रजांच्या सैनिकांनीं तोफा झाडल्या तेव्हां ते परत निघून गेले; परंतु सिद्दीनें त्रास देण्याची खटपट चालूच ठेवली. त्यांनींहि बेटा-वर गोळे सोडले. म्हणून सिद्याकडे पुन्हां एकदां निरोप धाडून त्याला जावयास सांगितलें. त्याचप्रमाणें यापुढें तुमच्या लोकांना किनाऱ्यावर येऊं देणार नाहीं, दाणापाणी फार तर कांहीं दिवस नेऊं देऊं म्हणून पहिल्या आठवड्यांत कळविलें.[१८६] परंतु याचा कांहीं एक उपयोग झाला नाहीं. नंतर ७ मेचा सुरतेचा हुकूमहि आला. त्यांत सिद्दीला बंदरांत येऊं देऊं नये असेंच स्पष्ट कळविलें होतें. सुरतेच्या सुभेदारानीं आपलीं दोन्ही लढाऊ जहाजें परत करण्याचा व राहिलेल्या गुराबाबद्दल भाडें देण्याचा सिद्दीस हुकूम सोडल्याचें लिहिलें होतें.[१८७] आतां सिद्दीला आसरा तर पाहिजे होताच. अशा झटापटींत पावसाळा काढणें शक्य नव्हतें. परत सुरतेला जावें तर आरमार

हातचें जाईल व भाडें वगैरे पैसा मागितल्यास कांहींएक नाहीं. अशा परिस्थितींत सिद्दीनें आपली हलाखी पाहून इंग्रजानें सिद्दीला कांहीं अटींवर पावसाळा काढूं देण्याचें ठरविलें. व ९ मे ला त्यास अटी कळविल्या.[१८८] सिद्दीच्या व मोगली आरमाराचें कांहीं नुकसान झालें तर त्यास इंग्रज जबाबदार राहाणार नाहींत, बेटावरील लोकांना कोणत्याहि तऱ्हेचा उपद्रव पोहोंचतां कामा नये व बंदरांत येणाऱ्या कोणत्याहि जहाजावर लुटमार करूं नये. या अटी सिद्दीनें व मोगली मिरझा महमद हुसेन यानें मान्य केल्या व सिद्दीला मुंबईत पावसाळा काढण्याची परवानगी मिळाली.

याच सुमारास इंग्रजांचे व शिवाजीचें तहाविषयीं बोलणें चालूं होतें. या कामगिरीवर हेन्री ऑक्सिंडनला पाठविण्याचें ठरलें. सिद्दीनें बळजबरीनें आपलें आरमार मुंबईत नांगरल्यामुळें त्याला पाठविणें तितकें जमेना.[१८९] शेवटीं सिद्दी व इंग्रज यांच्यामध्यें अटी ठरल्यानंतर ऑक्सिंडनला ता. १३ मेला रवाना केलें.[१९०] त्याला ज्या तहाबद्दल सूचना केल्या होत्या त्यांत सिद्दिप्रकरणाविषयीं हीं पुढीलप्रमाणें मजकूर होता.[१९१] सिद्दीचें आरमार पावसाळ्यांत मुंबईला राहिल्यामुळें शिवाजीला राग येणें साहाजिक आहे. परंतु त्याला काढून लावण्याचे आम्हीं काय उपाय केले आणि त्याला कसें वाईट रीतीनें वागविलें हें तुम्हीं स्वतः पाहिलें आहे. त्यावरून सांगितल्यास आणि व्यापाराचे दृष्टीनें आम्हीं मोंगलावर किती अवलंबून आहों हें त्यांचे निदर्शनास आणून दिल्यास त्यांचें समाधान होईल यांत शंका नाहीं. शिवाय, शिवाजीचीं स्वतःचींच गलबतें मुंबई बंदरांत शाकारलेलीं असल्यामुळें तीच सवलत सिद्दीला देण्याचें, आमचे कितीही मनाविरुद्ध असलें तथापि आम्हीं नाकारणें मुत्सद्देगिरीचें होणार नाहीं असें त्याला सांगावें. शिवाजी व सिद्दी यांच्या युद्धामुळें व्यापाराला अडथळा होतो आणि शिवाजीविरुद्ध सिद्दीला कुमक करणारें बादशाही आरमार किनाऱ्यावर उपद्रव देतें, ही आपत्ति टाळण्याकरितां उभयतांचा तह ठेवण्याची खटपट केली पाहिजे. या बाबतींत युद्धामुळें होणारी हानी व शांततेपासून होणारा लाभ याबद्दल निराजीशीं चर्चा करून त्याचें मन वळवावें. तुम्हांला खासगी रीतीनें सांगितलेल्या गोष्टी त्याला सांगाव्या. आणि याउपर त्यांचें मन नच वळल्यास खुद्द राजापाशीं याबद्दल गोष्ट काढूं नये. उभयतांशीं चांगला शेजारी व मित्र या नात्याचे संबंध ठेवण्याची प्रेसिडेंटची इच्छा आहे. यामुळें उभयतांनींहि परस्परांत सलोख्यानें रहावें एवढेंच बोलून ठेवावें; परंतु ऑक्झिडननें निराजीपंताजवळ

गोष्ट काढतांच त्यांनीं नकारार्थी उत्तर दिलें व सांगितलें कीं शिवाजीजवळ या बाबतींत मुळींच बोलूं नये.[१९२] ऑक्झिंडन लिहितो कीं, सिद्दीच्या तहाविषयीं बोललों त्याचा निराजीवर कांहींच परिणाम झाला नाहीं. राज्याभिषेक होतांच जोराचा हल्ला करून घेतल्या किंवा पुढच्या पावसाळ्यांत दंडा घेण्याच्या इरादानें उत्तम सैन्याची तयारी चालू असून तोफखान्यामध्यें १५ तोफांची भर शिवाजीनें नुकतीच घातली आहे. सिद्दीनें किल्ला ताब्यांत द्यावा आणि वाटेल तेवढी मनसब मागावी असें शिवाजीनें कळविलें; त्याला सिद्दीनें नकार दिल्यामुळें, आतां त्यानें शिवाजीसारख्या पराक्रमी शत्रूशीं दोन हात करण्यास तयार व्हावें, असें निराजी बोलला. मोगलांची सिद्दीला होणारी मदत किंवा सिद्दी किनाऱ्याला देईल त्या उपद्रवाबद्दल, शिवाजीस खिजगणती नाहीं. गेल्या वर्षीं सिद्दीनें खेळ केले तेव्हां शिवाजी दूर बालाघाटांत गुंतला होता. परंतु आतां त्यानें सर्व प्रकारचा पक्का बंदोबस्त केला आहे. त्यांतून, प्रथम आरमाराची कामगिरी सिद्दीवर सोपविली तेव्हां किनाऱ्यावरील मुलूख व किल्ले जिंकण्याबद्दल त्यानें मोगलाला दिलेलीं वचनें त्याला अजूनपर्यंत पुरीं करितां आलीं नाहींत. यामुळें बहादुरखानानें रागानें त्याच्याकडे कामगिरीचा जाब व खर्चाचा हिशेब मागून अधिक पैसा यापुढें मिळणार नाहीं असें त्याला निक्षून कळविलें आहे.[१९३]

सिद्दी बराच पेचांत सांपडला होता. जंजिऱ्यावरील फत्तेखानास जितकी रसद व मदत मिळावी तितकी मिळाली नाहीं. परंतु तो किल्ला धरून बसला होता. सिद्दी संबळ मुंबई बंदरांत आला. परंतु यावेळीं त्याचा मोगलांचा आधार तुटला होता. पैसा व माणसें सांभाळण्या इतकी त्याची परिस्थिति राहिली नव्हती. अशा स्थितींत त्यानें मुंबईतच पावसाळा काढून नंतर चांचेगिरीनें स्थिती सुधारण्याचा प्रयत्न केला. परंतु जेव्हां त्याला शिवाजीचा लकडाच पाठीशीं लागलेला दिसला तेव्हां त्याची राहिल्या ठिकाणीं गडबड करण्याची छाती होईना. तसेंच शिवाजीच्या मुलखांत शिरून लुटालूट करावी तर तेंहि इंग्रज करूं देतना अशा तऱ्हेनें दिवस कंठीत असतां सिद्दीला मुंबईहून काढून लावण्याकरितां मोरो पंडिताची १०००० फौजेनिशीं रवानगी झाली.

मोरो पंडित आगष्टच्या सुरवातीसच कल्याणला आले व तेथून इंग्रजांशीं सिद्दीला बाहेर लावण्याबद्दल तक्रार करूं लागले. दादाजीलाहि महाडाहून दंडाराजपुरीला रवाना केले. शेवटीं शिवाजीनें एक ताकीदपत्र रवाना केलें आणि इंग्रजांस कळविलें कीं जर यापुढं क्षणभरहि सिद्दीला बंदरांत राहूं द्याल तर तुम्हीं सिद्दीला विशेष सवलती व मदत करितां असें समजून

तुमचा व आमचा तह तुटून लढाई सुरू झाली असें समजावें. हें ताकीदपत्र जेव्हां मुंबईस येऊन दाखल झालें तेव्हां ता. २६ आगष्ट १६७४ रोजीं त्याचा इंग्रजांनीं विचार केला व तावडतोब कॅ. निकोलस याला सिद्दीकडे रवाना करून त्याला आतां दाणारसद जी द्यावयाची ती तुम्हांस मिळालीच आहे तरी तावडतोब तुम्हांस बंदर सोडून गेलेंच पाहिजे असें बजावलें व शिवाजीचें पत्रही दाखविलें[१९४] परंतु सिद्दीस तावडतोब बंदर सोडून जाणें शक्यच नव्हतें. त्यांनीं पोर्तुगीज व इतर टोपीवाले लोकांची शिवाजीविरुद्ध लढण्यासाठीं सैन्यांत भरती करण्यास सुरवात केली व मुंबईंतील रहिवाशीच जेव्हां त्याला मिळत आहेत असें मुंबईकरांना दिसून आलें व शिवाजी या मदतीची बातमी ऐकेल तेव्हां फारच रागावेल ही भीति मनांत धरून त्यांनीं तावडतोब हुकूम काढून जो जो कोणी सिद्दीस जाऊन मिळेल त्याची सर्व मालमत्ता जप्त केली जाईल अशी दवंडी पिटविली. आपले लोक ठेवून जारीनें तपास करून शिक्षा करूं लागले.[१९५] सिद्यानीं आरमारासह बंदर सोडून जाण्यासाठीं मुंबईकरानीं शक्य ती खटपट व लटपट केली. परंतु सिद्दीनें सप्टेंबर महिना मुंबईच्या आश्रयानें काढला.[१९६] मोरो पंडिताची वाट पोर्तुगिजानीं आडविल्याकारणानें त्याला मुंबईवर चाल करून येतां आलें नाहीं. परंतु खासा शिवाजीच मोठ्या सैन्या-निशीं कल्याणकडे येत आहे हें ऐकून मात्र सिद्दीनें आपलें चंबूगबाळें आटपून मुंबईबाहेर जाण्याचें ठरवून बाहेर पडला. तो सुरतेकडे गेला, परंतु डचांच्या आरमारला. पाहून भीतीनें परत वळला. नंतर इकडे तिकडे लपून छपून त्यानें कांहीं दिवस काढले. शिवाजीनें जंजिऱ्याचा वेढा अगदीं निकरानें लढविण्याचा विचार करून दारूगोळा व मोठ्या तोफा पाठविलेल्या होत्या.[१९७] त्यापुढें सिद्दीचा टिकाव लागेना. शिवाय शिवाजीनें आणखी मोठ्या तोफा मिळविण्याचा प्रयत्न केला. मुंबईकरांनीं कांहीं दिल्या.[१९८] परंतु सुरतवाल्यांनीं अशा तऱ्हेची मदत केल्यास औरंगझेबास राग येईल म्हणून अधिक मदत देण्याचें नाकारलें.[१९९] सरते शेवटीं सिद्दी संबळचे बरेच लोक मारले गेले, पैसाही संपला, जंजिऱ्याच्या वेढा इतका निकरानें लढविला जात होता कीं त्याला जंजिऱ्याच्या आश्रयाला राहणें अशक्य झालें व जंजिरा बहुतेक एखाद महिन्यांत शिवाजीच्या हातीं पडेल अशी अवस्था प्राप्त झाली. सिद्दी संबळ राहिल्या लोकांनिशी पळून मुंबईस आला.[२००] व सुरतेला पोहोंचण्यापुरती रसद जमवून बाहेर जाण्याचें कबूल करून तावडतोब सुरतेला इ. स. १६७५ च्या फेब्रुवारींत निघून गेला. अशा तऱ्हेनें इ. स. १६७४ साल गेलें. शिवाजीनें औरंगझेब व विजापूरकरांसारखे पादशहा ठायीं ठेवून राज्याभिषेक करून घेऊन छत्रपतिपद मिळविलें. परंतु जंजिरा शिवाजीच्या हातीं आला नाहीं.

———

या लेखांतील टीपा प्रत्येक पृष्ठाखालीं न देतां येथें अनुक्रमानें दिल्या आहेत.

१. B. G. G.-Kolaba-pp. 401, 402 and 462, 463. २. भा. ब. जं. सि. यांची.-पृ. १. ३. ब्रिगचा फेरिस्ता व बर्डची मिरत इ अहमदी. B. G. G.-Kolaba-p 434. ४. मिरत इ अहमदी व B. G. G. H. of K. & D-p. ३० ५. ब्रिग-फिरस्ता-२-१८६. ६. भा. व. जं. सि.-१. ७. हेगचे बुऱ्हाण-इ-मासिरचें भाषांतर. इ. ऍ. एप्रील १९२०, पृ. ७५. ८. B. G. G.-Kolaba-434. फेरिस्ता २-१८६. ९. Shababi's Ahmednagar History B. G. G. Kolaba-434 note. १०. भा. व. ज. सि. पृ. १-B. G. G. Kolaba-434-35 ११. भा. व. जं. सि. पृ. १. शि च. सा. ले. ४४६. १२. भा. व. जं. सि. पृ. २. शि. च. सा. ४४६. १३. भा. व. जं. सि. पृ. २. B. G. G. Kolaba-435, Birds Mirat-in Ahmadi 129, 134, Brig's Ferista III-265, Scott's Ferista 388-I. १४. भा. व. जं. सि. २, B. G. G. Kolaba 435-36. १५. Eng. Fac. in India Pt. 1-p. 296 १६. ई फा इन इं. ३-२४३ स्वाली ते सुरत-२१-२-२८. १७ सा. ले. २३० किंवा सा. सं. २६४. १८ सा. ले. २२८ किंवा सा. सं. २६५. १९ सा. ले. २२९ किंवा सा. सं. २६६. २० सा. ले. २३१ किंवा सा. सं. २६७. २१ रा. सं. २३० किंवा सा. सं. २६२-पत्र ८-३-१६२८ चें. २१ इ. फॅ. ३- इ भा. ३ २५२. २२ भा. ब. जं. सि. २ B. G. G. Kolaba-४३६. २३ मालेट-Orms Mss. Vol. 331 pp. 1-12. २४ का. खा. इ. VII 256. २५ इ. फॅ. vi-228 सा. सं. ४१९-पत्र स्वाली-कंपनी २८-१-१६४०. २६ स. पृ. २१ ले १६ किंवा सा. सं. ५३०. २४-८-४७ चें पत्र. २७ चि. घ हकीकत-चित्रवंश का० ।-प्र. ४-८-२६. २८ B. G. G.-Kolaba-436. आदिल-ते सिद्दी अमदर १६४६-सा. सं. २३१९=५२७ अ. २९ भा. व. जं. सि. २-B. G. G.-Kolaba-436. ३० इ. फॅ. IX-104 स्वाली ते कंपनी-१४ जानेवारी १६५२ सा. सं. ६१८. ३१ शि. दि. १९३. ३२ म. सा. छो. ब. ३८. ३३. जे. श. ३४ भा. व. जं. सि. २ ३५ जे. श. का. खा. इ. २८९. शि भा. १८-५०-१८१. ३६ सा. सं. ७२८. ३७ चि. गु. ब. ८५-८६ चि. ब. ५५. ३८ पि. शि. ४, सा सं. ७४७. ३९ B. G. G.-Kolaba 436, शि. दि. १९२. ४० म. सा. छो. ब. ३८ शि. दि. १९३-इस्रबखान म्हटलें आहे त्या ऐवजीं खैरातखान असावें. ४१ शि. दि. १९३.

४२ म. सा. छो. ब. ३८. ४३ चि. ब. ८६. म. सा. छो. ब. ३८, शि. दि. ११३. ४४ चि. ब. ८६. ४५ शि. दि. ११३. ४६ म. सा. छो. ब. ३८ ४७ म. सा. छो. बखर ३८ शि. दि. ११३. ४८ चि. ब. ८६. ४९ म. सा. छो. ब. ३९ शि. दि. ११३. ५० चि. ब. ८६. म. सा. छो. ब. ३९ शि. दि. ११३. ५१ म. सा. छो. ब. ३९ शि. दि. ११३. ५२ चि. ब. ८६. ५३ चि. ब. ८६, म. सा. छो. ब. ३९ शि. दि. ११४. ५४ शि. दि. ११४. ५५ सा. चि. २८७ सा. सं. ७७४. ५६ शि. भा. १७-१५-१६७. ५७ इ. फॅ. X-२१४-सा. सं. ७९३.-सुरत ते कंपनी १० जानेवारी. इ. १६६०. ५८ इ. फॅ. X-३७६-सा. सं. ८१८ राजापूर ते रेव्हिंगन २८-एप्रील १६६०. ५९ इं. फॅ. इं.-1655-60 Vol. pp. 247-51. ६० इं. फॅ. इं. 1655-60-354-358. ६१ इ. फ. इं. १६५५ 60-358-59. ६२ Factory. Records-Surat Vol. 85 p. 178. ६३ Orme Mss. Vol. 155 pp. 1-21. ६४ Orme Mss. Vol. 155-pp. 1-21. ६५ इ. फॅ. इं. Vol 661-65—p. 17. ६६ इ. फॅ. इं. 1661-64 p. 97. ६७ इ ग. रजिस्टर १६६३ p. ५४३-५-सा. म. ९५९. ६८ सा. सं. १०६६ व १०७७, १०७९, १०८३, १०८८. ६९ सा. सं. १०७८. ७० म. सा. छो. ब. ३०, शि. दि. २४८-४१. ७१ म. सा. छो. व ३०-३१. B. G. G. Kolaba 437. ७२ Surat Vol. 105-p 121-22, सा. सं. १२५३-कारवार ते सुरत पत्र १९ एप्रील १६६९. ७३. Surat Vol. 1 p. 42 सा. सं. १२५७. ७४ Surat Vol. 1-p. 77-सा. सं. १२६०. ७५ हुबळी ते सुरत १७-७-१६६९-Surat Vol. 105 - 124. ७६ मुंबई ते सुरत-Old Secretariat Records-पत्र 16-10-1669. ७७ मुंबई ते सुरत-६-११-१६६९-सुरत Vol. 105 p. 154-55. ७८ मुंबई ते सुरत-१६-१०-६९-Surat Vol. 105 151-Old Secretariat Records. ७९ सुरत Vol. 105 f 150-हेनरी यंग ते सुरत १६-१०-६९. ८० सुरत ते मुंबई-पत्र-१-११-६९-Bombay Old Secretariat Records O. C. Vol. 30, No. 3361. ८१ Bombay Secretariat Records O. C. 3415 सुरत ते कंपनी-३०-३-१६७०. ८२ Surat Vol. 6 p. 28 मुंबई ते सुरत २८-६-७०. ८३ Surat Vol. 6 p. 35-36 मुं. ते सु. २७-७-७०. ८४ Surat Vol. 19 p. 27-28. ८५ Surat Vol. 6 p. 40-42. ८७ मुंबई ते सुरत-२० आगस्ट १६७०, Vol. 6-47-8. ८८ मुं. ते सु. १४-१०-७० सुरत Vol. 105 p. 42. ८९ सु. ते मुं. 28-10-70 Surat Vol. 3. p. 98. ९० मुं. ते सु. १७-११-७० Surat Vol. 105 पृ. 72, do-do-21-11-70 व 28-11-70 on 86-87-128.

९१ Surat Vol. 105 and 96-97. ९२ मुं. ते सु. P. IV. p, 426. ९३ मुंबई ते सुरत-Suart Vol. 106 f. 9. ९४ सुरत ते मुंबई ९-९-७१ B.C. no. 3585. ९५. सुरत ते मुं.- Suart Vol. 87 p. 1. ९६ मुंबई ते सुरत-२३-१०-१६७१-Suart Vol. 106 p. 26-7 ९७ मुं. ते सु.-८-११-१६७१; सु. व्हॉ. १०६ पृ. ३२-३३. ९८ सु ते. मुं.-३०-११-१६७१; सु. व्हॉ. ८७ पृ. ७. ९९ सु. ते मुं.-२२-४-१६७२; सु. व्हॉ. ८७ पृ. २९. १०० मुं. ते सु.-१०-५-१६७२; ऑ. मॅ. १ पृ. २४. किंवा सु. व्हॉ. १०६ पृ. १४. १०१ सु. ते स्वा.-२२-८-१६७२; सु. व्हॉ. ८७ पृ. ६४. १०२ टॉ. रोच दि. ते सु.-२६-९-१६७२; सु. व्हॉ. १०६ पृ. ११४. १०३ मुं. ते सु.-३१-१०-१६७२; सु. व्हॉ. १०६-२ पृ. १२. १०३ अ. स्टॉ. फ्रा. २९. १०४ मुं. ते सु.-१-११-१६७२; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४ पृ. ८४. मुं. ते कंपनी-२१-१२-१६७२; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२, पृ. ३५. ऑ. फ्रा. ३१. मुं. ते म.-१-३-१६७३; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. २९-३०. १०५ मुं. कन्स.-२३-१२-१६७२; फॅ. व्हॉ. १ पृ. ९ मुं. ते सु.-११-१ १६७३; ओ. से. रे. ओ. सी. ३७४१ पृ. ८० ऑ. फ्रॉ. ३१. १०६ मुं. ते कं.-६-९-१६७३; ओ. से. रे. ओ. सी. ३७३४. १०७ मुं. ते कं.-११-११-१६७३; ओ. से. ऐ. ओ. सी. ३७४१ पृ. ५०. १०८ मुं. ते म.-१-३-१६७३; ओ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. २९-३०. १०९ मुं. ते म.-१-३-१६७३; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ.२९-३० ११० मुं. ते कं.—२८-३-१६७३; ऑ. मं. ऑ. सी. ३७६०. १११ मुं. ते सु.-२८-३-१६७३; ओ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. ६१. ११२ मुं. ते कं.-२८-३-१६७३; ओ. से. रे. ओ. सी. ३७६० पृ. ५६. ११३ मुं. ते सु.-२६— ४-१६७३; सु. व्हॉ. १०६ पृ. ९९. ११४ इंस्ट्र. निकोल्सला.-१-५-१६७३; ऑ. मॅ. ओ. सी. ३७८४. मुं. कन्स-१०-५-१६७३; फॅ. व्हॉ. १ पृ. ४६ आणि ऑ. मॅ. व्हॅ. ११४-२ पृ. ६४. ११५ मुं. ह.—१०-५-१६७३; ओ. मॅ. ओ. सी. व्हॉ. ३४ पृ. ३७७९. मुं. ते कं—२८-८-१६७३; ओ. मॅ. व्हॉ. ११४-२, पृ. १२४. ११६ मुं. ते सु. —२५-५-१६७३; सु. व्हॉ. १०६ पृ. १०७-१०८. मुं. ते सु.—१७-५-१६७३; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. ६७. मुं. ते सु.-२६-.- १६७३; सु. व्हॉ. १०६ आणि ऑ. मॅ. ११४-२ पृ. ७८. ११७ थॅ. निकोल्सला इन्स्ट्र-१७-५-१६७३; ऑ. सी. व्हॉ. ३४ नं. ५७८३. ११८ निकोल्सची रोजनिशी-१९-५-१६७३ ते १७-६-१६७३ ओ. सी. व्हॉ. ३४ नं. ३७३७. ११९ मुं. कन्स.—३-६-१६७३; फॅ. व्हॉ. १ पृ. ५५. मुं. ते सु.— ६—६—१६७३; ओ. म. व्हॉ. ११४—२ पृ. ८३—८४. १२० मुं. कन्स.—२३—६—१६७३; फॅ. व्हॉ. १ पृ. ५७—५८. १२१ मुं. कन्स.-२५-६-१६७३; फॅ. व्हॉ. १ पृ. ५९-६०. मुं. ते म.-३-९- १६७३; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. १३३. १२२ मुं. ते म.-३-९-१६७३; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. १३३. १२३ मुं. कन्स.-१५-९-१६७३; फॅ. व्हॉ. १ पृ. ८३-८६. मुं. ते सु.-२०-९-१६७३; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. १४३. १२४ मुं. ते मुसलि.-७-१०-१६७३; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. १५४. १२५

ऑ. फा. ५८. १२६ मुं. ते सु.-१२-१२-१६७३; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. १६२. मुं. ते सु.—१६—१२—१६७३; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४—२ पृ. १६५.

१२६ ते १६५ टीपा नाहींत.

१६६ मुं. त सु.-१७-१०-१६७३; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. १६६ मुं. ते कं. २३-१०-१६७३; ऑ. से. रे. ऑ. सी. ३८७२ पृ. ८५ मुं. कन्स.-२५-१०-१६७३ ऑ. से. रे. १६७ सु. त मुं.-३०-१०-१६७३ ऑ. सी. व्हॉ. ३४ नं. ३८७९. १६८ मुं. अ.-३१-१०-१६७३; ऑ. सी. व्हॉ. ३४ न. ३७७९ मुं. ते सु. २३-१०-१६७३ ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. १८०. १६९ मुं. ते सु. ३१-१०-१६७३ ऑ. से. रे. ऑ. सी. ३८८१. १७० मुं. ते का. ५-११-१६७३ ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. १९२ मुं. ते म. ६-११-१६७३ ऑ. मॅ. व्हॉ. २०-२-१९५. १७१ मुं. ते रोच आग्रा ७-११-१६७३ फॅ. व्हॉ. ६ पृ. २५१-५२. १७२ मुं. ते सु.-१३-११-१६७३ ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-२ पृ. २०६ सु. ते कं. १२-१-१६७४ फॅ. व्हॉ. ८७ पृ. ७४-७५. १७३ मुं. ते कं. १५-१२-१६७३ ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-३ पृ. ११ आणि ३१ ऑ. फा. ४० १७४ मुं. ते कं. १७—२—१६७४ ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४—३ पृ. ७१ १७५ मुं. कन्स. ६—३—१६७४ फॅ. व्हॅ. १ पृ. १७—१८. १७६ नारायण शेणवी, रायगड ते मुं.-४-४-१६७४ सु. व्हॉ. ८८ पृ. ७८-८३. १७७ सदर सु. व्हॉ. ८८ पृ. ७८-८३. १७८ मुं. ते सु. २४-३-१६७४; ऑ. मॅ. ११४-३ पृ. ९६. १७९ मुं. ते सु. ९-४-१६७४ ऑ. मॅ. ११४-३ पृ. ९९. १८० सु. ते मुं. -१८-४-१६७४; फॅ. व्हॉ. ८७ पृ. १५३-४. १८१. मुं. ते सु.-१८-४-१६७४; ऑ. मॅ. ११४ पृ. १०२. १८२ मुं. ते सु -२५-४-१६७४ ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४पृ. १०४-६ मु. कन्स २७-४-१६७४ फॅ. व्हॉ. १ पृ. २६-७ सु. ते मुं. २९-४-१६७४ सु. व्हॉ. ८७ पृ. १५५-५७. १८३ मुं. अहवाल. २८-४-१६७४; ओ. सी. व्हॉ. ३४ पृ. ३९१८. १८४ मु. कन्स. ३०-४-१६७४ फॅ. व्हॉ. १ पृ. २७-२८. १८५ मुं. ते सु. ३०-४-१६७४; सु. व्हॉ. ८८ पृ. १२२ मुं. ते सु. ३०-४-१६७४; ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४ पृ. १०८ १८६ मुं. ते सु. ६-५-१६७४ ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४ पृ. ११०. १८७ सु. ते मुं. ७—५—१६७४ सु. व्हॉ. ८७ पृ. १६२—३. १८८ मुं. ते चिट्ठी. ९—५—१६७४ ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४—१ पृ. ११२-१३. १८९ मु. कन्स. २७-४-७४ फॅ. रे. व्हॉ. १ पृ. २६—२७. १९० ऑक्सि. नॅरे. ओ. से रे. १३ मे. ते १३ जून १६७४ ओ. सी. ३९६५. १९१ इन्स्ट्र. ऑक्सिला. ११—५—१६७४— ओ. से. रे. ३५ नं. ३९६३. १९२ ऑ. प्र. वृ. व. फा. ची. ह. ओ. सी. ३९६५ १९३ ऑक्स. ते मुं. २१-९-१६७४ सु. व्हॉ. ८८ पृ. १३८—४१. १९४ मुं. कन्स. २६-८-१६७४ फॅ. व्हॉ. १ पृ. ७८. १९५ मुं. कन्स. ४-९-१६७४ फॅ. व्हॉ. १ पृ. ८३ १९६ मुं. ते. सु. २५-९-१६७४ ऑ. मॅ. व्हॉ. ११४-३ पृ. २०३ १९७ ऑ. प्रॅ. ४६-४८. १९८ मुं. कन्स.-१-६-१६७४ फॅ. व्हॉ. १ पृ. ११३-१४. १९९ मुं. ते सु. २७-२-१६७५ ऑ. मॅ. ११४-४ पृ. ९२ सु. कन्स. १२-११-१६७४ फॅ. व्हॉ. ३ पृ. ४७. २०० मुं. ते सु. २७-२-१६७५; सु. व्हॉ. १०७ पृ. ६९.

शिवाजी महाराज व त्यांचे तत्कालीन मराठे प्रतिस्पर्धी.

(ले.—**माधवराव हणमंतराव घोरपडे**, पुणें)

मराठ्यांच्या इतिहासावर गेल्या पन्नास वर्षांत संशोधन होऊन संशोधकांनीं अत्यंत परिश्रमानें नवीन शोध लावले आहेत. त्यापूर्वींची स्थिति म्हणजे, इंग्रज ग्रंथकारांनीं लिहावें व आम्हीं तें वाचावें. अद्यापिहि कांहीं बाबतींत संशोधन व चर्चा होणें जरूर आहे; म्हणून हा लहानसा निबंध चर्चेसाठीं पुढें मांडला आहे.

शिवाजी महाराजांना त्यांचे जातभाईकडून कसा विरोध झाला हें प्रथम पाहून नंतर त्या काळच्या स्थितीकडे पाहूं.

मोरे:—मोरे यांचें घराणें आदिलशाहींत नोकरी करून उदयास आलें. त्यांना त्यांचे पराक्रमाबद्दल विजापूरकरांकडून " चंद्रराव " हा किताब व जावळीचें राज्य मिळालें. मोरे हे आपणास विजापूरकरांचे एकनिष्ठ सरदार व जावळीचे राजे म्हणवीत. जावळी ही सातारा जिल्ह्यांत वायव्य दिशेचे टोकास असून, तेथून कोकणांत उतरण्याचा मार्ग आहे. मोरे व शिवाजी यांमध्यें विरोध निरानिराळया कारणांनीं वाढत गेला. ज्या चंद्ररावाच्या गादीवर, एकदां शिवाजीच्या साहाय्यानेंच त्याचा दत्तक पुत्र अधिष्ठित झाला (शि. भा. अ.) तोच चंद्रराव पुढें स्वतंत्र होऊन शिवाजीच्या विरोधकांत समाविष्ट झाला. (ले. ६२७, ७०७, रु. ३ ले. ५ इ.) ही गोष्ट महाराजांचे मनास लागून राहिली. सभासदानें, " चंद्रराव मोरे यास मारल्याविरहित राज्य साधत नाहीं " हें वाक्य लिहिलें. या वाक्यावर, पुष्कळ युरोपियन व हिंदी इतिहासकारांनीं भर देऊन, महाराजांनीं चंद्ररावाचा खून केला असा त्यांचेवर दोषारोप केला आहे; उलट मराठी भाषाकोविदांनीं व आधुनिक संशोधकांनीं वरील आरोपापासून महाराजांस साधार मुक्त केलें आहे. मोरे यांची जावळीची बखर व शिवदिग्विजय यांत निरनिराळया हकीगती दिल्या आहेत. (शिवदिग्विजय पान:—१३०—३१ व इ. स. जावलीकर मोरे बखर पृ. २६.)

मोहिते— दादोजी कोंडदेव वारल्यानंतर (जुलै १६४७) शहाजीच्या जहागिरीची व्यवस्था महाराजांकडे आली. शहाजीकडून वसूल नेण्यासाठीं माणसें आलीं, त्यावेळीं महाराजांनीं, " जहागिरीची व्यवस्था करण्यास आम्हांसच पैका पुरत नाहीं " असें उत्तर देऊन त्यांना वाटाण्याच्या अक्षता दिल्या. इकडे महाराजांना शहाजीकडील मंडळी जुमानीनात. सुपें परगण्यावर देखरेख करण्याकरितां संभाजी मोहिते ह्याची शहाजीकडून हवालदार म्हणून नेमणूक झाली होती. तो त्यांना दाद देईना. महाराजांनीं सामोपचारें पुष्कळ खटपट केली; हा मोहिते आपणांस बधत नाहीं असें पाहून त्यांनीं एका रात्रीं सुप्यावर छापा घातला, सुपें घेतलें, मोहित्याचा सर्व खजिना व पागा वगैरे आपल्या ताब्यांत घेऊन त्याला कैद केलें व शहाजीकडे पाठविलें. (२४ सप्टेंबर १६५६).

घोरपडे— मोऱ्यांचे प्रमाणेंच घोरपड्यांचा उदय आदिलशाहींत झाला. बाजी घोरपडे व भोसले यांचा संबंध एकमेकांशीं दोनदां आला; प्रथम, शहाजी विजापूरकरातर्फे जिंजीच्या वेढ्यांत गुंतला असतां (१६४८) वजीर मुस्ताफाखानें शहाजीस पकडलें व बाजी घोरपडे यांचे बरोबर विजापुरास पाठविलें; व दुसरी वेळ म्हणजे शहाजीच्या मृत्यूनंतर (२३ जानेवारी १६६४) विजापूरकरांचा व महाराजांचा बेबनाव होऊन विजापूरकरांनीं महाराजावर स्वारी केली ती वेळ. मुधोळचे बाजी घोरपडे व वाडीचे सावंत यांनीं खवासखानाचे मदतीस येण्याचें ठरविलें हें महाराजांस समजतांच महाराजांनीं मुधोळास जाऊन बाजी घोरपड्याचा पराभव केला. ह्या वेळीं बाजी मारले गेले (सप्टे. आक्टो. १६६४).

वाडीचे सावंत— मोरे–घोरपड्यांप्रमाणेंच आदिलशाहींत यांचा उदय झाला. त्यांस विजापूरकरांकडून कुडाळ प्रांताची देशमुखी मिळाली. तेथील देसाई व नाईक यांचा मोड करून त्यांनीं आपणांस ' सरदेसाई ' ही पदवी घेतली. खेम सावंत याचा संबंध महाराजांबरोबर आला. पहिल्यानें त्यानें महाराजांशीं आपला निभाव लागणें कठीण असें पाहून तह केला (एप्रिल १६५९ काव्येतिहास–संग्रह पत्रें यादी ले. ४११) परंतु त्यानें विजापूरकरांशीं संगनमत करून खवासखानाचे मदतीनें शिवाजीमहाराजांशीं युद्ध करण्याचा चंग बांधला, हें पाहून महाराजांनीं त्याचा पराभव केला व कुडाळ प्रांत आपले ताब्यांत घेतला.

सुर्वे– हेहि वरील चौघांप्रमाणें आदिलशाहीचे अंकित होते. महाराजांचे व मोऱ्यांचे युद्धाचे वेळीं यानें मोऱ्यांस मदत केली. जावळी घेतल्यानंतर महाराजांना मी तुमचा "क्रीत–पुत्र" असा निरोप पाठविला. महाराजांनीं त्याला क्षमा केली. नंतर आपणाकडे महाराजांचें दुर्लक्ष आहे असें पाहून व आपला जुना धनी विजापूरकर याच्या भिडेस बळी पडून एके रात्रीं संगमेश्वरीं महाराजांचे सैन्यावर यानें अचानक छापा घातला. तो तानाजी मालुसरे यानें परतविला. महाराज, त्यावेळीं, कोंकणपट्टी सर करण्यांत गुंतले होते. वरील हकीगत ऐकून महाराजांनीं सूर्यरावांस बोलावणें केलें, तो त्यावेळीं आला नाहीं, हें पाहून महाराजांनीं तेथें जाऊन, शृंगारपूर घेतलें; सूर्याराव पळून गेला (१६५६) (शि. भा.). येणेंप्रमाणें थोडक्यांत हकीकत आहे.

आतां वरील मंडळीचें वर्तन महाराजांशीं न्याय्य होतें कीं नाहीं हें पाहूं !

आधुनिक इंग्रज व मराठी इतिहासकार यांनीं १७ व्या शतकांतील हकीगतीकडे २० व्या शतकांतील दृष्टिकोनानें पाहून वरील मंडळीस अप्रत्यक्षपणें देशद्रोही ठरविलें आहे. महाराज ज्यावेळीं जन्मास आले त्या वेळीं सर्वत्र यावनी अम्मल सुरूं होता. महाराष्ट्रांत त्यावेळीं आदिलशाही, कुतुबशाही व मोंगल हे मालक होऊन बसले होते. या यावनी राज्यांतच मराठे सरदार आपापलीं आसनें स्थिर करून होते. जो तो आपापली जहागीर संभाळून यवनांची थुंकी झेलण्यास तत्पर असे. देश बुडो वा कांहीं होवो माझें घोडें पुढें गेले पाहिजे असें जो तो मनांत म्हणे. इकडे प्रजेकडे पहावें, तर तीही यावनी अमलाखालीं जर्जर होऊन गेली होती. तिला कोणी त्राता उरला नव्हता. कोणीहि डोकें वर काढण्यास तयार नव्हता. अशा वेळीं महाराजांनीं प्रथम डोकें वर काढलें. त्यांनीं आपले मावळी संवगड्यांस हातीं धरून हळुहळु रक्तपाता शिवाय मुलूख व किल्ले काबीज केले. पुढें एकएक पातशहा जागे झाले.

आतां त्यांचे सरदारांचे स्थितीकडे पाहूं. खुद्द महाराजांचे वडील शहाजीराजे हे अनेक शाह्यांचा कारभार करून, शेवटीं विजापूरकरांकडे आले. महाराजांचा चुलतभाऊ मंबाजी भोसले हा विजापूरकरांचा नोकर असून तो त्यांचे वतीनें महाराजांबरोबर लढून मेला. महाराजांचे चुलते

मोगलांचे नोकर होते; महाराजांचे आप्त फलटणचे निंबाळकर व शिंदखेडचे जाधव हे आदिलशाहीचे व मोंगलांचे सरदार होते. ही झाली खुद्द वडिलांची व आप्तइष्टांची स्थिति. आतां आपण दुसऱ्या सरदारांकडे वळूं.

मराठ्यांच्या इतिहासाच सूक्ष्म अवलोकन केल्यास, मराठ्यांत दोन गुण प्रामुख्यानें दृष्टीस पडतात. एक त्यांचें **शौर्य** व दुसरा त्यांचा **इमानीपणा.** ज्या धन्याची चाकरी करावयाची त्याच्याशीं कधींहि बेइमान व्हावयाचे नाहींत व त्याचे करितां जिवावर उदार होऊन लढावयाचे; अशी भावना पुष्कळांच्या अंतःकरणांत होती. याच भावनेनें निदान पहिल्या तिघांनीं महाराजांशीं वर्तन केलें. यांत कोणासहि दोष देतां येत नाहीं.

मोऱ्यांना महाराजांनीं कपटानें मारलें नाहीं, किंवा महाराजांना विरोध करण्यांत किंबहुना त्यांचा पाडाव होईल असें वर्तन करण्यांत मोऱ्यांनीं देशद्रोह केला असेंहि होत नाहीं. जावळी घेतली गेली ती सांगून सवरून घेतली गेली. महाराज, चंद्रराव कृष्णाजीराव राजे यांस सांगून पाठवितात, " तुम्हीं मुस्तफद राजे म्हणवितां. राजे आम्हीं. आम्हां श्री शंभूनें राज्य दिधलें आहे. तर तुम्हीं राजे न म्हणावें. " यावर चंद्रावानें पुढील उत्तर दिलें, "तुम्हा काल राजे जाहलां. तुम्हांस राज्य कोणें दिधलें ?......तुम्हांमध्यें पुरुषार्थ असला, तर उद्ईक याल, तर आजच यावें. " (ऐ. स्फु. ले. जा. व. प्र. २६)

आतां मोहित्यांकडे वळूं. मोहिते हा शहाजीचा गुमास्ता, तेव्हां शहाजीच्या मनाप्रमाणें वागणें हें त्याचें कर्तव्य, व त्याप्रमाणें तो वागला यांत बिघडलें कोठें ?

आतां राहिले घोरपडे. बखरकारांनीं आपले पदरची हकीकत देऊन बाजी घोरपडे व शहाजीची कैद या प्रकरणांस बराच रंग चढविला आहे (शिवदिग्विजय पृ. १४४–४५). व त्यांनीं शहाजीच्या कैदेचें खापर बाजी घोरपड्याच्या माथ्यावर फोडलें आहे. उलट मुसलमान ग्रंथकारांनीं वरील प्रकरणाची जबाबदारी मुस्ताफाखांवर टाकिली आहे. (महंमदनामा व बुसातीनुस्सला तीन पृ. ५०७–९) जुलै १९२९ च्या मॉडर्न रिव्ह्यूच्या अंकांत सरकार यांनीं "Shahaji Bhonsle in Mysore" हा लेख महंमदनाम्याचे आधारें लिहिला आहे. त्यांत त्यांनीं म्हटलें आहे कीं,

" Mustafa Khan, who was now an old man stricken [illegible]n incurable disease, was greatly disturbed by the

open disobedience of his chief subordinates like Siddi Raihan & Shahaji. He had at last to place Shahaji under arrest."

सभासद या कैदेसंबंधीं कांहीं लिहीत नाहीं. बखरकरांनीं वरील प्रकरणाशीं बाजी घोरपडे याचा संबंध आणून महाराजांनीं तो दंश मनांत धरून बाजी घोरपडे मारले. त्यांचे बायकामुलांची कत्तल केली वगैरे हकीगती लिहिल्या (बाजी घोरपडे मुधोलकर यांनी स्वधर्मसाधनता सोडून यवन दुष्ट तुरुक याचे कृत्याला अनकूल होऊन दगाबाजीचे हुनरेकरून विजापुरास येणें घडलें.........सांप्रत पुन्हां दुर्बुद्धि धरून खवासखान विजापुराहून फौजेसुद्धां रवाना झाले. त्यांची हरोळी बाजी घोरपडे यांनी व लखम सावंत व खेम सावंत (!) याणीं प्रतिज्ञापूर्वक जतन करून सेनसमवेत निघाले....... आमचे मनोदय सेवटास नेणार तुम्ही सुपुत्र निर्माण आहां) (इ. मं. ७७). " सर्व माणूस घोरपडे याचे नसल कापून काढिले.........गर्भदेखील कापले " (९१ कलमी बखर)

या प्रकारें महाराजांवर आपण केवढा व कोणता आरोप करतो याचा सुद्धां विचार लेखकांनीं केला नाहीं. महाराजांचे मुसलमान इतिहासकार काफीखान यांनीं ('......and he entirely abstained from other disgraceful acts, and was careful to maintain the honour of the women & children of Muhamadans when they fell into his hands.") सुद्धां वरील उद्गार काढून महाराजांचें स्त्रिया व मुलें यांचे बाबतींत अत्यंत आदरणीय वर्तन होतें हें दाखविलें. ते महाराज बाजी घोरपड्याशीं व त्यांच्या बायकामुलांशीं असें वर्तन करतील हें शक्य नाहीं.

बाजी घोरपडे हा विजापूरकरांचा नोकर; त्यानें शहाजीस विजापुरास नेलें, तें मुस्ताफाखांच्या सांगण्यावरून. खुद्द महाराजांनीं मालोजी घोरपडे यांस जें पत्र लिहिलें त्यांत महाराज म्हणतात, " जेव्हां कांहीं, मुस्ताफाखांनें महारजांस दस्त करविले........ (श्री. सरस्वतिमंदिर वर्ष ५ अं ५.). पुढें विजापूरकरांचे स्वारींत मदत करण्याचें पत्करिलें तें बादशहाचे सांगण्यावरून; सारांश त्यांनीं जें जें म्हणून कांहीं केलें तें विजापूरकराचा नोकर म्हणून केलें.

आतां सावंत व सुर्वे यांनीं मात्र थोडी चलबिचल केली. शिवाजीचें पारडें वर जातें असें पहातांच झालेला तह मोडून पुन्हां विरुद्ध पक्षास मिळ-ण्याची तयारी दाखविली. यांत सुद्धां आम्हांस नवल वाटत नाहीं. तो काळच

असा धामधुमीचा होता. आपला फायदा जेणें करून होईल अशा मार्गानें जावयाचें असेंच सरदार, देशमूख यांचें साधारण धोरण ठरलेलें होतें. स्वराज्याची कल्पना लोकांत मुरली नव्हती; तेव्हां सरदारांची अशीच भावना होती कीं, शिवाजीचा हा पोरखेळ दोन दिवसांचा आहे; उद्यां त्याला मुसलमान चिरडून टाकतील, आपण तालमाला पाहूनच वागणें हें इष्ट. हा व्यावहारिक मार्ग त्यांनीं स्वीकारिला यांत दोष कोणाकडे येतो ?

शिवकालीन ज्योतिर्गणितज्ञान.

(लेखकः— **शिवराम गणपतराव पवार, सडें**)

सारांशः— प्रजेचें सर्वप्रकारें ऊर्जित करूं इच्छिणाऱ्या शिवाजीमहाराजांच्या कारकीर्दींत त्यांच्याच स्फूर्तीनें ज्योतिर्गणित–सुधारणेचा प्रयत्न झाला होता असें दर्शविणारा एक ग्रंथ आज उपलब्ध झालेला आहे.

शके १४४२ चे सुमारास श्रीमद्गणेश दैवज्ञ यांनीं ग्रहलाघव नामक ज्योतिर्गणितविषयक ग्रंथ निर्माण केला. महाराजांच्या कालीं ग्रहलाघव ग्रंथ सर्वत्र प्रचलित झाला होता; परंतु सर्वत्र वेध घेण्याची प्रवृत्ति असल्यामुळें ग्रहलाघवास १०० वर्षें झालीं नाहींत तोंच, त्यावरून आलेलें ग्रहांचें स्थान वेधास मिळत नाहीं असा अनुभव आला होता. हें लक्षांत घेऊन महाराजांनीं आपल्याच राज्यांतील ‘ श्रीकृष्ण दैवज्ञ ’ नांवाच्या ज्योतिःशास्त्रज्ञाकडून ‘ करणकौस्तुभ ’ या नांवाचा नवीन करण ग्रंथ करविला. हा ग्रंथ अलीकडे श्री. दत्तात्रय विष्णु आपटे यांनीं अनेक प्रतींवरून शुद्ध करून आनंदाश्रम मुद्रणालयांत छापून प्रकाशिला आहे. (आनंदाश्रम संस्कृत ग्रंथावली ग्रंथांक ९६) श्रीकृष्ण दैवज्ञ हे ‘ करणकौस्तुभां’त (प्रथमाधिकार, तिसरें पद्य) म्हणतात.

प्रकुरु तत्करणं ग्रहसिद्धये
सुगमदृग्गणितैक्य विधायि यत् ।
इति **नृपेन्द्र शिवाभिधनोदितः**
प्रकुरुते कृति कृष्णविधिज्ञराट् ॥

ह्यावरून स्पष्ट होतें कीं, हा ग्रंथ महाराजांनींच करविला आहे. ह्या श्रीकृष्ण दैवज्ञांचें वास्तव्य स्थान अमुक च असें निश्चित होत नाहीं; तथापि तें

महाराजांच्या राज्यांतच होतें असें करणकौस्तुभावरून दिसून येतें. ग्रंथांतीं त्यांनीं म्हटलें आहे कीं,

कृष्णः **कौङ्कणसत्तटाकनगरे** देशस्थवर्यो वसन्

... ...

ह्यावरून ह्या ज्योतिःशास्त्रज्ञाचें वसतिस्थान कोंकणसीमेवर होतें, आणि ते देशस्थ होते, म्हणून कोंकण आणि महाराष्ट्र ह्यांच्या सीमेवर ते रहात होते असें ठरतें.

ह्याप्रमाणें महाराजांनीं ज्योतिर्गणित सुधारण्याचा प्रयत्न केला, परंतु त्यापासून फलप्राप्ति कांहीं झाली नाहीं; ह्यामुळें करणकौस्तुभ हा ग्रंथ लोकप्रचारांत आला नाहीं व ग्रहलाघवाचाच प्रचार चालू राहिला. पण त्यावरून ग्रहांचें आकाशांतील स्थान गणितानें आलेल्या स्थानाशीं मिळत नाहीं याची खात्री झालेली होती, एवढें स्पष्ट दिसतें. कृष्ण दैवज्ञ यांनीं ग्रहलाघवाच्या गणितावर असा आक्षेप घेतला कीं, त्यांत केलेलें गणित ‘ ज्या ’ आणि ‘ चाप ’ ह्या विरहित केलें आहे म्हणून तें स्थूल झालें.

अफझलखानाचा वध अथवा प्रतापगडचें युद्ध.

(**ले.— कै. प्रो. चिं. गं. भानु,** पुणें)

श्रीशिवजन्माच्या या त्रिशतवार्षिक महोत्सवांत (आवृत्ति दुसरी) मीं एक लहानसा निबंध लिहिण्याचें पतकरलें होतें. तदनुसार मी हा निबंध सादर करीत आहें. मीं कांहीं नवीन शोध लावला आहे व तो प्रसिद्ध करण्यासाठीं हा निबंध लिहीत आहें, असा भाग मुळींच नाहीं. केवळ हौस म्हणून या कार्याला मी प्रवृत्त झालों आहें.

कै. आनंदराव उदास बी. ए. यांनीं “ धौम महाबळेश्वर वर्णन ” या विषयावर शोधपूर्वक एक सुंदर निबंध ५०।५५ वर्षांपूर्वीं लिहिला व तो सितावर्डीच्या क्लबामध्यें वाचला. अर्थातच ह्या निबंधांत अफजलखानाच्या वधासंबंधानें ‘ शिवाजी महाराजांचा पवाडा ’ स्वतःच्या सर्वमान्य हक्कानें प्रविष्ट झाला. पवाडा या शब्दांचा अर्थ कीर्ति, स्तुति, माहात्म्य आहे. ज्ञानेश्वर कालीन अथवा तत्पूर्व महानुभाव कालीन वाङ्मयांत कीर्ति, महात्म्य या

अर्थीचा वाचक ‘ पवाडा ’ होता असें दिसतें. मात्र ‘ पोवाडा ’ या वृत्तांत काव्य केव्हां प्रकट होऊं लागलें हें मला निश्चितपणें सांगतां येत नाहीं. गेल्या तीनशें वर्षांत मात्र एकाद्या शूर, राष्ट्रीय आणि लोकसंग्राहक विभूतीचें अथवा ‘ युद्धस्य कथा रम्या ’ या न्यायानें अखिल तरुण जनमनाचें आकर्षण करणाऱ्या युद्धाचें वर्णन या वृत्तामध्यें प्रसिद्ध करण्याचें महत्कार्य आमच्या ‘ गोंधळी ’ बंधूंनीं मोठ्या हौसेनें केलें व हल्लीं तेंच कार्य दे. भ. नागपूरकर टेकाडे व मुंबईचे ठोसर प्रभृति अनेक लोक करीत आहेत.

असो; कै. उदास यांनीं हा पोवाडा १६५९–६० मध्येंच रचला असावा हें सिद्ध करून व पुष्कळशा समजुतीच्या टीपा देऊन हा पोवाडा प्रसिद्ध केला. त्यानंतर बऱ्याच वर्षांनीं म्हणजे १८९१ सालीं कै० शालिग्राम, मराठी भाषेच्या स्वराज्याचे संस्थापक धाकटे चिपळुणकरशास्त्री यांचे चहाते, शिष्य व भक्त, यांनीं व ऑक्वर्थसाहेब यांनीं फार परिश्रम करून मराठाशाहींतील अनेक पोवाडे मिळवून, शोधून व कांहींसे चिकित्सून एक सुंदर पुस्तक प्रसिद्ध तदनंतर केलें. या ऐतिहासिक काव्याचें संपादन करण्याचें महद्भाग्य श्री. ‘ यशवंत नरसिंह केळकर बी. ए. (टिळक) ’ यांस लाभलें.

मला स्वतःला उदाससंपादित ११ चौकी पोवाडा जास्त आवडतो. मुख्य कारण हें कीं, अफझल वध झाल्यानंतर पांचसहा महिन्यांच्या आंतच तो ‘ अज्ञानदासानें ’ रचला व गाइला असें कविच सांगतो, असें नव्हे तर खुद्द पोवाड्याच्या अंतर्बाह्य स्वरूपावरून व जेधे शकावली, शिवभारता, यांवरून तें खरें वाटतें. घोडप, शृंगारपूरचे प्रसंग सांगणारा, रायगडच्या तीन सोन्याच्या पायऱ्यांचा उल्लेख करणारा, ‘ राजगड राजाला । प्रतापगड जिजाउला ’ असें तुळशीदासाला पूर्व सूचना देणारे अथवा त्याचें अनुकरण करणारे शब्द अनुवादणारा ३७ चौकी पोवाडा (११ चौकीचें बृहत्स्वरूप ?) बहुधा शिवप्रभूच्या राज्याभिषेकाच्या आगेंमागें झाला असावा. असो; हें ११ चौकी काव्य मला आवडतें म्हणून तेंच उद्धृत करून त्याला मीं कांहीं टीपा दिल्या आहेत; कांहीं पाठ फिरवले आहेत, ३७ चौकींतील कांहीं पाठ घेतले आहेत आणि क्वचित् ठिकाणीं केळकरांचा अर्थ न स्वीकारतां दुसरा अर्थ सुचविला आहे. शेवटीं प्रसंगोपात्त तत्कालीन महाराष्ट्रीयांच्या सामाजिक रीतीभातींवर व धर्मसमजुतींवर संक्षेपतः अभिप्राय दिला आहे.

अफझलखानाच्या 'वधा'संबंधानें प्रो० कर्केरिया यांनीं माहितीनें सजाविलेलें आणि कांहींसें 'क्षमस्व भगवान्' अशी याचना करणारें पुस्तक ३० वर्षीपूर्वी प्रसिद्ध केलें होतें, हें इतिहासाच्या विद्यार्थ्यांशिवाय फारच थोडे शिष्टांस माहिती असेल. त्या काळीं मला काव्येतिहाससंग्रह वाचण्याचा नाद होता. सभासद् लिखित, चित्रगुप्त विरचित, सप्तप्रकरणात्मक, शिवचरित्र, इत्यादि मराठी ग्रंथ व ग्रँट डफादि युरपियन ग्रंथकारांचे ग्रंथ, यांवरून माझें एक विशिष्ट मत बनलें, व तत्संबंधें डेक्कन कॉलेजांत व १८९७ च्या शिवराज्योत्सवांत मीं भाषणें केलीं व माझ्या कालेजांतील व्याख्यानाचा सारांश विस्तृत शिथिल इंग्रजी भाषेंत डेक्कन कालेज १८९७ सालच्या क्वार्टरलीमध्यें मीं प्रसिद्ध केला. माझ्या भाषणाचा विस्तृत सारांश संपादिला जाऊन प्रसिद्ध झाला. या संपादित सारांशाचा इन्कार मीं मुंबई टाइम्समध्यें केला. तथापि या पुण्यग्रामींच्या माझ्या व्याख्यानाला '' Ethics of Assassination' असें गोंडस नांव मिळालें आणि सर्वत्र पेटलेल्या आगींत माझें तोंड व हात चांगलेच भाजले. या गोष्टीचा उल्लेख करण्याचें कारण इतकेंच कीं, त्यावेळीं अफझलखानाच्या 'वधा'-संबंधानें तर्कतः मीं जीं कित्येक अनुमानें केलीं होतीं, तींच आज १९२९ सालीं कागदपत्रांच्या पुराव्यानें सिद्ध होत आहेत. तसेंच 'खुनाचें' रूपांतर 'वधांत' झालें, हें शुभसूचक आहे, असें कोण नाहीं म्हणणार ?*

---

* कै. भानु यांनीं लिहिलेल्या निबंधाचा या पुढील भाग त्यांच्या हातून तपासून दुरुस्त झालेला नसल्यामुळें येथें देतां येण्याजोगा नाहीं याबद्दल वाईट वाटतें.

—संपादक

शिवकालीन समाजस्थिति.



(ले.— **श्रीपाद महादेव माटे**, पुणें.)

" मोगल आले ते वख्ती कागद् गुम झाले. "

' शिवकालीन पत्रव्यवहार अजून पुष्कळच सांपडावयास हवा ' हें, शिवचरित्र लिहिण्याचा हेतु धरून बसलेल्या इतिहाससंशोधकांचें म्हणणें फारच खरें आहे. बखरीवरून चरित्रें झालीं होतीं; पण बखरीच कमअस्सल ठरल्या. मग अस्सल साधनें म्हणजे समकालीन पत्रव्यवहार असें अर्थात् तुलनाबुद्धीनें ठरलें. त्याच्या शोधासाठीं संशोधक लोक अत्यन्त श्रम करीत आहेत. समकालीन पत्रव्यवहार हा स्वकीयांचा व परकीयांचा. स्वकीयांत पुन्हां एक प्रत्यक्ष प्रसंगांत असलेल्यांचा व दुसरा केवळ ऐकीव वर्तमानें लिहिणारांचा. त्यांत पुन्हां मूळ लिखाण जसेंच्या तसें हातीं येणें हा एक प्रकार व त्याची नक्कल हातीं येणें हा दुसरा प्रकार. परकीयांच्या पत्रव्यवहाराचेहि प्रथम दोन भाग. पहिला म्हणजे शत्रूंचा व दुसरा शत्रू नसलेल्यांचा म्हणजे तिऱ्हाइतांचा. शत्रू नसलेल्यांनीं जें लिखाण ठेविलें असेल त्यांचे वरीलप्रमाणें दोन भाग; एक प्रसंगाच्या प्रत्यक्ष साक्षीदाराचें व दुसरें ऐकीव माहिती लिहिणाराचें. इतिहाससंशोधकांच्या बुद्धींत वरील लिखाणांचे प्रकार व त्यांचें तौलनिक महत्त्व अगदीं कायम झालें आहे, असें शिवकालीन कागदपत्रांचा सध्यां ते ज्या कसोशीनें विचार करीत आहेत त्यावरून दिसून येतें. वरील सर्व प्रकारांचीं मिळून जीं साधनें उपलब्ध झालीं आहेत म्हणजे शोधकांनीं येथें मिळविलीं आहेत व बाहेरच्या देशांतून व भाषांतून आणविलीं आहेत तीं पाहिलीं असतांसुद्धां " शिवकालीन पत्रव्यवहार अजून पुष्कळच सांपडावयास हवा" या त्यांच्या सूत्राचें महत्त्व चांगलेंच ध्यानांत भरतें. उपलब्ध साधनांनीं शिवचरित्राचा पराकाष्ठा राजकीय सांगाडा उभारतां येतो इतकेंच काय तें ठरल्यासारखें झालें आहे. सांपडतील तेथून, हवे आहेत तेच, उल्लेख उचलून घेऊन तेव्हांच्या थोर माणसांच्या हालचालीचा अनुक्रम सालबंद लावतां येतो कां इतकें पहाण्याकडेच, या पुराव्यावरूनहि, संशोधकांची प्रवृत्ति आहे हेंहि खरें आहे. शिवचरित्रास हात घालण्याचें धाडस इतक्यांत कोणी करील असें वाटत नाहीं. शिवचरित्र म्हणजे शिवकालीन इतिहास व असा इतिहास लिहावयास ज्या विविध तऱ्हांचीं

साधनें हवीं त्या तऱ्हांचीं अजून सांपडलेलीं नाहींत. इतिहास म्हणजे राजकीय उलाढालींची जंत्री ही व्याख्या मागें पडून फार दिवस झाले. असली जंत्री संशोधकांनीं बहुतेक जुळवीत आणिली आहे, अजून खांचखळगे बरेच आहेत. पण ते लवकर भरतील असें दिसतें. पण तेवढ्यानें त्यांचें समाधान अर्थातच नाहीं. त्यांना शिवकालीन इतिहास लिहावयाचा आहे; पण शिवकालीन इतिहास म्हणून लिहावयाचा तर अजून, तेव्हांच्या मानवी जीविताच्या विविध अंगांच्या हकीकती कळावयास हव्या. माणसें संस्कार कोणचे करीत, कोणचीं माणसें कोणचे करीत, देव–देवी कशा चालत, सावकार-कुळांचे संबंध कसे असत, बाजार–निरख कसे ठरवीत, त्यांचे हिशेब–ठिसेब कसे रहात, न्यायमनसुबा कसा चाले, गावकीचा कारभार कितपत मानवे, आपत्कालीं संरक्षणाच्या तरतुदी काय असत, नशीब काढावयास माणसांना संधि कितपत मिळे, शत्रूंचा प्रतिकार करण्याची शक्ति समाजाला समाजरूपानें किती असे, धर्मबंधनें कोणचीं होतीं, समाज व धर्म नव्या गोष्टी पोटीं रिचविण्याची धमक कितपत बाळगीत, संस्कृतिरक्षणाची इच्छा व साधनें काय होतीं, पोट भरण्याचे व्यवसाय काय होते, व्यापारटापार कसे चालवीत, बाहेर देशीं बोज व पत कितपत असे, अशा एकना दोन हजारों गोष्टी कळावयास हव्या. पुढील इतिहासकाराच्या सोयीसाठीं त्यावेळीं या माहितीचीं पत्रकें कोणीं मुद्दाम तयार करून ठेवलेलीं नसावयाचीं हें स्पष्टच आहे. पण जर तेव्हांचें राजदरबारींचें, शेटसावकरांचें, सराफकट्यावरचें, पाठशाळेंतलें, असें जें हरतऱ्हेचें लिखाण निर्माण झालें असेल तें सांपडलें तर त्यावरून वर सांगितलेली माहिती सहज वेचून घेतां येण्यासारखी आहे. हें खरेंच आहे कीं, आपल्यांत लिहिणारे थोडे व लिहिणारांना लिहून ठेवण्याची इच्छा त्याहून थोडी. पण अगदीं सामान्य कारणासाठीं जर आपण लिहिण्याच्या कलेचा इतका उपयोग करतों तर, जेव्हां मोठ्या आपात्ति येत होत्या, प्रसंग गुदरत होते, हर्षविषाद प्रबल होण्यासारखे, आणि रागलोभ खिजण्यासारखे प्रकार वारंवार घडत होतें तेव्हां माणसें या कलेचा उपयोग करीत नसतील असें मानणें चूक आहे. या प्रसंगीं जर तीं लिहीत नसतील तर मग लिहीत तरी केव्हां होतीं ? इतर लोकांचें व संस्थांचें कांहीं असो; पण राजशासन–संस्थांतून तरी असें पुष्कळच लिहिलें जात असलें पाहिजे कीं जें केवळ राजकीय स्वरूपाचें नव्हे. तें लिहिणें जरी सांपडलें असतें तरीसुद्धां शिवकालीन समाजस्थिति कशी होती याची ओळख

करून घेतां आली असती. पण या लिहिण्याचीं दप्तरें शिल्लक राहणें अशक्य होतें. खासगी माणसांच्या जवळचे कागदपत्र जर शिल्लक रहात नसत तर सरकारी संस्थांचे– कीं ज्यांवर शत्रूंची धाड आधीं यावयाची– त्यांचे कागद कोठून सुरक्षित रहाणार ? फौजांच्या येरजारामुळें जशी शेतमळ्यांची 'पायमली' तशीच जाळपोळ लुटालूट यामुळें दप्तरखान्यांची वाताहतहि स्वाभाविक होती. शिवाय राजगडापासून जिंजीपर्यंत, खुद्द राजसंस्थाच जर जीवधारणासाठीं भ्रमन्ती करीत रहात होती तर तिच्या आनुषंगिक संस्थांची खुशाली कितीशी रहात असेल हें स्पष्ट आहे. अर्थात् "मोगल आले ते वख्ती कागद गूम झाले" ही खाजगी लोकांची तक्रार सरकारी दप्तरांसंबंधानेंही खरीच असली पाहिजे. म्हणजे असें झालें कीं शिवकालीन समाजस्थिति चित्रित करण्याला पुरेशीं साधनें उपलब्ध नाहींत. खेरीज, जीं आहेत त्यांतील मजकूर विषयदृष्ट्या व प्रदेशदृष्ट्या पुन्हां पुन्हां सारखा–सारखाच आढळला असता तर त्या विषयासंबंधानें व त्या प्रदेशासंबंधानें, त्यावरून कांहीं हटकून खरें असें अनुमान बाधतां आलें असतें; पण तसा प्रकार फार थोडा आढळतो. शिवाय, पेशव्यांच्या अमदानींतील समाजकल्पनांविषयीं व न्यायपद्धतीविषयीं चांगल्या चांगल्या लेखकांनीं यापूर्वीं जें लिहिलें आहे तें खुद्द शिवकालालाही लागू आहे; कां कीं आपला समाज तात्त्विक समजुतीच्या बाबतींत व आचारकांडांतही जुनें टाकावयास व नवें करावयास तयार नसतो हें जें सध्यांही दिसत असलेलें सामाजिक अवलक्षण तें तेव्हां तर जास्तच प्रबळ होतें. तसेंच, आपल्या शत्रूंनीं व तिन्हाइतांनीं आपल्या समाजासंबंधानें जें लिहिलें असेल तें वैरभावामुळें व अनास्थेमुळें विकृत व म्हणून अविश्वास्य बनलेलें असण्याचा पूर्ण संभव आहे. म्हणून आतांपर्यंत अस्पृष्ट राहिलेलें, राजकीय विचारानें अनंकित असलेलें, आणि खास खरें वाटण्यासारखें फार थोडें लिहितां येण्यासारखें आहे.

२ वरील विचार मनांत आणतां असें दिसतें कीं शिवकालीन सामाजिक स्थितीविषयीं निबंधरूपानें असें कांहीं लिहूं नये. पण हें जरी खरें असलें तरी जमा झालेल्या कागदसंग्रहांत मधून मधून अशीं कित्येक वाक्यें भेटतात कीं जीं वाचलीं असतां आपल्या मनांत नाना प्रकारच्या कल्पना उद्भवतात. या कल्पनांना इतक्यांतच निबंधरूप देणें जरी बरोबर नसलें तरी त्या ज्या वाक्यांवरून उद्भवतात तीं वाक्येंसुद्धां वाचकांस मनोरंजक व उद्बोधक वाटतील असा भरवंसा वाटतो. अर्थात् ज्यांना मूळग्रंथ वाचावयास सवड नाहीं त्यांना

जर हीं वाक्यें एके ठिकाणीं वाचावयास सांपडलीं तर बरें वाटेल, म्हणून तीं देतों. " शिवकालीन–पत्र–सार–संग्रह " या नांवाचा जो प्रचंड ग्रंथ प्रसिद्ध होत आहे त्यांतील सुटीं वाक्यें, जरूर त्या थोडया खुलाशासह, खालीं देतों.

कान्होजी राजे......पाध्ये गोळवलीकर यासः– "......वतन तुमचे चालत आलें आहे. देवरुखे बोलिले जे आमच्या घरीं अनुष्ठान करून अन्यत्र भोजनास जातात; घरीं स्वयंपाक करून भोजन करीत नाहींत; या करतां आम्ही खेदी. परंतु ते प्रमाण नाहीं. वतन गोळवलकर उपाध्ये खरे चालत आले आहे......" (१५ लेखांक–सन १६००)

जमिनीचे भांडणांत खरेखोटे करण्यासाठीं "......सभा केली...... माथियावरी देवाचा पाला घालुनू घालू नये तैस्या आणा घालुनू पुसैलीया......" (१७–१६०१)

गांवांतील शिवेचा तंटा " ऐरण दिव्य झालें आहे " (४१–१६०८)

मसूरचा जगदळे पाटील:– "......बाप मरून गेला. आपण **जगद्गुरु पातशापासीं गेलों**......" त्याच पत्रांत पश्चिमवादी बापाजी बिन याकूबजी मुसलमानः– " पीर जलालुद्दीन हा पहिले हिंदू होता त्याचेच आपण होतों " " (मुसलमान) धर्माधिकारी बोलले एका एका खुनास आकरा आकरा खून द्यावें. " शेवटीं निकाल असा झाला " तुज देहान्त प्रायश्चित्त द्यावे. परंतु, मुसलमानाची पातशाही आणि तूही मुसलमान याकरितां क्षमा जाली " (५०–१६११)

" पूर्वीं हरयेक परगणा एकेक काजी; सुलतान फेरोजशहा बहामनी यानें दोन दोन केले......कुळांत जो कोणी विद्यावंत असेल त्यासच काजीची मिराशी लाभे " (८५–१६१७)

भट जुनारदार मुा नासिक यानें मलिक अंबरास विनविलें की ' आपण गोदातीरीं स्नानसंध्या करूनू साहेबासी द्वा (दुवा) देऊनू असतो तर सिंहस्थाची पट्टी माफ असत आली आहे; त्याप्रमाणें या सिंहस्थाला माफ असावी. ' माफ झाली. (१६५–१६२२)

मुधोजी नाइक यांना महादेवभट पुरंदरे यानें लिहिलें " आपणास चावर १ इनाम दिधलिया तुम्हांस आशीर्वाद देऊन असो " त्यास १ चावर जमीन दिली (१६७–१६२२)

रा. संभाजीराजे (?) यांनीं चाकणच्या मुद्गल भटासः– " बदल धर्मादाऊ इनाम बदल दान सूर्यग्रहण जमीन......चावर एक......" दिली असे. (१६९–१६२२)

इं. फॅ. भा. २:– " जहांगीर अजमीरचे पिरास जात आहे; पिराची आज्ञा होईल त्याप्रमाणें खुरमचा बंदोबस्त करणार......" (१८८–१६२३)

इं. फॅ. भा. २:– "......खुर्रमनें एका राजाच्या विधवेशीं लग्न केलें आहे. कांहीं मदत देण्याचें अभिवचन देऊन मलिक अंबरानें आपली काळी मुलगी त्याच्या गळ्यांत बांधली आहे......" (२००–१६२३)

मौजे शिवगावच्या सिद्धेश्वरास अभिषेक व्हावा म्हणून ' संभट जपे ' यास " पाऊ चावर जमीन......दिली असे " (२०६–१६२४)

चाकणचे समस्त लोक मुरारभट ब्रम्हे यासः– सरदहू सवत्सरा कारणें पाऊस मुलखा गेला. लोक परागंदा होऊ लागले. अवघे मिळून तुम्हासी बोलिले; रोजा १०।१२ मध्यें पाऊस पडेल कीं नाहीं ? " उत्तर दिधले " दिवसा दहामध्यें पर्जन्य पडेल " उदंड पडिला. याकरता तुम्हा वरसास धर्मादाव टके २५ दिधले असेती " (२१२–१६२४)

" मावजी व केरोजी यांचे मोकदमीबद्दल भांडण होते...तेव्हां शिराधडाच्या चिटया म्हसोबापुढें टाकून निर्णय करण्याचें ठरलें. तेव्हां शिराची चिटी मावजीच्या हातीं आली. त्यावरून मावजीनें मोकदर्मी करावी...असें ठरलें." (२३०–१६२६)

" रंगभट राख्ये यांनीं गिधवे मंडळी यास काशीस सांगितले कीं तुमची वृत्ति...बळेंच खातात तेव्हां वृत्तीसाठीं सन्याग्रसहण सोडून वृत्तिस रक्षण करावें." (२५३–१६२७)

" ग्रहणकाळीं लिहून दिलें कीं प्रतिवर्षी पासोडी एक व गहू व पाडव्यास कुडव देऊं." (३१५–१६३०)

विठोजी व शिवाजी पाटणा यामध्यें पाटणेपणाचें भांडण लागलें." (५३१–१६४७)

" सुपे येथील चांभाराकडून वहिवाटीप्रमाणें पायपोसाच्या रूपानें सारा घ्यावा." (५७९–१६५०)

मद्रासकर इंग्रज कंपनीस लिहितातः– " कर्नाटक देशच आपल्याला सर्व कापड व नाना तऱ्हेचे जिन्नस पुरवितो." (५९७–१६९१)

" मोकद्माना वाचविण्यासाठीं गोंदनाक महार यानें जीव धोक्यांत घातला व तो दिवाणाकडून मारला गेला. यासाठीं त्याचा मुलगा अर्जनाक यास तरालाचें वतन करून दिलें. (६२१–१६५२)

महाबळेश्वरचे वेदमूर्ति गोपाळभट यास शिवाजी राजे:– मातुश्री जिजाबाई आऊसाहेब (यांनीं)...... विद्यमानें स्वामीपासून (गोपाळभट याजपासून) मंत्र उपदेश संपादिला " (६३१–१६५३)

चाकणचे सिद्धेश्वरभट ब्रह्मे यास शिवाजी:– स्वामीच्या अनुष्ठानबळें राज्यास अधिकारी झालों. व सकळ मनोरथ चिंतिले पावलों...."
(६४२–१६५३)

आपल्या विश्वासाची खात्री पटावी म्हणून शिवाजी राजे:– " एविशई आम्हास श्रीची व राजेश्री महाराजसाहेबांच्या पायाची व सौ. मातुश्रीसाहेबांच्या पायाची आण असे, व येविशई श्रीचा दवणा पाठविला असे तो घेणें. "
(६७३–१६५४)

शहाजी राजे:......"तरी आपण रजपूत लोक......"(७११–१६५६)

अथणीचा हवालदार अबदुली अली काशीक्षेत्राच्या फौजदारास:– लिंगायेत व जैन यांचा वाद पडला आहे " ब्रह्मसभा निर्णय करील तो पाठविणें. "
(७१४–१६५६)

" महादप्रभु मृत्यु पावला; त्याची स्त्री गंगाबाई हिनें सहगमन केलें,
(७४५–१६५८)

अवरंगजेब:– आमच्या धर्माप्रमाणें असें ठरलें आहे कीं देवळाचा नाश करु नये व नवी देवळें बांधण्यास परवानगी देऊ नये " (७६४–१६५९)

राजापूरकर इंग्रज सुरतकरास:–"मोठा रजपूत शिवाजी–पन्हाळा घेतला"
(७९०–१६५९)

" हल्लीचा विजापूरचा राजा हा दासीपुत्र आहे " (८१०–१६६०)

" अंतोजी निगडा यानें भानजी यास भुताकरितां जिवें मारला "
(८४१–१६६०)

इंग्लंडच्या दुसऱ्या चार्ल्सचें आज्ञापत्र " कंपनीनें तक्रार केली कीं कंपनीशीं कोणचाहि सबंध नसतां कित्येक इंग्रज हिंदी गलबतें चालवितात, हिंदी लोकांस गलबतें बांधावयास व चालवावयास शिकवितात......त्यास धरून इंग्लंडांत पाठवून देणें " (८७२–१६६२)

मद्रासकर इं. सुरतकरांसः– "......आपल्या लोकांची मोठी वसाहत करण्याच्या इराद्यानें डच लोकांनीं १८००० बायकांना प्रजा वाढीकरितां लावून दिलें आहे......" (९२८–१६६३)

राजापूरकर इं. सुरतकरांसः– ......शाइस्तेखानाच्या प्रकरणासंबंधानें "शिवाजी लोकांना सांगतो कीं हें कृत्य करण्याचा संदेश परमेश्वरानें आपणास दिला" (९३०–१६६३)

सुरतकर इं. मद्रासकरासः– शाइस्तेखान प्रकरणासंबंधीं "......शिवाजीनें आणखी दोन मुलगे जखमी केले; खानाची मुलगी नेली (९३८–१६६३)

सुरतेच्या लुटीविषयींच्या डच वृत्तांतांतः– "......इंग्लिश व डच फॅक्टरी व नवी सराई (जींत अर्मिनिअन व तुर्की व्यापारी रहात असत) यांच्याशिवाय आणखी दहा घरांनीं देखील स्वसंरक्षणाचा प्रयत्न करून लुटीतून आपली मालमत्ता वाचविली नाहीं." (९६८–१६६४)

डचांचा वृत्तांतः– "मुसलमानांचा नामर्दपणा उघडकीस आला. लुटारु आम्हाला मात्र भीत होते. (९७०–१६६४)

सुरतकर कंपनीसः–"आम्ही शिवाजीस वखारीच्या संरक्षणामध्यें सर्वजण प्राण वेचू असें निर्वाणीचें कळविलें. (९७५–१६६४)

इस्कालियटचा वृत्तांतः–"सभोंवारच्या बंदोबस्तासाठीं एका बाजूचें हिंदूचें देऊळ व दुसऱ्या बाजूची मुसलमानांची मशीद ताब्यांत घेऊन त्यांत असलेल्या लोकांनीं दुसऱ्या कोठें जागा पाहावी म्हणून त्यांना काढून लाविलें" (९७७–१६६४)

शिवाजी मोंगलासः– "आपल्या भूमीचें संरक्षण करणें माझें कर्तव्य आहे" (९८२–१६६३)

गोवेकर सुरतकरासः– "शिवाजीचे सर्वच शिपाई ठेंगू व लहान बांध्याचे आहेत......" (१०२२–१६६४)

गोवा–सुरतः– "...१७ दिवसापूर्वीं दिसलेल्या धूमकेतूचे परिणाम काय होतात याबद्दल कित्येकांचीं मनें चूर होऊन गेलीं आहेत" (१०२४–१६६४)

गोवा–लिस्बनः– "...ज्या दिवशीं मुंबई बेटांत इंग्रजांचें बस्तान बसेल त्या दिवशीं हिंदुस्तानला आपण मुकलों असें समजावें" (१०२७–१६६४)

सुरतकरः– "लवंगाचा भाव मणाला १५० रुपये असा सुरत शहरांत आहे......" (१०३१–१६६५)

लॉर्ड ऑ. लॉर्ड आर्लिंटन यास पोर्तुगीजांविषयींः– "......एकाद्या कुटुंबांतील कर्ता पुरुष मेला कीं मागें राहिलेल्या मुलांबाळांना ते सक्तीनें जेसुइट

शाळांत डांबून टाकून परत आपल्या माणसांत जाऊं देत नाहींत......" (१६३६–१६६५)

जयसिंग जाफरखानासः— "......(शिवाजीचें) घराणें व जातकुळी माझ्यापेक्षां इतकी हीन आहे कीं, आम्ही त्याचा स्पर्श झालेलें अन्नही खाणार नाहीं; मग लग्नसंबंधाची गोष्ट कशाला ?......"(११५२–१६६६)

सुरतकर कंपनीसः— बनिये लोकांना खरेदीच्या प्रान्तात पांच टक्के जकात, खुद्द सुरतेस पुन्हा जकात, व दस्तुऱ्या भराव्या लागतात पण "आम्हा (इंग्रजांना) सर्व मार्गातील दस्तुऱ्या माफ असून बंदरांतून माल हलवितांना फक्त शेकडा ३ जकात द्यावी लागते (११५५–१६६७)

हैबतराव उंब्रजच्या अधि०:— " बहिरोजी......लढाईमध्यें ठार पडला; रांडरोटीबद्दल ३० बिघे जमीन इनाम दिली आहे " (११७३–१६६७)

" अवरंगजेबानें मुसलमानांना जकातीची पूर्ण माफी दिली असून हिंदूंवर पूर्ववत् ठेविल्या आहेत. ख्रिस्त्यांनीं अर्ध्या करावयाच्या आहेत (११८७–१६६७)

पंढरपूर ' क्षेत्रास अफजलखानाची तसवीस लागली आहे ' (११९१–

सुरत—कंपनीः—

" बादशहाचें धर्मवेड माजत चाललें आहे. .... एखाद्या हिंदूचें घेतलेलें कर्ज बुडवावयाचा सोपा मार्ग म्हणजे सावकार हिंदूनें महमद व मुसलमानी धर्म यांना शिव्या दिल्याची खोटीच तक्रार काजीकडे करण्याची धमकी द्यावी म्हणजें झालें......देवळें पाडून मशिदी बांधण्याचा त्यानें धोशा लाविला आहे. " (११९२–१६६८)

मुंबईकर इं. सुरतकरांसः— "...आमच्या मुलांना इंग्रजी शिकविण्याकरितां एक दोन मास्तर ठेवावे अशी बेटावरच्या (नेटिव) लोकाकडून मागणी आली आहे. " (१२२४–१६६८)

आलेपोचें पत्रः— " बादशहाचें धर्मवेड, अडचणींत पाडकडून धर्मान्तर करणें भाग पाडण्याकरितां त्यानें नेमलेले हस्तक,...हीं हिंदूना...जाचक होत आहेत. स्वर्गामध्यें अशा कृत्यांनीं महमदाच्या बरोबर मान्यता मिळेल असें खूळ त्याच्या मुल्लांनीं त्याच्या डोक्यांत भरवून दिलें आहे." १२४९–१६६८

सुरत—कंपनीः—" एका हिंदूनें, काजीनें खाल्लेल्या टरबुजाचा एक भाग, पांच वर्षांपूर्वीं खाल्ला होता या सबबीवर त्याला जबरीनें मुसलमान करण्यांत आल्यामुळें त्यानें जीव दिला." (१२७५–१६६९)

मुंबईकर सुरतकरांसः– "...शिवाजीच्या कल्याणच्या सुभदाराकडून दोन हस्तक आमच्याकडून तोफा खरेदी करण्याकरतां आले."

(१२९३–१६७०)

पर्वतराव यानें तयार केलेला शिवाजीच्या राज्याचा नकाशा बादशहास दाखविण्यांत आला. (१३०१–१६७०)

सुरतकर मुंबईकरासः– "...मध्यंन्तरीं खोजा अल्लाद्दिनला खूष ठेवावें. कारण त्याच्या जातवाल्याच्या स्वभावानुसार आपल्या धन्याचा फायदा पहाण्या-ऐवजीं तो स्वतःचाच लाभ इच्छित असावा." (१३०१–१६७०)

सुरतकरः– "शहाजाद्याच्या तोफखान्यावर जॉन ट्रॉलर नांवाचा मुख्या-धिकारी आहे—" (१३२६–१६७०)

मुंबई–सुरतः–... "ब्राह्मणांनीं २९ व्या तारखेस सुरतेचा किल्ला शिवाजीच्या हातीं येईल असें भविष्य वर्तविल्यामुळें–" (१३५८–१६७०)

सुरत–कंपनीः– "भीमजी पारख या नांवाच्या कंपनीच्या दलालानें कांहीं ब्राह्मणी लिखाण छापण्याकरतां इंग्लंडांतून एक छापणारा बोलावून त्याचा पगार देण्याचें कबूल केलें–" (१३७४–१६७१)

शिवाजी राजे मोजे हलवर्ण येथील अमलदारास वागणुकीसंबंधानें लिहितानाः– ... "कोणही **कुणब्याचे** दाणे आणील ... ऐसे करू लागलेत म्हणजे जें **कुणबी** घर धरून जीव मात्र घेऊन राहिले आहेत तेही जाऊ लागतील ...... या कारणें तपशिलें तुम्हास लिहिलें आहे ... येणें प्रमाणें वर्तणूक करतां ... बनदामी ज्यावर येईल, त्यास **मराठियाची** तो इज्जत वाचणार नाहीं, मग रोजगार कैसा ?– " (१३९२–१६७१)

शिवाजीराजेः– "हिंदु होऊन इस्कल करील त्यास गाईची आण असे व मुसलमान होऊन इस्कल करील त्यास सोराची आण असे ..." (१३२१–१६७१).

सुरतकर–मुंबईकरांसः–... या सर्व मुलखांत अत्यन्त धोरणी व सुतानें स्वर्गास जाणाऱ्या लोकांशीं (मराठ्यांशीं) तुम्हाला प्रसंग पडला आहे." (१४३२–१६७१)

"दसनाम मानभावांची निंब येथें सभा झाली. मठींचे कुणबीण बुली हिनें जीव दिला म्हणून मठपती दोषी होते. भंडारा घेऊन मठपतीस मोकलें" १३५७–१६७१.

उदेपूरच्या घराण्यापैकीं कृष्णाजी व इसुरजी हे दोन भाऊ होतें. पैकी इसुरजी हा वतनाकरतां मुसलमान झाला. १६६१–१४७१

सुरत–मुंबईः–

सुरतेच्या मुसलमान “ सुभेदारानें शिवाजीचा बंदोबस्त करण्याच्या सबबीवर वर्गणी जमविली ...... हिंदूवरच कराचा बोजा पडणार हें नक्कीं माहित असल्यामुळें मुसलमानानीहि त्वरेनें मान्यता दिली. ”(१४७५–१६७२)

इंग्रज वकीलः– “ मी जाऊन बसलों होतों तेथें शिवाजी आला. सर्व शिपायांना त्यानें काढून लाविलें. परंतु चांगली वेळ नसल्यामुळें तो माझ्याशीं बोलला नाहीं. ” (१५३६–१६७३)

मुंबईकरः– “ पैगंबराच्या व कुराणाच्या घेतलेल्या सर्व शपथा बाजूस ठेवून, शिद्दीच्या आरमारानें नाकेबंदी केल्यामुळें फार इलाखीचे दिवस आले. ” (१५७५–१६७३)

मुंबईकरः– “ आमच्या मनांत अशी उत्कट इच्छा आहे कीं मुंबईतील आणि शेजारच्या बेटांतील सर्व ख्रिस्ती लोकांनीं इंग्लंडमध्येंच बनविलेल्या कापडाचीं वस्त्रें वापरावीं ... ” १५८१–१६७३

प्रेसि. ऑंजिकर कंपनीसः– ... “ थोडया हलक्या जातीच्या परंतु चांगल्या नीतीच्या इंग्रज बाया इकडे पाठवून द्याव्या. म्हणजे त्यांची येथील शिपायाशीं लग्नें लावून देतां येतील. ते देशी बायकाशीं संबंध ठेवू लागले तर धर्माज्ञेप्रमाणें आम्ही त्यांना त्यांच्याशी लग्न करण्यास भाग पाडतों. त्यापेक्षां त्यांनीं इंग्रज बायांशीं लग्नें लाविलीं तर अधिकच बरें होईल”(१६०९–१६७४)

मुंबईकरः– “ शिवाजीला फ्रेंचांनीं ८८ तोफा आणि ३००० मण शिसें पुरविल्याचें ते आपल्या तोंडानें कबूल करतात. ” (१६१२–१६७४)

ऑक्सिंडेनः– भेटीचा पुष्कळ यत्न केला. परंतु “ आगामी राज्याभिषेकाची तयारी, दोन दुसऱ्या बायकाशीं लग्नें इत्यादि गोष्टींत राजा गुंतला असल्यामुळें; ” “ महालांत तो व त्याचे ब्राह्मण दिवसाचे दिवस धार्मिक विधि करीत असतात. ” (१६४९–१६७४)

सुरतकरः– “ शिवाजीच्या जूनमधील राज्याभिषेक प्रसंगीं निदान २० हजार ब्राह्मण व त्याचे सर्व अमलदार हजर होते. ”(१६६१–१६७४)

न्यू. वेंगुर्ला–बटेव्हिया पुष्कळ दिवस पूर्वतयारी होऊन जूनमध्यें **शिवाजीच्या राज्याभिषेकाची** संपूर्ण तयारी झाली आणि ब्राह्मण व विद्वान् भट्ट व सहकुटुंब असें सुमारें ११ हजार लोक रायगडावर जमा झाले. शिवाजीमें मुख्य व विद्वान् गृहस्थांना आपला हेतु सांगितला. **हल्लींची** भोसले जाती सोडून **क्षत्रिय जातींत प्रवेश** केल्याशिवाय आपल्याला

मुकुट धारण करतां येणार नाहीं; करितां आपल्याला त्या जातींत घ्यावें अशी त्यानें विनंती केली. तुमचे पूर्वज पिढयान्‌पिढया भोसलेच असल्यानें तसें करणें अशक्य आहे; असें विद्वज्ज्नांनीं सांगितलें. भोसले क्षत्रियांचेच वंशज आहेत आणि असें जातिपरिवर्तन होऊं शकेल असें शिवाजीचें म्हणणें पडलें. प्रथम क्षत्रिय बनल्याशिवाय शिवाजी मुकुटधारणाला योग्य होणार नाहीं, असा विचार करून आणि पूर्वीसारखें **जुलमानें राज्य न करण्याचें त्यानें वचन दिल्याचें** लक्षांत घेऊन, गेल्या २९ मे रोजीं दुसऱ्या पक्षाच्या मंडळीनें त्याला मोठया समारंभानें क्षत्रिय करून घेतलें, **क्षात्रधर्मा**ची दीक्षा ते देणार होते; परंतु **ब्राह्मण्याचा आचार** आपल्याला शिकवावा अशी त्यानें इच्छा दर्शविली. ही गोष्ट त्यांना मान्य होईना. परंतु त्यांपैकीं एका मुख्यानें आपली संमति दिली आणि शिवाजीनें त्याला ७००० होन बक्षीस दिले. (१६८२–१६७४)

शिवाजीराजे प्रभावळीच्या ब्राह्मण सुभेदारास अंगचोरीबद्दल झाडतांना:– "...आरमार खोळंबून पाडाल. एवढी हरामखोरी तुम्ही कराल...तरी ऐसा चाकरास ठीकेठीक केले पाहिजेत. ब्राह्मण म्हणून कोण मुलाहिजा करु पाहातों ?..." १७१८–१६७५

मुंबईकर:– "...ज्यांच्याशीं तुम्हाला वागावयाचें आहे ते (मराठे) लोक चतुर व चौकस आहेत. त्यांच्याशी व्यावहार करतांना मर्यादेनें आणि विचारानें करावा. भावनाप्रधान किंवा फाजील घमेंडखोर लोकांची केवळ कुचेष्टा करूनच न थाबतां ते त्यांच्यापासून शक्य तितका आपला फायदा करून घेतात...." १७४८–१६७५

ऑर्म ११४:– "पोर्तुगीज शिवाजीच्या जातीच्या अनाथ मुलांना रोमन कॅ. धर्माची दीक्षा देतात म्हणून तो त्यांचा फार द्वेष करतो...." १७९८–१६७५.

राजापूरकर इं. सुरतकरास:– "दहा वर्षें मोंगलांकडे राहून मुसलमान बनलेल्या नेताजी नांवाच्या खोल मुत्सद्दी मनुष्याला पुन्हां हिंदु करून घेऊन शिवाजीनें आपल्याकडे वळविला आहे.—" १८६३–१६७६

मोरेश्वर पण्डितराव:– "उभय देशी देशस्त, कराडे, चितपावन, जोतिसी व पद्येब्राह्मण आहेत, त्या सकलांची परीक्षा घेऊन वृत्ती चालविणें." १८९९–१६७७

शिवाजी राजे मालोजी राजे घोरपडयास स्वस्त:स येऊन मिळण्यासाठीं पाचारीत असतां:– "...हाच विचार केला कीं जे कांहीं आपले **जातीचे मराठे लोक** आहेती तें आपल्या कटांत घेऊन..." "आपल्या **चालीच्या**

मराठिया लोकांचे बरें करावें हें आपणास उचित आहे ऐसें मनावरी आणून..."
" पठाणाची चाकरी करून राहों म्हणाल तरी पठाणास .... बुडवितच आहों. तुम्ही **मराठे लोक आपले आहां तुमचें गोमटें व्हावे** म्हणून पत्रच तुम्हांस लिहिले असे.—" (१९०१–१६७७)

फ्रायर २ वृत्तांतील उल्लेख.

फौजदार, सुमेदार, हवालदार, मुलकी सुभेदार (Civil Governors), सेनापती किंवा लढाऊ धर्माधिकारी (!) अशा विश्वासाच्या आणि अधिकाराच्या जागा तो सर्व **ब्राह्मणांना** किंवा तत्सदृश अशा **पंडीत** (वैद्य ?) नांवाच्या थोड्या हलक्या जातीच्या लोकांना मिळतात [?]. हे सर्वचजण सार्वजनिक हित किंवा सर्वमान्य प्रामाणिकपणा याबद्दल बेफिकीर राहून फक्त स्वतःचेंच हित पहातात. या वर्गाच्या स्वार्थी दृष्टीमुळें, शिवाजीच्या अमलाखालीं एवढा मोठा किनारा असला तथापि तेथें व्यापाराची भरभराट होण्याची आशा नको.

सामान्यतः शिवाजीची सर्व प्रजा एक प्रकारें गुलामगिरीचा अनुभव घेत आहे. देसाई लोकांकडे जमिनी दुप्पट धान्यानें जबरदस्तीनें देऊन त्याची वसुली करण्यासाठीं त्यांचा छळ केला जातो. आज कित्येक ब्राह्मण शिवाजीच्या कैदेंत असून, ब्राह्मण हे धर्माप्रमाणें छळापासून मुक्त असावेत असें असतांहि, तापलेल्या सांडसांनीं त्यांचा छळ होतो. अशा रीतीनें उकळलेला हा पैसा त्यांचाहि असाच छळ होऊन, सुभेदारांना पुढें राजालाच द्यावा लागतो. नंतर पुनः त्यांची नेमणूक होऊं शकते ! ! देसाई लोक याच तऱ्हेनें आपल्या कुणब्यांना छळतात. अशा रीतीनें **प्रजेची नागवण** चालू असल्यामुळें फक्त कर्ते पुरुषच नव्हे तर कुटुंबेंच्या कुटुंबें बंधनांत खितपत रहातात !" (१९०२–१६७६)

सुरतकर कंपनीसः— "... भीमजी पारखाच्या इच्छेप्रमाणें आलेला मुद्रक त्याच्या भाषेचे नवे टाइप पाडूं शकत नाहीं; तरी दुसरा तज्ञ इसम पाठवावा. एकंदरींत पहातां देशी भाषेत छपाई करणें अशक्य वाटत नाहीं. "
(१९०९–१६७७)

जेस्विटांचा वृत्तांतः— "... या (जिंजीच्या) राज्यांतून मुसलमानाना घालवून देतानां शिवाजीनें त्यांच्या मशिदीचा अवमान व भ्रष्टाकार केला होता."
(१९२०–१६७७)

शिवाजी गवर्नर लँवॉर्न यासः— " मोठ्या तोफांचे गाडे कसे करावे व सुरुंग कसे लावावे हें जाणणारी माणसें तुमच्याकडे असतील अम्हाला—— जरूरी आहे. " (१९७५–१६७७)

मुंबईकर कंपनीसः-......" दक्षिणी हे अधिक चांगले शिपाई व स्वार असल्यामुळें त्यांनीं (दिलेरखानाचा) पराभव केला " (२००७-१६७८)

राजापूरकर-सुरतकरासः-......" मोबदला सुपारी घेण्याची परवानगी दिल्यास (येणें) वसूल होईल. कारण या हिंदू लोकांच्या हातून रोख पैसा काढणें अत्यन्त कठीण (आहे)......" (२०१९-१६७८)

दत्ताजी त्रिमल—दिवाकर गोसावी

छत्रपती स्वामी कर्नाटकांतून स्वारी करून सज्जन गडी दर्शनास गेले तेथें विनंती केली " श्रीनीं **पूर्वीं बीरवाडीचे मुकामी सिवथर प्रांति** असतां मध्यें महानदी महापूर आणि अकस्मात् रात्री पलंगापासी येऊन चमत्काररूपें दर्शन दिले. दुसरे दिवशीं सुंदरमठी भेटी झाली. आशीर्वाद **व देशप्राप्तीचे चीन** सुचविले. चाफळ येथील देवस्थानास गाउ मुकासे द्यावे म्हणून **दूरदूर देशी गांवाचीं नांवें** सांगितली. चाफळचे देवालय उकलून कर्नाटक रीतीची इमारत करावयाची आज्ञा मागितली तें राहविली. मग सज्जनगडी मठ बांधण्याची आज्ञा मागितली. ते कार्य चाली लाविले. श्रीचे पूजेस चाफला सनिध अकरा गांव इनाम दिले. ते पावलें म्हणोन प्रसादार्थ परत दिलें. ऐसियास आणिक ११ गांव १२१ खंडी धान्य व ११०० होन ऐसे चालवावे ऐसा निश्चय केला. श्री रामदास स्वामी तो उदाशीन स्थिती. परंतु त्यांची आज्ञा पूर्वींच आहे कीं देवाचा उत्सव उत्तरोत्तर वृद्धीते पावेल. **पूर्वीं संकल्प केल्याप्रमाणें राज्याभिषेक प्रसंगीचे अलंकार व अकरा मणाची स्वयंपाकपात्रें पाठविली ती श्रीस समर्पणें**........व उत्सव चालविण्याबद्दल श्री छत्रपति स्वामीची पूर्वींची आज्ञा आहे. तरी तेणेंप्रमाणें करणें. २०२२-१६७७

छत्रपती शिवाजीः-... वासुदेव गोसावी मठ कन्हेरी ... हे पनालियास येऊन स्वामीचा भाग्योदय सांगितला. तरी ... बिघे (जमीन) दिले. " (२१०५-१६७९)

मुंबईकर इं.:- आमच्या चांगल्या परिचयाचा झालेला सुंदरजी परभू... हेर म्हणूनच आम्ही कैद करून ठेविला आहे. राजाकडील गुप्त बातमी आपल्याला मिळावी म्हणून तीन चार गरीब ब्राह्मणांना हलक्या पगारावर गुप्त हेर म्हणून नेमावें—" (२१४०-१६७९)

मोगलानीं गोवळकोंडेकरांकडे केलेली मागणी :- "खंडणीबद्दल सोन्याची ४० मोठी पिपे, मोअज्जमकरतां **गोवळकोंड्याची राजकन्या,** व हिरेजडित **सलकडी जोड** ......"

अण्णाजी दत्तोची वंशावळ.



(ले. प्रो. दत्तो वामन पोतदार. पुणें.)

शिवकालीन मुत्सद्दी मंडळांत अण्णाजी दत्तो यांचें नांव पाहिल्या ओळींत बसविलें जातें. परंतु त्यांचेविषयीं इतर पुष्कळ तत्कालीन थोर पुरुषांप्रमाणेंच आपणांस आज असलेली माहिती अत्यल्प आहे.

शिवाजीच्या उत्तरकालीन हालचालींचे वेळीं अण्णाजी विशेष पुढें आला असावा असें त्याचे संबंधीच्या उल्लेखांवरून दिसतें. तो मोठा वजनदार, कर्ता व कारस्थानी मुत्सद्दी असावा असें दिसतें.

या अशा मुत्सद्याबद्दल सुमारें १०।२० उल्लेखां पलीकडे आपणांस विशेष माहिती नव्हती. तो कोठला, कोण इत्यादि विषयींहि माहिती नव्हती.

सुदैवानें पुणें सुपे येथील रहिवासी रा. रा. देव यांचे कडोन मला नुकताच एक वंशावळीचा तुकडा मिळाला. हा तुकडा अण्णाजी दत्तोची वंशावळ देणारा आहे. कागदाचे स्वरूपावरून हा तुकडा पेशवाईचे अखेरीचे काळांत तयार झाला असावा असें अनुमान होतें,

प्रथम तो तुकडा येथें उतरून घेतों. तुकड्यांत झाड दाखविलें आहे. त्यांत तळाला बुंधा, टोंकाला शेंडा याप्रमाणें वंशाचें झाड जात आहे. सोईसाठीं मी प्रथम बुंधा देऊन क्रमानें शेंड्यावर चढतों—

मूळ पुरुष दत्तो त्रिंबक कुलकर्णी व[१]सुमंत नांदेडकर गंगातीरकर मोगल इलाखा त्याचे चे[२] पुत्र आणाजी दत्तो श्री. सिव छत्रपती शककर्ते सिवाजी राजे याचे कालकीर्दींत सचिवपणाचा आधिकार संपादला.

अणाजी दत्तो याचे पुत्र रघुनाथ अणाजी श्री छेत्रपति सभाजी राजे याचे कारकीर्दींत ता। संगमेश्वर प्रांत राजापूर तालुके रत्नागिरी येथील देशकुळकर्ण व गांवकुळकर्ण व मौजे थेरगाव ता। हवेली प्रांत पुणे बेत्रीससे व्होनाचा गांव व उत्तर देशात गोविंदराव बुधले रार बुंदेलखड येथे जालवान प्रांत सागर येथील कचेरींचे दप्तरदारी बा। उत्पन्न थावर जमीन यो। आकार १२०० येणेप्रो तीन ठिकाणीं उत्पन्न आसे आसून आभत्रींत[३] होते.

रघुनाथ अणाजी याचे पुत्र अवजी रघुनाथ यास पुत्र ३ तीन त्यास तीन विभाग करून दिले त्याचा तपशील—

---

१ व सुमंतः—हें बहुधा वस्मत किंवा बसमत वरून असावें. व सुमत नांदेडकर म्हणजे औरंगाबाद जिल्ह्यांतील परभणी नांदेड जवळील वस्मत नांदेडकर.

२ चे—मुळांत अधिक पडला आहे.

३ 'र' चे ऐवजीं मुळांत 'ल' च आहे.

मध्यम पुत्र लक्ष्मण आवजी यास ता संगमश्वराचे देशकुलकर्णी वतन दिल्हे ते त्याचे चिरंजीव वहिवाट करितात.

|

वडील पुत्र रामचंद्र अबाजी यास चालवन प्रांत सागर येथील उत्पन्न सदरहू बारासे मिळाले पुढें संतान नसले कारणाने बंध म्हणजे खालसा जाहले कलम

|

रामचंद्र अवजी यास संतान नाही

तिसरे पुत्र अबाजी रघुनाथ याचे विठल अबाजी यांस मौजे थेरगाव ता हवेली प्रांत पुणें येथील उत्पन्न सदरहू बेवीसचे व्हानाचे विभागास आलेले अनभवांत असता करवीरचे शिवछत्रपती याणी आपलें जवल विठल अ++यास ठेउन घेऊन आपले दौलतीत स++पणाचा आधिकार देतो म्हणोन आश्वा++ करून दिल्हेमुळें सदरहू थेरगांव यास भोगवटा नसलेबदल खालसा जाहले त्याजबदल असल राजपत्रे बेवीस हजर आहेत (दाखलस) परतु करवीर इलाख्यात तशा प्रो उत्पन्न देतो म्हणोन उत्पन्नाचे आधारपत्र दिल्हे ते सामानडावर गेले

विठल आबाजी याचे पुत्र त्रिंबक विठल

|

त्रिंबक विठल याचा पुत्र दत्तो त्रिंबक ऊर्फ* गणेश त्रिंबक

या कागदावरून सरळ वंशावळ अशी निघते-(१) दत्ताजी-(२) अण्णाजी दत्तो-(३) रघुनाथ-(४) आवजी (किंवा आबाजी)—(५) रामचंद्र, लक्ष्मण, विठ्ठल आवजी-(६) त्रिंबक विठ्ठल-(७) दत्तो ऊर्फ गणेश त्रिंबक (८) शंकर, त्र्यंबक [हल्लीं विद्यमान]

म्हणजे दत्तो त्रिंबक धरून हल्लींची आठवी पिढी येते. आणाजी दत्तो शके १६०२ मध्यें संभाजीच्या क्रोधास बळी पडला. यावरून दोनशें अडीचशें वर्षांत निदान १०।१२ पिढ्या व्हावयास पाहिजेत. अण्णाजीचे चिरंजीव रघुनाथ आण्णाजी यांचे बद्दल कागदांत जो मजकूर आहे त्यांत गोविंदपंत बुंदेल्याचा उल्लेख आहे तो पाहिला म्हणजे घोटाळा दिसतो. ताराबाईच्या हयातीनें हिशेब करण्यास बळकट आधार पाहिजे.

असें कळतें कीं, या घराण्यांत कागदपत्र आहेत. ते पुढें आल्याशिवाय विशेष कांहीं लिहितां येत नाहीं. तूर्त एवढेंच समाधान वाटतें कीं, एका विख्यात शिवकालीन मुत्सद्याचे वंशाचा छडा लागला. आतां आशा वाटते कीं, त्याची अधिक माहिती आपणांस मिळेल. आज प्रारंभ आहे.

---

* दतो उर्फ गणेश त्र्यंबक यांचे दोन पुत्र (१) शंकर गणेश व २ त्र्यंबक गणेश (हल्लीं शेतकी कॉलेज पुणें)

SHIVAJI MAHARAJA
FROM ASSAMESE SOURCES

By—Prof. S. K. Bhuyan, Gauhati

The fame of the great Mahratta empire-builder reached the borders of Assam even during his life-time. The reason was this.--The Assamese people, though outside the fold of Mogul supremacy, kept themselves in touch with the great events that were enacted in other parts of India. Their acute historical sense was responsible for their recording of the events which had shaken the stability of the Mogul domination. Assam was the only country which resisted successfully the conquering advances of the Timurid sovereigns, and the author of the *Alamgir-namah* had to admit,—"The Rajas of Assam have never bowed the head of submission and obedience, nor have they paid tributes or revenue to the most powerful monarch, but they have curbed the ambition and checked the conquests of the most victorious princes of Hindustan; the solution of a war against them has baffled the penetration of heroes who have been styled Conquerors of the world."* With a powerful imperial force constantly knocking at her doors, Assam had to remain in a state of perpetual military preparedness, for which a knowledge of the passing currents of Indian history and of the strength and strategyof the opponents constituted an essential factor. The vulnerable points in Mogul state-craft were not better displayed than in the campaigns against Shivaji

---

* *Assam described in Alamgir-Namah,* by Henry Vansittart: *A Description of Assam from the Alamgir-Namah, Asiatick Researches,* Vol. II, 1807, pp. 179-180.

Maharaja, and thus afforded an object lesson of supreme importance to the highly efficient military organisation of the Assamese sovereigns.

The second reason was the intimate association of Raja Ram Singha of Amber with the history of Assam. This princely and valorous Kacchwaha had previously played an important part in the destiny of the great Mahratta leader. His release from the Agra Fort in spite of the guarded vigilance of the great Mogul has been attributed by successive historians to the connivance of Ram Singha. We read in the *Life of Shivaji Maharaja* by Takakhav and Keluskar,-"Ram Singha did not quite escape a certain measure of suspicion. Chitnis asserts that Ram Singha connived at Shivaji's escape. Some Mahratta Brahmans who were caught admitted under torture that Shivaji had escaped with the connivance of Ram Singha." As a punishment for his delinquency in imperial duties Ram Singha was deputed to Assam to die there of the noxious airs and poisonous waters for which that country was reputed in the traditions of the Moguls. Sir Jadunath Sirkar is of opinion that "there is reason to believe that Ram Singha was sent to Assam as a punishment for his having secretly helped Shivaji to escape from captivity at Agra." § The Rajput general came to Assam in the beginning of 1670 A. D. accompanied by the Sikh Guru Teg Bahadur and five Moslem pirs to undo the effects of Kamrupi black arts with which Assam was invariably associated in those days. The Mogul forces under the command of Raja Ram Singha and his lieutenant Rashid Khan were

§ Prof. Sirkar's History of Aurangzeb, Vol. III, pp. 213-214, and Manucci, III, 153.

completely routed by the Assamese army under Lacit Barphukan. The military strength and strategy of the Assamese people were displayed to their best advantage in the ever-memorable battle of Saraighat near Pandu where the All-India National Congress met in December 1926, and the name of Ram Singha and of his ancestors as well as the personages and events with which they were connected became widely spread throughout Assam.

Thus, either through political exigency or through the historical instincts of the Assamese or through the reports of the camp-followers of the Rajput Raja, the name of Shivaji Maharaja or Sewa-raja became well-known in Assam during his life-time. His relations with the Mogul sovereign and his final escape from captivity have been recorded in Assamese chronicles of the Delhi Badshahate, generally known as *Padshah-Buranjis*. We have with us one such Buranji or chronicle which contains these records of all-India significance. The manuscript and its contents were fully described by me in a series of articles entitled "New Lights on Mogul India from Assamese Sources", published in *Islamic Culture* of Hyderabad, Deccan, for July and October, 1928, and January and July, 1929. An elaborate reference was made to this chronicle in my paper "Assamese Historical Literature" read at the Lahore session of the All-India Oriental Conference in 1929, which has been published in *Indian Historical Quarterly* for September 1929. The reasons for which Ram Singha was deputed by Aurangzeb to Assam were discussed with reference to the Shivaji episode in my article "Mir Jumla and Ram Singha in Assam", published in *Journal of Indian History* for December 1926.

The unknown author of the *Padshah-Buranji* has fortunately acknowledged his sources of information. His first informant was one Paramananda Bairagi of Gokulpur, Brindavan, who played a very important part in the history of Assam during the reign of King Udayaditya, 1670–73. The downfall of that Ahom monarch was due to his superstitious veneration of the Gokulpuri Sannyasi. The King pressed the old priests of the country to receive their initiation from the new dignitary. The King was murdered by his brother Ramadhvaja, the first act of whose reign, 1673–75, was the execution of Paramananda. The second informant was a Mogul of Secundrabad, named Muhammad Ali, greatly versed in Persian and Arabic *loghats* or vocabularies, who served as private tutor to the sons of Nawab Mansur Chan, the Mogul Fauzadar at Gauhati during the viceroyalty of Prince Azamtara in Bengal. Gauhati had been surrendered to the Moguls by the treacherous Ahom viceroy Laluk Sola Barphukan, and Mansur Khan was eventually appointed Fauzadar. He remained at Gauhati from March 1679 till July 1682 when the Mogul forces were defeated by king Gadadhar Singha in the battle of Itakhuli, after which there was no perceptible hostility between the Ahoms and the Moguls, the latter being grossly occupied in maintaining the last vestiges of their supremacy in Northern India and the Deccan.

Shivaji went to the Mogul Court at Agra under the protection of Mirza Raja Jai Singha sometime in the year 1665. Shivaji's restless and undaunted spirit pining in the luxuries of the Mogul Court resembled the grains of dynamite cribbed and confined in a German howitzer ever ready to burst and explode, producing a terrific

boom and commotion, and blowing to smithereens all surrounding objects. He, as we all know, threw dust into the eyes of the wily Emperor and escaped from captivity.

In our *Padshah Buranji* Shivaji's career ends with this momentous incident. If the narrative had dropped from the lips of Mahammad Ali there would have been references to the post-Agra events of Shivaji's life, and for these conspicuous omissions we may reasonably conclude that our chronicler's informant on the Shivaji episode was the Gokulpuri Sannyasi Paramananda Bairagi, and not Muhammad Ali.

The Shivaji episode found in the *Padshah-Buranji* was translated and published in *Islamic Culture* for July 1929, pp. 397–401, and we may reproduce the entire portion for the enlightenment of the reader. It will be noticed that the first part of the story is the one of Raja Kandarpa Singha who has also been styled Sewa-raja. This Kandarpa Singha may be Raja Karan Bhurtiyah of Bikaner whose portrait hangs in the walls of the Delhi Museum and whose dignified retorts to Aurangzeb have been recorded by Manucci.* The second part of the story describing Sewa-raja's escape from captivity and Aurangzeb's indignation thereat is undoubtedly that of Shivaji Maharaja. Raja Kandarpa Singha has been styled in our narrative as Raja of Sewa or Sewa raja and the name Sewa is associated with Bijapur as we learn from Ayeen-i-Akbari, Vol. I, pp. 586 and 600 *tr.* Blockmann. This identity of names was responsible for the mixing up of the episodes of Kandarpa Singha and Shivaji; besides Raja Karan Singha himself, after

---

* Irvine's *Manucci*, Vol. II, pp. 22-23.

his appearance at the Mogul court, was despatched with Jai Singha against Maharaja Shivaji.

Ram Singha has been described in our narrative as the antagonist of Shivaji in the Bijapur campaigns but history affirms that it was the old Rajaput Raja Mirza Jai Singha and not his son Ram Sigha who lured Shivaji to the diplomatic hospitality of the Mogul sovereign. According to authentic accounts Ram Singha comes in at a later stage as the host and custodian of Shivaji at the Agra fort. These mistakes are not of an unusual character specially as the narrative heard from a reporter was taken down in a remote corner of India.

EXTRACTS FROM THE ASSAMESE PADSHAHBURANJI

Ram Singha's deputation against Sewa :—After Aurangzeb had ascended the throne by slaying his three brother's Dara Shah, Shah Shuja and Murad Bukhsh, he asked his Wazir Amanatt Khan,—"Please tell me which of the Kingdoms once held in fee by my anestors have now refrained from accepting our allegiance." The Wazir consulted the official records, and Subehdars were despatched to those states which had not till then bowed their head of submission to the Moguls. Kandarpa Singha, the Raja of Sewa, was found incorrigible, for whose subjugation Nawab Sulatifat Khan, a commander of 6,000, was despatched with five other Nawabs, five Rajas, as well as all necessary provisions for war. Sulatifat Khan fought for three long years, but could not achieve any success. The Emperor, being displeased, recalled Sulatifat Khan from the field, and sent Bahadur Khan as Subehdar to conduct the war. Bahadur Khan in his turn became

friendly with Kandarpa Singha, the Sewa-raja, and remained there for two years and a half. He was also withdrawn from the war, and Nawab Shamser Khan was despatched instead, but he died during his stay at Sewa after some time.

At the repeated failure of the Sewa expedition, Aurangzeb became intensely wroth, and said to Raja Ram Singha, " Mandhata is your grand-father. The reputation of his valour has spread to all quarters. Your father Jai Singha is also a great warrior, and he has been honoured with the title of Mirza Raja. And so the fame of your family's heroism has been known in all countries. You are fortunate to be born in such a family, and so I ask you to proceed to the Sewa war. The Nawabs who were sent before could not do anything."

Being thus commanded by the Emperor, Ram Singha replied,—"Yes, I will proceed to the Sewa war. But you should withdraw from the field the army of the Nawabs, as I want to fight singly with my Rajputs of Amber. In the latter case we shall share the same honour or blame in the event of our victory or defeat. If we fight jointly, your Nawabs will get all the credit if there be a victory. Besides, the Nawabs who were sent before to the Sewa war will try to do me harm, knowing that I have been sent in supercession of them. It must be admitted that the Nawabs have not proved themselves a match for Sewa, who has been led to consider himself as invulnerable. Thus my association with the Nawabs will lead to the diminution of the prestige connected with my name. So the imperial forces manned by the Nawabs should no longer remain the field. I shall fight with my own men."

As suggested by Ram Singha, the Emperor ordered back all the Nawabs previously despatched to the Sewa campaign. Ram Singha was made mansabdar with the rank of a commander of 6,000. He was provided with elephants and horses, and was offered suitable presents. Ram Singha was then sent to the Sewa war, and the general took leave of the Emperor. Ram Singha first went to Amber where he halted for a week. He took with him a body of his chieftains and the following Thakurs,—Amar Singha, Dip Singha, Madan Singha, Ugrasen Rao, Damodar Singha, Krishna Singha, Suk Singha, Ragharai, and Anandarai. He also took with him 80,000 Rajput sepoys as well as numerous gunners, beldars, daffadars, labourers and shieldsmen. The total strength of his army was 3,00,000 and with them he proceeded to the Sewa campaign.

Ram Singha's Victory over Kandarpa Singha :— On reaching the jurisdiction of Sewa, Ram Singha despatched messengers to the Sewa-raja with a letter to the following effect,—"I am the grandson of Maharaja Mandhata, and the son of Mirza Raja Jai Singha, and my name is Ram Singha. You must have heard the fame of our family's swords. There exists also a long-standing friendship between your family and mine. Our family has never shown its back in any war. You are also familiar with prowess of the Emperor Aurangzeb. The Nawabs who were sent before against you failed in their mission. So some of them have been executed and others expelled. The Emperor wanted to send his son Sultan Muhammad, but I dissuaded him from coming. I have come myself on account of the long friendship subsisting between us. So come, and let us meet at a convenient place : if on the other hand you

want war, be prepared for the same, and do not delay."

Kandarpa Singh, the Raja of Sewa, received the imperial ambassadors, and sent the following reply to Ram Singha's message,—"The arguments which you have set forth in your letter are true and wholesome, but if enter into any friendly terms with you, people will laugh at and upbraid us both saying that we have become friends, being unable to oppose each other in strength. So war seems to me the better course."

Then there ensued a terrible contest between the two parties. The soldiers of Ram Singha are great experts in warfare. They are insensible to pain, even when they receive wounds from weapons, on account of their bodies being saturated with opium of which they are habitual consumers. They prefer death to retreat from battle. On the other hand, the soldiers of Sewa take to their heels when they have to face a very hard contest. So in the war the Sewa soldiers fled from the battle-field or were killed. Seizing an opportunity during the thick of the fight the Bhil soldiers of Ram Singha surrounded the Raja of Sewa. Ram Singha gained a decisive victory in the war.

Kandarpa Singha, a Prisoner of the Great Mogul:—The Sewa-raja then enquired what Ram Singha was going to do with him, whether he would be taken to the presence of the Padshah or released. Ram Singha said,—"This is out of the question now, as you did not act before according to our advice. You will be taken to the presence of the Emperor. But I will intercede on your behalf with the Padshah so that no harm may be done to you. I shall place my head on top of yours."

Ram Singha wrote a detailed despatch on the war and sent it to the Emperor, who asked Ram Singha to escort the Sewa-raja to the court, and appointed Jumsher Khan in place of Ram Singha, who accordingly appeared before the Padshah with the Sewa-raja. Ram Singha was honoured with rich presents. The Emperor asked the Sewa-raja,–"You are the great chief of Sewa, and of very long standing too. Your ancestors had served mine. You have become now unfaithful to us. May I know the reason ? Are you defying me on the strength of any secret alliance you have formed with any other power ? Or do you think I am impotent in my authority ?"

Thus replied Kandarpa Singha, the Raja of Sewa,—"My fore-fathers never served your fore-fathers in person. They sent articles and supplies only through their envoys according to time-honoured customs. On ascending the throne you have insisted on the payment of tribute, and you have introduced the system of obligatory personal service. This is why we have ceased to be under your vassalage."

The Emperor said,—"You did not serve before, nor did you pay any tribute. We have now seized your person. Where now is your honour gone ? I can now kill you, or do whatever I like with you. So consent to accept our allegiance, and live in peace and plenty by paying us tribute. Otherwise you will be killed being trodden on by elephants."

The Sewa-raja sent the following retort,—"I cannot deviate from my previous decision, nor can I accept your suggestion even on pain of death." The Emperor then ordered the Raja to be put under the

feet of elephants. But Raja Ram Singha implored the Emperor on behalf of the Raja of Sewa, and asked the Padshah not to kill the Raja, who was accordingly imprisoned, being chained with shackles of gold.

Kandarpa Singha's Escape from Prison :—After staying in prison for some time, Kandarpa Sigha said to Ram Singha,—" You brought me here with assurance of safety. I cannot understand why I am now detained in prison, and I do not know what else is in store for me. All this is due to you. I have in my life subdued many people. " Ram Singha earnestly entreated the Emperor to release the Raja but in vain, and Ram Singha became sorely grieved at heart.

A son was then born to Ram Singha, who was named Kishore Singha. On that occasion Ram Singha used to send out articles of food and ornaments, loaded in huge boxes of copper, brass and silver, to the Rajas and Nowabs. He cut assunder the chains of the Sewa-raja, put him in a box and sent him back to his kingdom.

The Emperor ascribed the escape of the Raja to Ram Singha and accused the latter saying: " What have you done with the Raja of Sewa ? "

To this Ram Singha replied, -- "I besought you so earnestly on his behalf, and as you were not willing to let him off he has made his escape."

The Padshah replied,--" It is you who allowed him to escape," to which Ram Singha said, " If you think I have been instrumental in the escape of the Sewa-raja he is under my thumb, and there should be no fear on that score. "

The Padshah did not say anything, but remained silent cogitating within himself.

The Sikh Guru Teg Bahadar Escapes from Captivity:—Then there was a saint of the faith of Guru Nanak and he became the Guru or preceptor of a large number of Brahmans and Kshatriyas. He would not take the name of Rama of Krishna nor of any God or goddess. On meeting a disciple of his own faith he would simply say,—"Om, ai, Guru, Om, ai, Guru" and nothing else. The Brahman Bhattacharyas or priests and the Kazis of the Mussalmans reported to the Padshah,—"This man does not belong to any particular school or faith; he goes about ravaging the country." The Emperor asked the Guru to appear before him, but he did not come. On the other hand he defied the authority of the Padshah, and roamed about plundering and destroying the country attended by 260 thousand Nanak-panthi sepoys. The Padshah became indignant, and he deputed Aloo Khan Pathan who captured the Guru. The Padshah ordered the Guru to be executed, who, for fear of his life, sought the protection of Ram Sigha, who became a surety for the Sikh leader. But the aforesaid Nanak-panthi Guru also made his escape.

The Padshah accused Ram Singha, saying: "How is it that you have allowed the Guru to flee, though you yourself stood surety for him?"

To this Ram Singha replied: "What is he? Is he a Raja or a Nawab? He is unworthy of your vengeance. He is only a mendicant faqir. To accuse me for his escape will cause people to laugh when they hear of it."

Ram Singha Deputed to Assam as a Penal Measure:—Hearing the explanation offered by Ram

Singha with regard to the escape of the Sikh Guru the Padshah said to himself, "This Ram Singha has begun to commit one misdeed after another. Remembering the services rendered to the State by his fore-fathers, I cannot say anything to him. Besides, any punishment inflicted on Ram Singha may lead to a concerted action on the part of the Rajas against me and I shall be alienated from them all." Thus thinking the Padshah did not propose to do anything to Ram Singha.

And it came to pass that the Swarga-Maharaja of Assam attacked the fort of Gauhati and captured the Nawab Sayid Piroz Khan. On receiving this intelligence the Padshah said to Ram Singha,--"Raja Jai Singha, son of Raja Mandhata, fought in the Bengal war and subdued that province. Now, you proceed to the war with Assam."

The reason why the Padshah spoke thus to Ram Singha was this : not a single Nawab who had been deputed to the Assam war could ever come back safely; some died and some were killed in the battle; the waters of Assam are poisonous, its air unhealthy, and its hills are covered with dense forests; and the Emperor wished that Ram Singha should die in Assam. Devising this plan, the Padshah deputed Ram Singha to Assam.

The Raja took with him the Rajput Bhils of his own State, Rashid Khan Nawab and others, and took leave of the Emperor. The Padshah appointed two of his own men as Dewans to accompany Ram Singha in his expedition—Mirza Seyyid Saf, the Dewan of the Parganas, and Mir Raji, the Dewan of the Laskars and Sepoys. The Emperor also deputed Bahlol Khan, the daroga of three hundred Ahudis,

Mir Gazar Beg was appointed waqayanavis of the expedition and the Emperor said to him,--" Ram Singha is an untrustworthy man. He may enter into a collusion with the Swarga-Maharaja. You must send regular reports to me regarding his movements and the success or ill-fate of the expedition."

The Raja halted on the way with his detachment. The Nawabs who were commissioned to accompany the Raja joined him subsequently with their quota of supplies. There was a garden at Patna founded by Ram Singha's father Jai Singha. The Raja stopped there for a week awaiting the arrival of the remaining portion of his army.

THE PREPARATION OF THE GROUND FOR SHIVAJI'S SOUTH-INDIAN EXPEDITION

By Prof. C. S. Srinivasachari, Madras

After his formal coronation which enabled him to claim "the full stature of political growth by the formal assertion of his position as an independent king," was followed by the capture of Phonda, Shiweshwar and Ankola and a campaign in the Kanara Coast. Maharaja Shivaji carried out a carefully prepared Karnatak expedition. In *Phalgun*, 1598 *Shaka*, Shivaji went to Hyderabad, after having secured Mughal neutrality in his rear by an accommodation with Bahadur Khan who "received a large bribe for himself in secret and a certain sum in public as tribute for his master and made a formal peace with the Marathas." The disordered condition of Golconda enabled Shivaji to get from it a subsidiary alliance and an agreement to share the expenses of the Karnatak campaign and give the assistance of a subsidiary force. This pact may be regarded as a clever defensive alliance against a possible Mughal attack. The *Jedhe chronology* says that Shivaji went to Bhaganagar and met the Padshah along with Sarje Rao Jedhe and Yesaji Kank and then taking the Padshah's forces with him, he went to the Karnatak.* After a fairly long stay at Hyderabad, Shivaji began his march south towards the Krishna.

The condition of South India was such as to favour greatly Shivaji's aim "to squeeze the country of its accumulated wealth and return home with the booty."§

---

* *Source-Book of Maratha History- Vol. I to the Death of Shivaji* by Rawlinson and Patwardhan—p. 39, and *Shivaji Souvenir-Tercentenary Celebratian, Bombay*—p. 21.

§ Sarkar-*Shivaji and His Tines (1919)*-note on p. 367.

Amir Jumla had been sent to the Karnatak by his Golconda master and extended the latter's powers from Cumbum to Gandikotta (on the North Pennar, which he captured, to Sidhout,) Chandragiri and Tirupati. He accumulated a huge fortune from his conquests, maintained a good body of cavalry and a well equipped park of artillery and was virtually the independent master of Northern Karnatak. He averted a struggle with Bijapur, about the partition of the Karnatak and fixed, after arbitration, a line drawn east to west some distance north of Jingi as the boundary between the Adil Shahi Karnatak and the Kutub-Shahi Karnatak. This was before 1655-56 when he openly quarrelled with his master and went over to the Mughal side. Shahaji was in Bijapur service as early as the years 1625-28 when he is said to have led expeditions against Phaltan, into the Karnatak and Kerala.‡ He returned to the service of Nizam Shah in 1628 and after some vicissitudes entered the Bijapur service again in 1636. He took part in the expeditions of Randulla Khan into the Karnatak and on the latter's return, was appointed to govern the whole of the Bijapur conquests (1640-41). It was now that the term Karnatak came to be applied to the country below the Ghats. Shahaji resided at Bangalore for some time and later at Balapur and at Kolar; the consequences of his governorship were momentous.† According to the *Shiva-Bharata*, Shahaji

‡ According to the *Shiva-Bharata* and the Great Tanjore Temple Inscription of Raja Sarfoji, dated 1803 A. D.

† "It was at this time that a swarm of Mahratta Bramins was first introduced into the south for the purpose of establishing, under the direction of Shahaji, a new system of revenue administration and of suppressing not only the universal anarchy which then prevailed, but with it most of the traces of the former order of things. Among other

(*Contd. on next page.*)

conquered the powerful Virabhadra of Bednur, the Naik of Basavapattana, the chief of Kaveripattana, "the cruel lord of Srirangapattana, by name Kanthirava, the brave Vijayaraghava, King of Tanjore, the noble Venkata Naik, king of Chanji (Jinji) the proud lord of Madura, named Trimal Naik, the formidable king of Pilugauda (Penugonda?) named Venkata; the wise Srivangaraja, King of Vidyanagar, and the famous Tammagauda, lord of Hamsakuta." § Shahaji observed in his administration "as much moderation as was consistent with the indispensable object of collecting a

---

(Conted. from the last page.)
inovations the offices and Mahratta names of Deshpandee, Deshmook, Koolkurnee, together with the Persian designations of Canoongoe, Serishtadar, and numberless other novelties were then introduced." M. wilks.—*Historical Sketches of the South of India in an Attempt to trace the History of Mysoor*—(1869, 2nd edition, Vol. I, p. 45]).

§ IX 22-24 quoted in *Source-Book of Maratha History*, Vol. I, p. 12.

Sriranga was ruling at Chandragiri, the last representative of the Aravidu Dynasty. He came to the thprne in 1642; at his accession his kingdom was hemmed in "between the Bijapur territories of Shahji and the conquests of Mir Jumla on behalf of Golconda"; and it seemed likely for him to keep these two powers outside the frontier, if not of Ponukonda or Chandragiri, at any rate of Vellore. " In the years immediately following, a change had taken place. Shahaji had stretched out a hand to Ginji and was able easily to occupy the fort in the interests of Bijapur to begin with, but altimately to make it a part of his own *jaghir*. In this he seems to have received the co-operation of the Nayak of Madura (Tirumala Nayak). It is apparently this aggression of Shahji on behalf of Bijapur that is referred to in the Jesuit letters as an act of treason to the empire on the part of Tirumala. This advance of Bijapur was in all probability seconded by the advance of the Golconda forces on Vellore itself (the capital Sriranga)...Tirumala had successfully circumvented the emperor (Sriranga) by organising a simultaneous movement southwards of Golkonda and Bijapur. It was probably in this connection that the emperor had to double back upon Vellore, and succeeded in beating back the Golkonda invasion and in raising the siege of Vellore. In this successful enterprise of his, he received efficient help from Sivappa Nayaka of Ikkeri, who may not at the time have usurped the throne. Apparently Colkonda repeated her attacks and ultimately dislodged Sriranga sometime about 1646; this resulted in

(Contd. on next page.)

large and regular surplus revenue; one part of which must necessarily be remitted to Court, and the remainder

---

(Contd, from the last page.)
the move of Shahaji towards Ginji, It is probably this precarious position of the emperor that accounts for the assumption by about 1646 of what seems formal independence by the Mysore ruler, Kanthirava Narasa. The fall of Vellore, the occupation of Ginji and this indication of independence on the part of Mysore must have made Siranga's position desperate and, failing to secure useful assistance anywhere near, he made an appeal to Shah Jahan in 1653....The appearance of Aurangzib in the Dakhan and his machinations to take possession both of Golkonda and of Bijapur put new heart into the emperor (Sriranga) who apparently made another effort to bring the Hindu rulers of the south together in supporting him to beat the two Musalman states back into their normal frontiers. In this effort probably he had the countenance of Mysore and Tirumala Nayak's unpatriotic efforts against the success of this combination account in all probability for the aggravated hostility between Mysore and Madura. During the period 1652 to 1656 or 1657 the two Muhammadan states were fully occupied in their efforts to keep outside the clutches of the octopus, Aurangzeb. The chances of success of a Hindu combination were there fore at the time very good. For some reason or other the emperor (Sriranga) got estranged from the ruler of Mysore, and instead of a combination of all the Hindu states against the Muhammadans the Hindu States thamselves divided into two camps, and we have the spectacle of a combined attack upon Mysore of all the other Hindu powers of the South. Kanthirava Narasa had to struggle against this combination and he managed to hold his own. His death and the death of Tirumala Nayak of Madura took place about the same time. For the next decade practically, things went on as before, perhaps with much less of Musalman intervention. It was now a question of understanding, if not a combination between Ginji and Madura against Tanjore, and of the hostility of Mysore to Madura. The wars between the last two were carried on with a considerable amount of bitterness and with varying success. After a decade of this warfare, the Mysoreans were so successful that it was only by a desperate expedient that Trichinopoly could be saved for Madura. In the couse of the struggle between these two states, Madura managed to overthrow Tanjore and let her be over thrown by the Mahrattas in turn, so that by the time that Mysore and Madura could, after exhausting themselves, agree to get on peacefully together, the Mahrattas had become a power in the south to reckon with. The invasion of the Carnatic by Sivaji is only the culminating event of the slow advance of the Mahrattas, where previously Bijapur invasions and occupation were feared." Dr. S. K. Ayangar's Introduction to *The History of the Nayakas of Madura* by R. Sathyanatha Iyer (1924)- Pp. 23-25,

from an accumulating fund to support the charges of future rebellion." We are told that "with Shahaji's counsel did Randulla, though to others intolerable, do all government business", and that after the Mahammadan commander passed away, "each successive general that Adil Shah sent to the Karnatak to bring the chiefs of that country at once under his own immediate control, followed Shahaji and pursued Shahaji's objects."

Shahaji had a son Sambhaji, the elder brother of Shivaji by the same mother, and another son Ekoji or Vyankoji by another wife of the Mohite family. A charitable grant was issued by Sambhaji in the district of Bangalore in 1650; and Ekoji issued grants from the same place in the years 1662 to 1670. There are two small grants quoted by Wilks from the son of Sambhaji in 1665 and 1966, after which nothing farther can be traced of that line. In 1663 a Bijapur army went as far south as Trichinopoly and levied blackmail. After the death of Shahaji in 1664 Ekoji succeeded to the Mysore *Jaghir* and by his cunning and valour soon added the kingdom of Tanjore to his possessions.

The flight of Sriranga Raya who was pressed hard by a conspiracy of feudatories to Tanjore was followed by its Nayak Raghunatha, boldly defending his master and restoring him to his throne. In 1646 Sriranga had to fly to Bednur. Tirumala Nayak of Madura invited the Sultan of Golkonda who had already been planning the conquest of Jinji. He then called in the Sultan of Bijapur against the former; and Shahaji took Jinji and levied tribute from Tanjore and Madura, as was noted above. Vijayaraghava Nayak the son of Raghunatha Nayak of Tanjore submitted to Bijapur and paid tribute. He had to fight two wars with his brother Nayak,

Chokkanatha of Madura, in the first of which there was a combinaion between Tanjore, Jinji and the *Dalavay* of Madura. This was in 1664 A. D. and its object was the restoration of the Vijayanagara dynasty and of the Nayak ruler of Jinji who had been displaced by the Muhammadans. Lingama Nayak, the Madura *Dalavay* proceeded with an army of 40,000 men to drive Sagosi from Jinji; but he protracted the campaign and received bribes from the Muhammadan general. Some time after, Lingama who was engaged in a plot to supersede his master, Chokkanatha, and was discovered, joined Sagosi and persuaded him to besiege Trichinopoly. The latter came with a large body of infantry and cavalry and had an assurance of support from Tanjore. Chokkanatha boldy assumed tho command of the army and put forth vigorous efforts to maintain his position. He was successful; Lingama and Sagosi lost heart; they had to retreat to Tanjore whose Nayak had to make an abject surrender when Chokkanatha marched against it; and the invaders had to retreat hurriedly back to Jinji. About 1663 a Bijapur army under 'Vanamian', the renowned captain of 'Idal Khan' advanced to Trichonopoly, but was compelled to raise the siege which was attempted, though he harried the country and received a large subsidy from the Nayak, as "a condition of his leaving the kingdom."

Chokkanatha then advanced against Tanjore, captured the fort of Vallam which he occupied for a short time. Nieuhoff describes this attack on Tanjore when the Madura Nayak desired assistance from the Dutch* Proenza's letter to Paul Oliva, from Cangoupatti

* "The army of the Nayak of Madura being much disheartened by the victories of their enemies he sent me Koylang his Chief Governor, desiring assistance from the Company (Dutch) ".

dated 1665, says that Chokkanatha marched at the head of a large army to Tanjore, and after many fights of minor importance, captured Vallam, "a most important fort by its position and by the rich lands which depend upon it." §

In the next war with Tanjore which occurred in 1673, which was ostensibly caused by the refusal of Vijayaraghava Nayak to give his daughter in marriage to Chokkantha, but in reality was due to the long-standing enmity between the two neighbours, the Madura army marched to Tanjore, defeated a detachment of the enemy's forces and captured Vallam. After a regular siege, in the course of which, the zenana was set fire to, lest the Madura Nayak should obtain a Tanjore Princess, and Vijayaraghava and his son perished bravely fighting, the Madura army took possession of Tanjore and garrisoned it.

Alagiri Nayak, the foster-brother of Chokkanatha, was placed in charge of Tanjore; here he asserted a measure of independence of his master which irritated Chokkanatha and was sedulously fostered by interested parties. A surviving child of ‡ Vijayaraghava named Sengamaladas, which escaped from the explosion of the zenana, was taken by Venkanna, the *Rayasam* or secretary of Vijayaraghava to Bijapur, where the help of the Sultan was solicited for his restoration. The Rayasam contrived to continue in the service of Alagiri for some time, saw the possibilities of an open rupture between him and Chokkanatha and planned the scheme for bringing about the restoration

---

§ Quoted by R. Sathyanatha Iyer in P. 277. of his *History of the Nayaks of Madura.*

‡ It is not agreed whether the child was a son or a grandson.

of the old dynasty. The Sultan ordered Ekoji to drive Alagiri out of Tanjore and instal the boy on the throne. Shahaji is said to have died in January 1664, at Basavapattanam near Bednore, by an accidental fall from his horse; and his eldest and favourite son, Sambaji had died before him, while besieging Chandra giri.† Shahaji was at his death in possession of Arni and Porto Novo, besides his Bangalore *Jaghir*; he had his head-quarters first at Bangalore, according to Sabhasada, and later at Kolar according to Sardesai, *Maratha Riyasat*, (Vol.I P. 158).

A manuscript source which Wilks utilised, confused an expedition which Shahaji undertook for the purpose of levying contributions with the conquest of Tanjore.¶ Depending upon a manuscript in the Mackenzie collection* Wilks says that Ekoji undertoook the expedition against Tanjore, probably with a view to conquest on his own account, but under the ostensible authority of the Government of Bijapur. Ekoji attacked the Madura forces and completely defeated them and made the

† Wilks says that he was killed in the attack of a place called Kanakaghery (Vol, I. p. 48. note.)

¶ "From a comparison of authorities I am disposed to suspect that the author confounds this event with some former invasion for the purpose of levying contributions, one of which we know to have occurred in 1656. The terms of the submission of Tanjore on that occasion may have been considered as equivalent to an actual conquest, but the final occupation of that country was probably achieved by Ekojee after the death of his father. This event is placed by a manuscript history of Tanjore in the Tamil language, belonging to the Mackenzie collection and by several concurring testimonies, in 1675." (Wilks–Vol. I. *p.* 49.).

* An Account of the Maratha Rajas of Tanjore (Sec. 8, No. 835) (No, 24, C. M.:778) quoted in pp. 441–2 of W. Taylog–*A Catalogue Raisonne of Priental Manucripts in the Goverment Library*. (Vol, III p. 441). This paper makes a retrospect to the times of Malloji and Shivaji and references to the connections between Tanjore and the Sultan of Bijapur and describes how Ekoji made his claims for arrears of tribute the ground of his Conquest.

customary demand of the expenses of the expedition; "the account of which as usual doubled the actual amount, and the Tanjorean was unable or unwilling to defray it." Ekoji complained of an attempt to cricumvent him and pretended that he was compelled to guard himself against the treachery of the Nayak and in the end, took possession of the government for the good of the state, to protect the good and punish the wicked."

According to the *Tanjāvūri Audhra Rājula Charita* and the Tanjāvūri *Vāri Charita*, Ekoji marched straight off into the kingdom of Tanjore, captured the fort of Aiyampet, defeated Alagiri Nayak in a pitched battle and drove him out from the fort of Tanjore which he took. Ekoji crowned Chengamaladas and entrusted Rayasam Venkanna with the affair of the coronation. ¶ Venkanna soon quarrelled with his own protege went over to Ekoji's camp at Kumbakonam and induced him

---

¶ Jesuit letters say that after the conquest of Tanjore, Ekoji threatened Tirchinopoly, and that instead of placing Chengamaladas upon the Tanjore throne, according to the orders of his master, he preferred "to usurp the title and authority of independent king." (Bertrand-La Mission du Madura-III)-Pp. 248-9. etc. Nelson in his *Madura Manual*, following probably this testimony, says that Ekoji omitted to carry out the orders of his master, and goes further by declaring that he made himself in a short time master of the greater part of the kingdom of Trichinopoly. (*See Satyanatha Iyer, The History of the Nayaks of Madura*-p. 169.) for a discussion. All the indigenous chronicles agree in saying that at first Chengamaladas was made king of Tanjore, and that Ekoji's usurpation happend later. One writer puts down the failure of Ekoji to carry off Trichinopoly, not to the vigilance of Chokkanatha, "but to Ekoji's want of boldness and unwillingness to take risk and thereby compromise his recent success." Though "the occupation of Tanjore was in their (Madura) eyes, a step to the occupation of the other parts of South India. The same writer says glibly that the Marathas, without making the least endeavour to varnish their proceedings with the colour of fairness or moderation; they stained every moment of their invasion by acts of cruelty and rapine which made the atrocity of the Muhammadans mildness itself." ? V. Rangacharya in *The Indian Antiquary* 1917, p. 16.

to take possession of the kingdom, while Alagiri despairing of help from Chokkanatha whom he had estranged, had fled to Mysore. Sengamaladas was terrified by Venkanna and the threatenings of Ekoji, abandoned Tanjore and took refuge in Ariyalur. Ekoji took possession of Tanjore without any effort; with the help of Venkanna he quickly restored order in the kingdom and paid particular attention to agriculture and irrigation, so much so that the harvest of 1675–76 was "unusually rich, excelling the records of previous years."

Ekoji's conquest of Tanjore is put down by Mr. Venkanswami Row to 1674 A. D. and the advent of the Marathas is thus put down twelve years after the invasion of Madura, which is also the version given in the *Tanjārvūri Rajula charita.* "Du Perron puts it at 1674--75 and Burnell agrees with him," Ekoji came to Tajore only after 1670; and in the previous year he had made a grant of land, at Bangalore, for the God Mallikārjuna of Mallapura. Nelson would say that Ekoji had to wait for about a year after this date of his first conquest of Tanjore before he was able to take advantage of the rupture between Alagiri and Chokkanatha and take the citadel of Tanjore. § The poor Sengamaladas first took refuge with the Poligar of Ariyalur; then with the help of the Setupati of Ramnad, he tried to get back his crown; and later, after his failure, he is said to have taken refuge with the Tondaiman of Pudukotta and lived in obscurity. ‡

§ *The Madura Country, A Manual,* part II. p. 196.–See Bertrand--La *Mission du Madure*-III. p. 249.

‡ Sengamaladas had the satisfaction of seeing his grand-daughters by his son (Vijaya Mannaru Naidu) married to the king of Ceylon, and his

(Contd. on next page.)

Taking advantage of Chokkanath's pre-occupation with the threatenings of Ekoji, Chikkadeva Raya of Mysore occupied the province of Satyamangalam belonging to Madura and was planning further encroachments. In 1676 the situation was very dark indeed in South India "Preparations for war were being made by Madura, Mysore and Tanjore, and a Bijapur invasion to punish Ekoji for his usurpation was expected." Mr. Satyanatha Iyer, from whom the above quotation is taken, gives the translation of Andre Freire to Paul Oliva dated 1676, in which it is said that "unhappily this prosperity (fostered by Ekoji) will not be of long duration, for, on the one hand, Idal Khan sends an army to punish the revolt of his general; on the other the Nayak of Madura, so sluggish when it would have been easy for him to join his brother to crush Ekoji, is at last waking himself up from his apathy......At the same time Mysore, which cannot see without uneasiness a bold set of people establishing themselves on her frontiers, fortifies the citadels taken from the northern provinces of Madura, gathers fresh troops and makes grand preparations for war."¶

It was such a condition that prevailed when Shivaji, after concluding an alliance with Golconda, came to the Carnatic, during which he seized possession of all the Bijapur conquests. His attempt to secure a moiety of Ekoji's possessions in Tanjore, as well as of Shahaji's

---

(*Continued from the last page*)
grandson, Vijaya Raghavalu, adopted by that king as he was childless. The Madura Nayaks, besides others, gave some grants for the maintenance of the disinherited family. The details of their subsequent history are given in the *Tanjavuri Andhra Rajula Charita* and the *Tanjavuri Vari Charitra* —See also Mr. V. Rangacharya in *The Indian Antiquary* (1917)—p. 75. *note*, 96.

¶ Quoted in *pp.* 280–1 of *The History of the Nayaks of Madura.*

jaghir and other possessions, the interview that he had with Ekoji near Cuddalore which was not productive of any successful termination of misunderstandings, his entertaining into his own service of Raghunath Narayana Hanumante, who had quarrelled with his master Ekoji, his getting possession of the impregnable fortress of Jinji without a blow from Rauf Khan, and Nasir Muhammad Khan his contest with Sher Khan Lodi for Vellore and Tiruvadi and his conquests and pilgrimages in the Karnatak and Mysore have all been described with a wealth of authoritative detail by eminent writers like Sir J. N. Sarkar. That there had already come into operation a reaction against Muhammadan authority, begun by Shahaji's acts and strengthened by Ekoji's doings and that this was a good background for Shivaji's southern conquests which stood the Marathas in such good stead in their war of independence, when they were driven from Maharastra, it is the object of this small paper to show.

THE RISE OF THE MAHRATTA POWER IN THE SOUTH

By—S. Krishnaswami Aiyangar, Madras.

It was Akbar's vision of empire that has to be regarded as perhaps the root cause of the rise of the Mahrattas to political power, and it may equally well be regarded that the collapse of the Hindu empire of Vijayanagar was as much of a contributary, as the Mughal advance in the Dekhan to the rise of the Mahrattas as a nation and as a political power in the seventeenth and eighteenth centuries. Akbar conceived his empire not exactly as an empire of the Mughals in India, but as an Indian empire, in which the Mughals, Afghans and the Hindus alike were citizens on an equal footing politically, and entitled to be regarded as the subjects of an Indian empire. The conception of such an empire seems to have come early to Akbar, and there is evidence in the earliest acts of even young Akbar as emperor when he was moved towards the accomplishment of this ideal. He almost began after the dismissal of Bhairam Khan from his position of authority and the overthrow of Adham Khan, getting rid thereby of sinister influences in the way of this ideal. The first practical steps that he took were to accept the Hindus as his own subjects as much entitled to privileges of position and power as his own Mughals, not to say the Afghans. In the course of carrying this idea out into practice, he experienced the difficulties of antagonism in religion as prejudicial to the bringing about of that complete unity among his subjects, which for some little time perhaps exercised its opiate influence upon his

imperial mind. That is what induced him after elaborate preparation by way of open discussion and combats of argument among the best votaries of the prevalent religions of the land to formulate a common religion for all. That religion was matter not capable of being thus ordered even by imperial authority was borne in upon him, when perhaps the most intimate among his courtiers plainly told him, after all his travail, that that was a hopeless feat. Bhagavandas is said to have made the remark "Islam I understand, Hinduism I know but this new religion I protest I do not understand" thus putting the whole position in a nutshell. Religion is not made to order except for agnostics and plain atheists. It is something more secretive and has an appeal to much beyond reason. That was a truth that was recogninsed in India ages ago; and the religion of each one was left entirely to himself alone. That was the cardinal principle that contributed to the success of Hindu administration during the best of its days. Rulers regarded themselves as the preservers of the *Dharma*, not the propounders and the promulgators thereof. In a country of the vastness and variety of India, even admitting that it never was under an empire as a whole before the establishment of the British Empire, any other principle would have been impossible as an operative principle of action. This truth Akbar learned when his Din Ilahi failed, and like a statesman of distinct vision, he learned the truth and laid it to heart, and did not go into sackcloth and ashes like a fanatic to mourn the sad fate that had overtaken his pet scheme. The empire of India that he wanted to form fell short to this extent in the unity that he wanted to impart to it; but short of this, his liberal policy had knitted it as

closely as may be and put it on a footing on which it showed promise of permanence.

On this basis, having firmly established himself in the Indian empire of Hindustan, the next natural effort would be to make the attempt, which failed before under Muhammad bin Tughlak, of extending the empire to take into it peninsular India as well. The first effort at expansion was the successful advance across the Vindhyas and the establishment of a viceroyalty of the Dekhan at Burhanpur without much ado. To the Dekhan states, which were Islamic in character though of another form, the expansion of imperial authority meant their incorporation in the imperial rule, and therefore political extinction. The states fought as hard as they could and succumbed to the imperial forces when the time came. Akbar's policy of expansion was pursued by his successors. Jahangir in his own way tried to go a step further and employed in the enterprise the most promising among his sons, who ultimately succeeded to the throne and carried out the policy of his father still further; so that at the unexpected termination of Shah Jahan's rule, the two Musalman states, Bijapur and Golkonda, were alone left in the Dekhan. The three states that had been overthrown successfully had been incorporated in the viceroyalty of the Dekhan, which gave the surest indication of what the states could expect by submission to imperial authority. The two states therefore felt that they must fight to the bitter end and be extinguished fighting rather than undergo the political extinction which, as they might well imagine, submission to the Mughal Empire meant. In this fight naturally they utilised all their resources, and the Mahrattas as such emerged into view as auxiliaries

rendering valiant service in this cause of Dekhani independence of the Indian empire of the Great Mughal.

Ever since the overthrow of Yadava Ramdeva by Allauddin and the flaying of his son-in-law Harapala, the Mahrattas lost their independence. The planting of military colonies, as it were, of the " Amirs of 100 " by Mubarak Khilji drove another nail into the coffin of their independence. Politically therefore they had become extinct as a nation ; but in practical life they played a very considerable part in the administration of the Islamic states of the Bahamani kingdom as a whole, and rose to rank an importance even in some of the separate states into which this kingdom broke up. They were found largely employed even in the State of Bidar under thc Bahamani Sultans themselves. It was a quarrel between the Mahratta Controller of the finances and Yusaf Adil Shah, the gereral, that brought about the rebellion which ultimately dismembered the Bahamani kingdom itself. They found scope for further service in the states of Bijapur and Ahmadnagar particularly, and it is common knowledge that Shahaji began his career as a petty military commander and Jagirdar in the state of Ahmadnagar. A valiant man, in compartively humble circumstances, he naturally looked up to those high in position and through the agency of another Mahratta chieftain, who had influence at court, he found opportunity for honourable entry into service and achieved distinction in the wars that Ahmadnagar had to wage against the Mughals. Unfortunately for him, Ahmadanagar had too far gone to appreciate even the valiant services of a loyal officer of their own. Shahaji's achievements only provoked jealousy and instead of meeting rewards for services rendered, he

found that he had the counteracting machinations of court intriguers against him. He tried his fortunes with the other of the rival states, Bijapur. There again, he achieved the same distinction, and he met with almost the same kind of reward. After trying his fortunes with Ahmadnagar once again chastened after defeat, he found he was in no better position to prosecute his ambitious career and changed again to Bijapur. There was the possibility of service in the empire. He might have elected to enter imperial service and risen to a certain amount of importance. Had he done that, as in fact he tried to do in 1637, Shahaji might have ended his days as the holder of a big Mansab in the empire at the very best, not without the possibility of an inglorious end to a brilliant career, having regard to his character and high ambition. Fortune had willed it otherwise. Shahaji finally threw in his lot with Bijapur, which first gave him an opportunity to round off his small estate by further accretions of territory, so that in Maharashtra he could count himself a Sardar of a fairly high rank. It was then that the territory south of the two Musalman kingdoms opened out vistas for accomplishing his ambition, and Shahaji found an opportunity to take the tide at the full flood.

The empire of Vijayanagar which had suffered a shattering blow at the hands of the united Muhammadan states of the dismembered Bahamani kingdom in the battle of Talikota so called, was able soon to rehabilitate her resources and restore herself to somthing of the position that she had held before as arbiter of the fortunes of the Islamic states in the course of a score of years. Tirumala who fled from Vijayanagar soon after the battle of Rakshastangadi, ordinarily

called Talikota, regained his power so far that from Penugonda as his capital, he began to exercise the same commanding authority for intervention in the affairs of the Bahamani Kingdoms. At the end of the sixteenth century therefore Vijayanagar still was an important power capable of using and willng to use her power as before in regard to the Muhammadan kingdoms. On the contrary, the two Muhammadan states in the immediate neighbourhood had pursued a policy, with the advantage that they acquired after the great battle, of not playing into the hands of the Hindu power. They came to an understanding in the course of the years that followed the battle that in their career of expansion they ought to follow a policy of respecting each other's spheres of activity. Bijapur was allowed for its share of expansion the plateau region covering the greater half of the Mysore plateau on the eastern side and leading into the middle country of Tamil India, the South Arcot District of to-day. Golkonda had for its sphere the whole of the Karnatak below the Ghats leadidg southwards towards Madras and terminating with perhaps the borders of the Chingleput District. Each of them therefore laid itself out to pursue a policy of aggression along the line thus indicated and ultimately to bring the Hindu state to extinction. They were prosecuting this policy with vigour, and if not with immediate success, at least with chances of assured ultimate success. Tirumala passed away and was succeeded by his son Sriranga sometime about A. D. 1585. Srirang had hard work to do against Golkoda. He had to fight many battles and win and keep the power of Golkonda within limits. He had also reverses of a vary serious character. He fell into the hands of

the Muhammadans and was taken prisoner. He was rescued by the efforts of a loyal chieftain, a feudatory of the empire.[1] Occupied as he was in this fashion, he provided for the administration of the empire by creating two viceroyalties one at Srirangapatam, which took in under its control all the territory on the plateau extending northwards to the frontiers of the Southern Mahratta country. The other viceroyalty had its headquarters at Chandragiri. This viceroyalty had for its sphere of authority all the territory extending southwards along the plains down to the extreme south.[2] When Sri Ranga died, Golkonda's expansion did not go very much beyond the Krishna, which marked the boundary on this side. Even Bijapur was kept more or less within her bounds. The exposed parts, however, were under the direct rule of the empire including as they did the viceroyalties of Udayagiri, Penugonda and Vijayanagar itself or Halabeid, as it used to be called before that, and the plateau part, at any rate, Mulbagal. These were earlier provincial governments, and it is because of the warlike operations that were necessary in this region that the south was otherwise provided for. When Sri Ranga died, the empire was left more or less intact. The next brother who was viceroy at Srirangapatam, Rama, had died before him leaving the viceroyalty to his eldest son, Tirumala. Next brother was Venkatapati, who was viceroy at Chandragiri. He had with him his younger nephew, the brother of Tirumala, and being the eldest member of the family and the only surviving brother of four, he succeeded to the empire at the death of Sri Ranga.

1 Sources of Vijayanagar History, p. 232.

2 *Ibid.* p. 302.

Venkatapati died in the year A. D. 1614. During the score of years and more of his reign, he managed to keep the empire intact, and there is a record of his having stood a siege in Penugonda which he ultimately managed to beat off with great success with the assistance of Rana Jagadeva Rayal, the viceroy of Chennapatnam and the Baramahals, and Ragunatha Nayaka, the heir-apparent to Tanjore. The empire, however, suffered a dismemberment in that the viceroyalty of Srirangapatam underwent an extinction, as it were, and a new family of rulers, the Udayars of Mysore set themselves up instead with the countenance, as it seems, of the emperor himself. Beyond these and the successful aggressions of Golkonda rulers in the north-eastern corner of the territory, the empire remained intact. His death brought about a disputed succession which rent the empire in twain and left it permanently damaged. Venkatapati married four queens, but apparently had no children by any of them. One of them belonged to the family of Gobburi chiefs and claimed having brought forth a son and was bringing him up as their child. Venkatapati himself seems to have shared the general unbelief in regard to the matter and continued to bring up his nephew, Ranga, the brother of the Sri Rangapatam viceroy and son of his elder brother Rama almost as his adopted son, and had even raised him to the dignity of '*Chikarāya*,' meaning either prince and perhaps the prince heir-apparent. According to contemporary accounts, Venkatapati on his deathbed declared this Chikaraya as his successor and handed over to him the imperial seal. For the moment the other party led by Gobburi Jagga, the brother of the queen concerned was silenced. The discontented powers in the

empire rallied round the infant son and were only waiting for an opportunity to overthrow the reigning ruler. Jagga managed to work himself into the confidence of the ruler and found a suitable opportunity to put an end to the emperor and all his children and secure the throne for his own nephew. Practically all the governors of provinces, big and small, joined in this disloyal enterprise excepting one chief, Yāchamanayaka who was near the court and had heard of the plot. He managed through the good offices of the imperial washerman to smuggle out one of the boys, the second among the three sons of the emperor out of the palace in which the royal family was held in prison by Jagga. The only ruler of importance on whose loyalty Yāchamanayaka depended was, as was mentioned already, the ruler of Tanjore, Achyutappanayaka, and his son Raghunatha, who played an important part in his father's administration.[1] Yāchamanayaka, therefore, wanted to carry the prince off for safety to Tanjore. Getting wind of this Jagga wanted to surround Yāchamanayaka and get hold of the prince. Jagga defeated him in the field and dodged successfully and reached Kumbhakonam safely, wherefrom an escort sent from Tanjore met them and took the prince and Yāchama nayaka safely into Tanjore. This led naturally to Jagga's organising his party and a great battle was fought just two miles above the Grand Annicul of to-day, where the confederated enemies were defeated in behalf of Rama the prince. Among the enemies principally were the Gobburi chiefs leading along with the other petty chiefs excepting those of perhaps Venkatagiri and Kalahasti in the territory dependent on the empire. The newly

1 *Ibid* Selections 86, 190 and 94 and J. I. H, *Vol.* V. pp. 164 ff.

founded family of Mysore stood aloof. We do not hear of the viceroy of Chennapattanam taking any part. The Nayak of Jingee took a very prominent part and ultimately fell in the battle. So did the Nayak of Madura, and if the Tanjore account is correct, there was even a Portuguese contingent on the side of the malcontents. This movement and its result damaged the empire much more than anything else and threw the gate open for the entry of the Muhammadan neighbours more effectively into the imperial territory. This Ramaraja succeeded however to tide over his difficulties through the assistance of Tanjore so long as it maintained itself in full power. But Tanjore itself was in constant war with the Madura chiefs, and this intermittant war ultimately weakened both. The weakness of Tanjore diminished the power of resistance and paved the way to its downfall.

The breakdown of the viceroyalty of Channapattanam prevented the newly founded kingdom of Mysore, obviously prevented by Bijapur movements on the northern side, from taking any part in the general melee in the empire. Whatever it was we may take it that the Bijapur movements began to be more active and disconcerting. The empire being involved in its own struggle for existence, the distant chiefs were thrown upon their own resources for defending themselves against the enemies on the north. This gave an opportunity at once for distinction, which would lead on ultimately to independence. It was about this period that the chiefship of Ikkeri, Keladi or Bednore was coming into prominence. The Channapatnam viceroyalty was the first to suffer by the Bijapur invasions. Invasions from Bijapur seem to have begun their attacks on the

territories under the government of Bednore. Gradually absorbing the territory that constituted afterwards the Nawabship of Sira, they marched southwards against the territory dependent upon Chennapatna and Bangalore, and they were able to overthrow that by a series of invasions first under Ranadullah Khan and then under Musttapha Khan, the general agents of Bijapur. The Bijapur armies were able to march farther south-east to the end of Baramahal and Salem Districts, which constituted a part of the government of the viceroy at Chennapatna and stretched out from there into the province of Jingee, to play a very important part in the history of the Mahrattas. This process took a considerable number of years and was not complete before A. D. 1649 when Jingee actually fell into the hands of the invaders.

In the meanwhile Golkonda's activities began to receive a fresh stimulus, and through the genius of a new minister wellknown to history later on as Mirjumla. Golkonda made gradual advances till it came into the possession of the territory round Pulicat, the Dutch settlement not far and took in all the territory right down to the province of Kalahasti and Conjeevaram in the immediate neighbourhood of Madras. It is this double pressure, one from the eastern half and the other from the western and the northern frontier of the empire that occupied all the time and such energy as the imperial headquarters could put forth and left the larger viceroyalties of the south to pursue their own particular plans of self-aggrandisement without very much of a fear of active operations on the imperial side. This general aspect of forces must be borne in mind in any discussion of the activities of any of these indidivaul

provincial governors, or of even the interloping activities of states like Bijapur. Rama was succeeded by another Venkata about A. D. 1635, and it was he that was responsible for granting the charter to the two factors of the English East India Company, Cogan and Day, for erecting the factory at Fort St. George, which more than a century and a half later blossomed into the Madras Presidency of to-day.

The accession of this second Venkatapati to power was almost coincident with important changes in the frontiers of the Dekhan. The kingdom of Ahmadnagar passed out of existence in A. D. 1633, and just three or four years after, the wars for the dismemberment of the Ahmadnagar spoils between the Mughals on the one side and the Sultans of Bijapur and the Maharattas on the other, came to an end by the definitive treaty entered into between the parties arranged for by the emperor Shah Jahan. It is this treaty and the definitive arrangements it imposed upon the powers concerned that set free Bijapur from the entanglements of the Mughals as it did Golkonda to some extent, though Golkonda was not directly concerned. It was after this arrangement that Shahaji the Mahratta, cast his lot with the state of Bijapur and entered Bijapur service with the influential support of their commander-in-chief Ranadhoola Khan and his chief adviser Morarpant. Shahaji's entry into Bijapur service was followed almost immediately by Bijapur activities into the territory of what at present constitutes the state of Mysore.

To understand what brought in this Bijapur intervention requires a slight retrospect of the history of Mysore. The state of Mysore came into being with the capture of Srirangapatam by Raja Wodeyar

in A. D. 1610. The possession of Srirangapatam was ratified by a charter issued by the emperor Vankatapati Raya just at a time when his position at Penugonda was actually threatended by a vigorous Golkonda ,attack. Whether there was any connection between the one and the other or no, Venkatapati Raya accepted the accomplished fact and allowed Raja Wodeyar to rule the territory that hitherto was under the Viceroy at Srirangapatam in A. D. 1612. This charge comprised at least two governments, possibly three; (1) that under Srirangapatam itself for one thing ; (2) the territory with its headquarters at Channapatna and which happened to be under a governor Jagadev Rayal, who gradually extended the little province by the accession of the so called Baramahal Districts of Salem. On the north it seems to have taken in the territory ruled over by the Nayak of Ikkeri, not to mention the petty chieftains and Poligars in between Ikkeri and the frontiers of Srirangapatam. But Raja Wodeyar's claims to all these were not acknowledged without question. He was able to take actual possession |of Srirangapatam and unless he took similar possession of these he could not well establish his title. But Raja Wodeyar, the active man that he was, was not able to accomplish all these things in his lifetime. It was left to his successor, his grandson Chamraja Wodeyar by name, that gradually accomplished the cunquest of the territory immediately adjoining his, that is, the Channapatna viceroyalty without the Baramahals and having acquired this he made an effort to the territory of Ikkeri. But Ikkeri was able to defend herself so long as the northern frontier was safe. Chamaraja was not able to accomplish much in that direc-

tion before he died. What he failed to do, his successor tried to accomplish. In order to divert the attention of his Ikkeri contemporary he brought about a Bijapur invasion from which he had himself to suffer. Among the petty Poligars that surrounded the territory of Ikkeri was one ruler by name Kenge Hanuma of Basavapattana. This general and other discontented Poligars in the neighbourhood were set up against Virabhadra Nayaka of Ikkeri by Kantirava Narasa. Virabhadra quelled the rebellion and disposssesed Kenge Hanuma, referred to in Persian authorities as Kenge Nayaka, of his own Pāḷḷayam. He went to Bijapur to solicit the aid of the Padusha there. He found there another Poligar Channaya of Nagamangala similarly dispossessed by Chamaraja Wodeyar himself. The one invitation and the other prevailed against such doubts as the Bijapur Court entertained as to the wisdom of this intervention, as about this time, A. D. 1638-39 the definitive treaty dictated by Shah Jahan had introduced peace on the northern frontiers of Bijapur. The invitation was accepted and the first invasion of Mysore was undertaken. The commander-in-chief of Bijapur, Ranadhoola Khan was despatched at the head of 40,000 troops for the purpose of reinstating Kenge Hanuma. Having succeeded easily in doing this, the Bijapur army marched onward taking possession of the provinces of Ikkeri, Sira and Bangalore, the last being in the viceroyalty of the great Jagadeva Rayal, lately conquered by the rulers of Mysore. Having succeeded in taking possession of these, as it is claimed, the army laid siege to Mysore and Srirangapatam simultaneously. The siege was prosecuted with great vigour and the defence was equally vigorous.

But ultimately the whole campaign ended in a treaty which left the Mysore ruler all the territory south of the Kaveri, that on the north of the river being taken over by Bijapur; that is, Mysore lost her new conquests in the province of Jagadeva Rayal. This invasion is said to have taken place in the year of Kantirava Narasa's accession, that is, A. D. 1638-39. Though Kantirava Narasa agreed to the humiliating treaty in his distress, he seems never to have thought of fulfilling it, as his subsequent attitude would clearly show. Ranadhoola Khan, on the contrary, considered the arrangement satisfactory, left Kenge Hanuma in charge of the newly acquired territory and returned to Bijapur. It was now the turn for Virabhadra Nayaka of Ikkeri to appeal to headquarters. He sent an ambassador to Bijapur and pointed out the unsatisfactory character of the arrangements and the unreliability of Kenge Hanuma the agent left by Ranadhoola Khan. A commission was appointed to conduct an enquiry, of which Nagamangala Channiah was a member. Hanuma was not too ready to make the enquiry easy and Kantirava Narasa showed as little inclination to act up to the treaty. Kenge Hanuma managed to get rid of the only member of the Commission who had knowledge of the locality and was likely to be troublesome. This mismanagement seems to have brought Ranadhoola Khan into disgrace. and another general was sent in his stead. This commander-in-chief and his successor Mustapha Khan were both alike unable to do much against Srirangapatam, which had been completely repaired and put into order for standing a much longer siege than the previous one. A subsequent invasion by Abdullah Khan and Hemaji

Pandit did nothing more than occupy the post of Turuvekere, north-east of the Mysore District of to-day, for a short time. The turn had now come for Kantirava Narasa to break out of the boundary to which he was confined. He marched eastwards, took back the territory of the Channapatna viceroyalty, and entering the territory of Kongu, he defeated the guardian of the passes and took possession of Satyamangalam, Samballi, and Bomballi, all on the south and west of the Kaveri, thus coming into hostility with the ruler of Madura. He now compacted the territory to the extent of bringing his frontiers into direct touch with those of Ikkeri, Sira and Chittaldrug on the North of his kingdom, Coorg in the West and the Kongu country in the south. This was the position during the reign of Kantirava Narasa of Mysore, that is, through the twenty years, A. D. 1639-1659, so far as this part of the territory is concerned. ¶

This period of Kantirava Narasa's activity was almost coeval with the rule of Tirumal Nayak in many respects perhaps the greatest of the Nayaks of Madura. Tirumal Nayak apparently came to the throne actually about ten years earlier and bore an influential part in the administration of Madura some years before that. The great civil war of Vijayanagar consequent on the massacre of the royal family after the death of Venkata I, threw all the great Nayakas excepting the Nayak of Tanjore into opposition to the empire. During the period of rule therefore of the emperor Ram and his successor Venkatapati II extending from A. D. 1616 to 1639, the position of the empire was one of comparative inactivity resulting in no harm to the empire, however, as the two Musalman powers in the neighbourhood were

¶ Ancient India by S. Krishnaswami Aiyangar, pp. 292-95.

occupied in their own struggles against the advancing tide of the Mughals. Venkatapati during his lifetime pursued a policy of non-intervention letting his feudatories fight it out among themselves, if need be, unmolested by the imperial headquarters. That is how we can explain the aggressions of Raja Wodeyar, and particularly his successor Chamaraja Wodeyar against the province of Channapatna and the Baramahals. Chamaraja advanced as far east as Hoskotai which he laid siege to, although he did not quite take it. In the meanwhile a change also seems to have come over the southern viceroyalties, namely, those of Jingee, Tanjore and Madura. It will be remembered that Tanjore remained thoroughly loyal and was primarily instrumental in setting up Ramaraj on the throne. After the death of Ragunatha Nayaka and under his successor Vijayaraghava, the same relations seem to have continued substantially, Tanjore and Madura fighting out their wars between themselves whenever occasion offered itself. Throughout the reign of Venkatapati, the administration seems to have been carried on for him by his brothers-in-law, the Velugoti Chiefs of Kalahasti. Among these two names figure prominently, Damerla Venkata and Damerla Ayya. It is the administration of the brothers-in-law as the Company's correspondence[1] describes their relationship to Venkata, seems to have brought Venkatapati's administration into some little contempt, as the viceroys seemed to have pursued their own policies unmolested by the activity of the headquarters. It is in these circumstances that the chief factors of the East India Company with its chief factory at Armagam

1 See note 2 page XXXVII, English Factories in India, 1637–1641.

at the time obtained a charter, which gave them fort St. George and laid the foundations of the southern Presidency. Damerla Venkata, a viceroy with his headquarters at Wandiwash, was a ruler of a big province with a very large revenue. At the same time, he remained at headquarters and was directing the administration for the emperor. His province was actually managed, however, by his brother Ayyappa, who seems to have had for his government Poonamallee, 13 miles northwest of Madras, who carried on the administration of the province for his brother. It is these two that managed to obtain the grant of Fort St. George, which in the Company's correspondence is ascribed to the grant of Nayak Damerla Venkata. Naturally, therefore, when Venkata died childless, the brothers-in-law were not anxious that his nephew Sriranga should succeed. They seem to have ingratiated themselves with the other governors and brought about a possibility of united action in opposition to this succession. Venkata died in October of 1642, and after the delay of about a month or two, Sriranga succeeded to throne.[1] The discontent among the viceroys in regard to this succession showed itself immediately. The reason seems to have been that Sriranga somehow already showed himself to be a man who disapproved strongly of the policy of the *roi faineant* his predecessor and wanted to pursue a more vigorous policy by bringing about the active union of all the provinces of the empire under the lead of the emperor himself.[2] This was not exactly a mere personal predilection of the emperor. The circum-

1 *Eng.* Factories 1642-45 p. XXVI and p. 44.

2 *Ibid* and Nayak's of Madura L. S. Aiyar and S. K. Aiyangar. pp. 130 ff.

stances in A. D. 1642 actually demanded the pursuit of a more vigorous policy than that of the score of years previous. The definitive treaty between the Muhammadan states of the Dekhan and the Mughals set free the states of Bijapur and Golkonda on the northern side, and their intervention was sought no doubt against the Nayak of Ikkeri by Kantirava Narasa of Mysore. Bijapur showed itself quite ready to intervene in the affairs of the south. Either about that time or a little later, it seems to have been more or less as a direct result of the accession of Sri Ranga that Tirumal Nayak made a similar appeal to Golkonda for intervention. Tirumal Nayak's policy must have been directed by the movements of Mysore which, under Chamaraja, the predecessor of Kantirava, showed itself active in the extention of the Mysore territory into the viceroyalty of Channapatna, the next step in advance of Mysore would be into Kongu, directly meanacing the northern frontier of Madura. Whether this led Tirumala to bring about the invasion of Mysore soon after the succession of Kantirava Narasa of Mysore does not appear clear in our authorities. But that he pursued the policy of his predecesosr, of hostility to the empire and sought the intervention of Golkonda soon after the accession of Sri Ranga is fairly on record. Tirumal Nayak's effort to bring about the alliance of Jingee, Tanjore and Madura failed through Tanjore betraying the secret to the empire, and Tirumala looked for assistance to Golkonda and brought about an attack upon Vellore from the side of Golkonda. It is during this attack that Sivappa Nayaka, probably marched from Ikkeri to the assistance of the emperor and brought about the raising

of the siege by the Muhammadan army of Golkonda. It was then that Sriranga realised that he must somehow or other bring about the southern feudatories to a policy of loyalty to the empire. The accession of Sriranga naturally brought about the dismissal of the most powerful of the two brothers, Damerla Venkata from the position of authority. Damerala Venkata as early as December 1642, hardly two months after the succession of Sri Ranga, intrigued with Golkonda and was put under arrest by Sri Ranga's orders, but his powerful brother, Ayyappa brought about the united pressure from the northern and southern provinces in A. D. 1643, and the Company's records mention that Venkata was likely to be released on account of this pressure.[1] It was then that Sri Ranga sought the assistance, probably of Mysore, but certainly of Bijapur. Bijapur agreed and marched to his relief for a considera-tion of 150,000 Pagodas and 24 elephants.[2] It was about this time that the Company made the first move to get from Sri Ranga a confirmation of their charters. After this initial success against Golkonda and the machinations of Damerla Venkata, Sri Ranga found the time to undertake active operations against the rebel vassals of the south. There is a note in a letter of the Company's servants dated October 1645 that Sri Ranga had brought the enemies under control and had restored himhelf to his original position[3]. It was then that Greenhill's mission went to Vellore and obtained a charter for the grant of Fort St.George.[4] Mirjumla, nominally in behalf of Golkonda, was not

1 Eng, Factories 1642-45, p. 80.
2 *Ibid* p. III.
3 *Ibid*, p. 290,
4 *Ibid* p. 285.

likely to take his defeat quietly. We find him working with Bijapur as against Sri Ranga. He also made proposals to Kantirava Narasa of Mysore for assistance. We find a record again dated January 1646 that Sri Ranga was attacked by Golkonda and Bijapur. It was then that Mirjumla was able to take possession of Udayagiri, which was the capital of the eastern viceroyalty from Mallaiya, the successor in command in these parts of Damerla Venkata. The surrender of Udayagiri threw Mallaiya into disgrace and the change of command in the face of the enemy gave them the advantage. Golkanda and Bijapur now laid siege to Vellore together and defeated Sri Ranga Raya.[1] Mirjumla in consequence conquered all the districts and was within two days' march on Madras on his way to Jingee. There is a note dated October 1647 that the Company obtained a renewal of the grant from Mirjumla and that the Rayalu had fled the country[2]. Mirjumla marched upon Jingee. Tirumala Nayak came to the assistance of Jingee, having provided himself with the alliance of Bijapur. In front of the walls of Jingee, the Bijapur contingent went over to the side of Golkonda and Golkonda allowed the Bijapur troops to occupy Jingee. The Bijapur army mastered possession of Jingee and Tegnapatam near Cuddalore.[3] It was then that the Raja of the Karnatak, that is, Sri Ranga, found his position untenable and fled to Mysore, which was then at war with Bijapur. It was about this time that the activities of Mirjumla brought him into hostilities with Bijapur and a war broke out soon after the fall of Jingee possibly in the

1 *Ibid* p. XXV, and pp. 24-25.
2 *Ibid*, p. 166.
3 *Ibid* p. XXX and Eng. fact. 1651-54 p. XXV.

year A. D. 1651. The contest between the two lasted for some time and ultimately Mirjumla was able to enter into a treaty with Bijapur paying them six hundred thousand pagodas for the retention of his conquests made in the territories of Sri Ranga,[1] The war was apparently brought on for the division of the quarry. Bijapur in her turn now became very active, marched across and captured Penukonda and wanted permission to march on to Jingee through the territory belonging to Mirjumla. Mirjuma declined to let them have free passage through his territory and sought the assistance of Mysore and made actual overtures to the emperor Sri Ranga. This was in A. D. 1652.[2] The Bijapur army marched up to Vellore, took possession of it and left the emperor with Chandragiri for his capital and a few districts dependent thereon. This was before March A. D. 1653. Soon after followed the efforts of Mirjumla at independence, which Abdullah Kutub Shah long suspected. His efforts to bring his powerful lieutenant into loyalty threw him first into the hands of Bijapur and then into the hands of the Mughal chief, Aurangzeb actively operating in behalf of his father in the Dekhan at the time,[3]

Mirjumla got confirmation of his possession of the Karnatak from Shah Jahan and continued his trading activities in the region up to July A. D. 1656.[4] In November A. D. 1656, Sri Ranga had recovered a considerable part of his former possessions and was laying siege to Pulicat as against Mirjumla.[5] According to

---

1 *Ibid* vol. 1651-54, p. 99 and p. 111.
2 *Ibid* p. XXXIII.
3 *Ibid* p. *XXXIV.* and p. 290.
4 Ind. fact. No 55-60 p. 91
5 *Ibid* p. 97.

Dutch records of January A. D. 1657 Koneri Chetti who was entrusted with the operations in behalf of Sri Ranga betrayed him and made overtures to Tupakki Krishnappa, Mirjumla's lieutenant. This latter is said to have inflicted a defeat upon Sri Ranga in September of that year.[1] This brought about the siege of Madras in behalf of Mirjumla. Now that Mirjumla was in Agra, Golkonda began to take a strong line to assert its claims to what had become Mirjumla's territory. In August A. D. 1658, there was fighting between Tupakki Krishnappa and the Golkonda forces round Poonamallee.[2] Tupakki Krishnappa came to terms with Fort St. George in order to release himself from this. In the December of that year, Mirjumla's son Tapa demands restoration of Mirjumla's junk.[3]

In December A. D. 1659, Revington writing from Dandarajapur on the West Coast refers to Rustam-i-Zaman, Bulol Khan, Shahaji and Shivaji, as though all the four of them were Amirs of similar rank. It is also stated in the course of the letter that Shahaji was expected to march up from his government extending to Jingee with 17,000 troops in a month and overthrow the government of Ali Adil Shah who could put into the field only 10,000.[4] In a letter dated October A. D. 1661, Shahaji is referred to as the Bijapur general and his taking of Porto Novo from tha English is stated in clear terms.[5] Shahji's imprisonment and the treaty between Shivaji and Bijapur are under reference in a

1 *Ibid* pp. 97--99.
2 *Ibid* pp. 176.
3 *Ibid* p. 187.
4 *Ibid* pp. 250-57.
5 Ind. Fact. 1661-64, pp. 50-51

letter dated January A. D. 1663. In letters dated the 19th and 20th July A. D. 1663 Shahaji's position of influence with Bijapur is under reference. Bulol Khan is summoned to Court, but would not go unless Shahaji accompanied him. There is also a reference to a Bijapur invasion against "Snep-Nayak" (obviously standing for Shivappa Nayaka of Ikkeri) the Karnatak Raja, and brought him to a composition of 700,000 Pagodas.[1]

In the accounts so far given there is no reference to Shahaji in our sources relating to the history of Mysore. There is clear reference to Shahaji in the Company's records from the year A. D. 1657 onwards, that is, more or less after the disappearance of Mirjumla, from the scene of his activities in the Golkonda Karnatak. One may therefore be inclined to argue that Shahaji was playing but a very subordinate part all through, although the position that he is said to have occupied, in the Company's records after A. D. 1657, would give the clearest possible indication that he must have been occupying a position of some importance before that.

In this connection we shall have to consider the new light that is brought to bear upon the subject by Sir Jadunath Sarkar in the Modern Review for July 1929. Sir Jadunath claims here to have acquired two manuscripts relating to the reigns of the Bijapur Sultans, Muhammad Adil Shah, A. D. 1627-1656 and Ali Adil Shah II, A. D. 1657-1672. These are described by him as contemporary official histories, the first

1 *Ibid pp. 242-3.*

by Zahur bin Zahuri and the second by Nurullah. He also notes that these two sources were not available to the author of the *Busatin-us-salatin* written in 1824, and which " hitherto was our source of information for Bijapur history. " In the light of *these first-rate materials* and the annual Jesuit letters from Madura, it is now possible to trace step by step and in clear detail the story of *how the Muhammadans seized the heritage of the recently shattered empire of Vijayanagar* and crushed its numberless, disunited mutually jealous and warring Hindu feudatories, across the entire Indian peninsula from Goa to Madras. The Adíl Shah of Bijapur conquered what are called in Persian history " Malnad and Karnatak, " i. e., first the Kanara country of Bednur, then Mysore, starting from the Ikeri or Nagar district in the west, on to Sera and Bangalore in the centre, and the north Salem district in the south-east corner, and finally descending the Eastern Ghats the Madras plains up to Vellore, Jinjee and Waligaṇḍapurm within sight of Tanjore. The Qutb Shah of Golkonda seized the Hindu principalities due south and south-east of his capital, *i. e.*, the country beyond the Krishna, lying north-east of these new Bijapuri acquisitions. "

" Between these two streams of invasion, Sri Ranga Rayal, the last representative of Vijayangar royalty, was completely crushed out. He offered a long and despersate resistance. But his worst enemies were his own people. The insane pride, blind selfishness, disloyalty and mutual dissensions of his Hindu feudatories rendered all his efforts futile and the Muslims conquered Hindu Deccan piecemeal with the *greatest*

ease and rapidity. As the Jesuit missionary Antoine dè Proenza wrote from Trichinopoly (1659) : " The old kings of this country appear, by their jealousies and imprudent action, to invite the conquest of entire India by the Muslims. " (Mission du Madura iii. 42. ")

Before proceeding to exhibit the material, Prof. Sarkar indulges in a comparison of the overthrow of the Hindu kingdoms of the south and the Muslim conquests of Hindustan, and draws the conclusion that in the course of the years 1637–1664 *the extinction of Hindu rule in the south was brought*[1] about and this period corresponds exactly to the life of Shahaji as a servant of Bijapur. He lays himself out to point out that "the popular Maratha tradition that he was the leading general or conqueror of Mysore finds a complete refutation in the *authentic historical sources described above*. These sources prove that Shahaji was not the supreme army chief, *nor even the commander of an independent division*, but only one of the many Bijapuri generals *serving under the eyes and orders of the Muslim generalissimo*, throughout the conquest of Mysore, *and it was only very late in his life*, in the invasion of Tanjore in 1660–62 which was, however, followed not by annexation but by withdrawal, *that he rose to be second in command*. Then he proceeds to state categorically under six heads the invasions of this country and the results achieved by these invasions.

---

1 This is the obvious overstatement. Ikkeri was overthrown only by Haider Ali after his usurpation of Mysore which took place about a century later when Bijapur had long been out of existence. Tanjore continued till 1675. Madura continued to exist till 1739.

The campaigns of the years 1638–39 ended in the capture of all the territory up to Bangalore according to this account. Shahaji was placed in the fortress of Bangalore to carry on the government of the conquered parts, Rustam-i-Zaman himself proceeded to lay siege to Srirangapatam, which under Kantirai, (Kanthirava Narasa Raja Wodeyar) according to this account, submitted after a month's fight paying five lakhs of gold pieces. The learned historian next proceeds to state " when Rustam-i-Zaman returned from Mysore at the approach of the rainy season, Kenge Nayaka rebelled, and there was a general rising of the Hindu Rajahs throughout the Kanarese country against Bijapur. So, the war was renewed." Rustam-i-Zaman returned. Basvapatana belonging to Kenge Nayaka was taken after an elaborate siege, in which Shahaji played a part with Afzal Khan and other generals, while Rustam stayed in Basavapatana, Afzal Khan was ordered forward. He took Chik-Nayakan-halli and Bellur belonging to Venkatapati, and Tumkur. Rustam is next stated to have taken possession of Balapur (Ballapur) and Kulihal (Kunigal). That closes section I.

So in this official account no cause is given for the war and the Bijapur invasion is begun as if it came upon Mysore as a bolt from the blue. Historical events do not take place in that fashion, even where the Sultans of Bijapur and Golkonda were concerned. The Hindu accounts give it that the intervention of Bijapur was sought, and the invasion was actually undertaken therfor, nor could this court account be regarded as thoroughly historical. It was not such a beautifully unopposed march down to the walls of Jingee and as satisfactory a settlement. The fatal

weakness of the account is that it gives no explanation of the part that Kenge Nayaka, as he is called, played. He figures in the second campaign, without any mention of his name in the first. It is he that was the author of all the mischief, and the person concerned is not Kenge Nayaka, but Kenge Hanuma, the son of Kenge Nayaka. He invited the Bijapur army and brought about Bijapur intervention. The renewal of the Bijapur invasion was again caused, according to the Hindu accounts, because Kenge Hanuma who was placed in charge of the territory on the northern bank of the Kaveri as against Kantirava Narasa holding the territory south of the Kaveri, played false and brought on the invasion, this time perhaps by the incitement of Nagamangala Channyya, who had to go from his territory to Bijapur as a combined result of Mysore expansion and Hanuma's administration. The treaty that Kantirava Narasa entered into was only to gain time that Srirangapatam may be fortified and put in position for standing a siege. In this campaign, Shahaji is stated by this Court historian to have been placed in the fort of Bangalore, and given the charge of the district dependent on it for purposes of administration and to garrisoning, which perhaps would constitute something of an important position, of course, subordinate to that of the commander-in-chief, Randhoola Khan, as he is called in Hindu histories, sometimes also described as Khan-i-Khanan.

The next section, division IV of Sir Jadunath's article, simply says that the war was renewed in A. D. 1644. No reason for this renewal of the war seems called for, so far, at any rate as Sir Jadunath is concerned. The fort of Tikri, as it is called, is supposed to

have been taken and Sivappa Nayaka is stated to have wrested it from the Bijapur commander. The fort is not Tikri, but Ikkeri, the capital of the Nayaks of Bednur. The next commander that was despatched, Khan Muhammad, is said to have taken both Tikri and Sagar, four miles from it. The places ought to be Ikkeri and Sagar, which is actually placed between Ikkeri and Keladi, the two capitals of the Nayaks of the place. The following year Khan Mahammad is supposed to have marched into the Karnatak and gained a succession of victories until in A. D. 1646 he is said to have captured Nandiyal in the Kurnool District and eight other forts in that District. It is pointed out that in this campaign Shahaji played no part and did not deserve to be "mentioned in the despatches'." The campaign beginning with A. D. 1644 and ending with A. D. 1646 is given as a mere rhodomontade by this official historian. Apart from what we find in the Hindu accounts, we see in the Company's records that a great change was taking place. Early in the year A. D. 1643 the chief governor of the Vijayangar empire, Damerala Venkata was found intriguing with the Wazir of Golkonda, Mirjumla. He was promptly placed under arrest. His influential brother Ayyappa was raising forces against the emperor Sri Ranga with a view to campell him to release Venkata.[1] In the course of the year A. D. 1643, Sri Ranga obtained the assistance of Bijapur, and Bijapur undertook an invasion to assist him for a consideration of 15 lakhs of gold pieces ond 24 Elephants.[2] The campaign of A. D. 1644 began as a result of this agreement between the

---

1 Eng. Factories in India Vol. 1642-45 pp. 70 and 80.

2 *Ibid* p. 115.

Vijayanagar emperor, Sri Ranga, and the Bijapur Sultan and naturally therefore, the sphere of the campaign would extend to the region indicated in the official account. It shows the Bijapur activity not only in the Shimoga District but along the whole frontier eastwards into the Kurnool District, the territory undoubtedly of Golkonda under Mirjumla's actual administration. This would be inexplicable notwithstanding the first-rate importance of the Court historian unless it was a war undertaken by Bijapur against Golkonda as well. Golkonda's intervention was naturally sought by Venkata's brother Ayyappa. In A. D. 1644 under pressure of this joint effort Sri Ranga was compelled to restore Demerla Venkata to his freedom, and apparently not to his former position, Mallyya taking his place. Mallyya in his turn captured Dutch goods and pressed them hard at Pulicat, but fell into disgrace by surrendering Udayagiri to Mirjumla[1]. It was during this period of restoration of Sri Ranga that the East India Company's factors in Madras obtained a renewal of the grant from him[2].

The next campaign, according to this account is that of A. D. 1646, when the prime minister of Bijapur Mustapha Khan led the expedition. He is taken again in glorious career across the whole territory. But unfortunately the details given of the campaign give the lie direct to this glorious success. Asaf Khan and Shahaji had been ordered, ahead, it is said, "for the defence of the Karnatak frontier." Why ? No explanation is given.

---

1 *Ibid* p. 154–56.

2 *Ibid* p. 285.

The march next was to Sakapatana. Sivappa Nayaka and a number of others are supposed to have joined the expedition. He marched as far as Sivaganga in the Tumkur District, where he is said to have received the envoy of Sri Ranga Rayulu of Vellore. There is a note in the Company's records that before January 21, A. D. 1646 Sri Ranga Rayulu was attacked by the combined armies of Bijapur and Golkonda,[3] which would mean that after the previous campaign in which Bijapur assisted. Sri Ranga, they changed front and joined Mirjumla. It is in the course of the operations connected with this joint attack that Mallyya surrendered Udayagiri, as it was thought, too readily and fell into disgrace. That was in the February of A. D. 1646. The combined armies were able to inflict a defeat upon Sri Ranga Rayulu in Vellore. This is apparently what is referred to in the offical account where the ambassadors of Sri Ranga Rayulu are said to have waited upon Mustapha Khan. The Rayulu apparently made an effort to detach Bijapur from allying with Golkonda. The three rebel Nayaks of the south, viz., those of Jingee, Tanjore and Madura, who were apparently unfriendly to the succession of Sri Ranga, and were consequently illaffected towards him if not positively disaffected, countenanced the rebellion of the influential brothers, Damerla Venkata and Ayyappa. Sri Ranga Rayulu's efforts all along were to bring them to reason and to loyalty. He had not as yet succeeded. It is likely that ambassadors from them also met Mustapha Khan at Shivaganga. What is said in this Court history is inexplicable unless these details from

---

3 *Ibid* Vol. 1646–50 pp. 24–25.

other sources are put in their setting. Mustapha Khan refused to be dissuaded from his enterprise on account of these three Nayaks and would not stop till he heard that the Rayulu's projected invasion was given up. There is a note in the Company's records dated 1st October A. D. 1645 that Sri Ranga Rayulu had obtained a distint success against the southern rebels, who were compelled into some kind of submission.[1] It is subsequently to that that this mission to Mustapha Khan must have taken place. The Rayulu's ambassador was sent back with Mulla Ahmad to get the Rayulu to agree to this. Mustapha waited at the head of a pass 28 miles from Vellore. The information is added here that Mustapha's original idea was to detain the Hindu ambassador and send Mulla Ahmad alone. Shahaji is said to have persuaded him in the belief that he had obtained promise of loyalty from the Brahman envoy. The pass here referred to must have been the Nayakamere Pass, which leads from the present-day Chittoor District into Gudiyatam. The ambassador is said to have gone and advised Sri Rang Rayal to attack Mustapha and his army at the pass. Mustapha wanted to make a detour into the territory of Jagadeva Rayal, that is, the Baramahals of the Salem District by what is called *Kanvi Pass*. There is no Kanvi Pass. *Kanavee means Pass in Kanarese*. Instead of decending into the basin of the Palar, which apparently was opposed in force by Sri Ranga Rayal, Mustapha wanted to make a detour into the Salem District and perhaps coming the other way round to take the Rayalu in the rear. There again he was attacked by the armies of Sri Ranga Rayal. The

1 *Ibid* Vol. 1642–45, p. 290.

Rayulu himself advanced against the main line and attacked the division left there under Shahaji and Asad Khan. Asad Khan is said to have been away from his command leaving it to his Dewan, so that Shahaji commanded the forces alone. After a bloody fight, the Rayulu's troops were hurled back and a victory was won. All the same, the army is said to have marched through the Baramahal by way of Ankusagiri to Krishnadurgh,, which must be the present-day Krishnagiri, sometimes called Krishnagiri Durga. Then taking Virabhadra Durga, the capital of that reign, the army is said to have marched across and descended into the Palar basin. From this account, it is clear that Shahaji's victory notwithstanding the army was not able to take the direct line to Gudiyatam, but had to make a detour, which discounts the victory considerably.

The next section of Sir Jadunath's historians speaks of the Bijapur army marching by way of Anandabad, Amaravati, and Gudiyatam and reaching what is called Urangpur. This is not Daranchur as suggested, but Vrinchipuram, the capital, in the days of the Hindus, of the Bana country in the Palar valley. After giving his army some little rest, Mustapha Khan arrived ultimately in front of the walls of Vellore. In the battle that followed, the Rayulu's general was defeated, Vellore was besieged and ultimately the Rayulu submitted and agreed to pay 50 lakhs of gold pieces and 150 elephants as indemnity. After a month's halt at Vellore, Mustapha is said to have returned with his army by the same way by which he entered the country of Vellore. In this decisive battle of the war, Shahaji is said to have commanded along with a certain number of other Hindu officers the right wing of the Bijapuri army, and when

Mustapha returned to Bijapur, Asad Khan and Shahaji with many other offcers were left behind to hold the the conquered country. Here again there is a very significant omission, without which the position is difficult to appreciate. The part that was taken in this campaign by the Golkonda troops is conspicuous by its omission notwithstanding the fact that these are official historians, who have had access presumably to the despatches and other official documents. There is a note in the company's records that bear the date 21st January A. D. 1646 that Sri Ranga was attacked by Golkonda and Bijapur. Mallyya played the craven and surrendered Udayagiri on the 9th February A. D. 1646.[1] The Rayalu's defeat at Vellore is mentioned and significantly enough, it is added that the rebel Nayaks returned to their allegiance. This looks rather unlike the complete conquest of Vellore and the territory dependent thereon by Mustapha Khan, the general of Bijapur. We have another note dated January A. D. 1647 that Mirjumla's agents were active on the eastern side, took the Dutch settlement at Pulicat and were marching towards San Thome reaching to within two days' march of the Rayulu's forces.[2] It was this march of the Golkonda troops that demoralised the Rayulu's Diwan and made his own position untenable in Vellore. He had to fly for the time being for safety and spent some time on the forest frontiers of the Tanjore Nayak's territories, the regions of Ariyalur, Udayarpalayam, etc. on the banks of the Coleroon. In October A. D. 1647 the East India Company's factors at Fort St. George felt that the territory had become

1 *Ibid* Vol. 1646–50 *p. XXV* and p. 24–25.
2 *Ibid* p. 70.

so far Mirjumla's that they obtained from him a renewal of the charter[1] that was first granted by Venkatapati Rayal in A. D. 1639 and was renewed by Sri Ranga in A. D. 1645.

The next section deals with the last of the greatest campaigns of Mustapha Khan when he marches towards Jingee, and an invasion started in January A. D. 1648. Why they should have marched against Jingee and undertaken this invasion is not explained as usual. Tirumal Nayak of Madura finding his schemes not prospering by themselves seems to have worked to bring about the united action of the three Nayaks of the south, as before, making an effort this time to bespeak the sympathy and active good offices of Mirjumla in their cause. The Tanjore Nayak betrayed the scheme by divulging it to the emperor. Thus baulkeded he succeeded in bringing about an invasion of Golkonda of the Rayulu's territory. Having effected a considerable success, as indicated by the Company's records already quoted, Mirjumla marched south and laid siege to Jingee. He sought the good offices of Bijapur and obtained its co-operation. When Jingee was thus attacked by the victorious Golkonda troops, whom Tirumal Nayak regarded as his allies, Tirumal Nayak changed front and came up in force for the assistance of the Nayak of Jingee. The siege by the combined Muhammdan troops seemed not to prosper particularly and Tirumal Nayak was almost near getting the siege raised, when the Golkonda troops left. Seeing that it would require a far longer exertion, Mirjumla left the siege to be conducted by the Bijapur troops.[2] These succeeded in putting a

1 *Ibid* p. 166.

2 See Nayaks of Madura, the part relating to Tirumal Nayak's reign.

garrison into the fort of Jingee. Mustapha Khan, here according to this official account, is brought into the walls of Jingee, which offered to surrender "except of course for the disobedience of his chief subordinates like Siddi Raihan and Shahaji." Shahaji was put into fetters and brought back to Bijapur. Mustapha Khan died on the way, and the command passed on to Khan Mahammad. Shahaji is said to have been brought in fetters to Bijapur where the Sultan set him free after negotiating with him for the surrender of the fortress of Kondana, a fortress in the Mahratta country, Bengalore and a place called Kandari in the Bellary District, restoring him to all his honours and offices. According to the Court historian, the Sultan summoned Shahaji to his presence "giving him the robe of minister, and settled his former lands on him again." In these authentic sources, there is no other mention of Shahaji, and Sir Jadunath concludes the section that the gap in our knowledge from A. D. 1649 onwards in regard to Shahaji's doings can but be inadequately filled by reference to Jesuit letters.

The section which relates to the other sources of authority, namely, the letters of Abdullah Qutub Shah really gives some valuable information as to the character of the changes that took place in the kaleidoscopic arrangements and re-arrangements of the forces of the Karnatak. It refers to the agreement between the two Muhammadan Sultans in regard to the division of the territory of the Rayal, Bijapur being given two-thirds and Golkonda retaining a third. Qutub Shah complained that the Adil Shah had broken the agreement and attempted to retain more than his share, whereas the Muhammad nama, one of the Court chronicles, already

refered to, states " that the ungrateful Abdullah–whose forces had been defeated by the Rayal, and who could not have won an inch of the Karnatak without Bijapuri support–had formed a secret alliance with the infidel, i. e. the Rayal, and sent his general Mirjumla to assist the Hindus in the defence of Jingee, but that Mirjumla arrived too late. He was subsequantly defeated by another quarter by the Bijapur general, Baji Ghorapare. " On the authority of a letter written by Abdullah Qutub Shah to his agent in Bijapur of a date corresponding to December 23, A. D. 1647, according to Sir Jadudath, reference is made to a petition from Shahaji Bhonsle begging to be taken into the Qutub Shah's service. The Qutub Shah is said therein to have repeatedly rejected Shahaji's prayer and advised him to serve the Adil Shah. Another Hindu Raja is supposed to have done so, whose name however, could not be made out clearly. Shahaji's arrest by Bijapur is generally ascribed to this attempt on his part to prove traitor to Bijapur. The story of this arrest is given entirely differently in Mahratta sources of history, but the cause may have been perhaps to some extent what it is stated to be here. But even so, it would be rather difficult to accept it altogether as correct without confirmation in the face of the contradiction in Mahratta sources. The fact that Shahaji was let off by the Bijapur monarch and his Court so easily, according to the Court chroniclers, would go a long way to show that perhaps this statement is not exactly all the truth.

The account, which is by no means friendly to Shahaji, of these Muhammadan historians make it abundantly clear, Sir Jadunath's verdict notwithstanding, that from the commencement fo his career in the Karnatak

Shahaji had occupied a position of importance. The first general under whom he had to serve, Ranadhoola Khan,'or as he is called Khan-i-Zaman seems to have been particularly friendly to him, and this very chronicle itself admits that he was appointed to the charge of Bangolare when it was first conquered. It is no where stated in thr chronicle itself, or anywhere else that it was taken away from him, till after his treason so-called. As a matter of fact, he seems to have continued to govern those parts of the conquered Chanapatna viceroyalty, but shifted his government from Bangalore to Chikbalapur and Kolar as his headquarters with Nandi as his summer residence. There are vestiges of his own work in the fortifications and other structures, which bear witness to his occupation of the place. The fact that the Mysore ruler, Chikkadevaraja Wodeyar ultimately effected the purchase of Bangalore from Ecoji, Shahaji's son in A. D. 1684 would go to show that the family retained possession of Bangalore, notwithstanding the statement in the chronicles that Bangalore was one of the three forts that Shahaji was to surrender as a price for his release by the Sultan of Bijapur. His treason with Golkonda and his arrest consequent thereon are not mentioned in the correspondence of the Company's servants who were likely lo have heard about it, as, in their own particular interest; they kept their eyes and ears open for all possibilities of changes of fortune of the important personalities concerned in the administration of the territory. The fact that Shahaji occupied the position of the leader of the campaign against Tanjore and the southern viceroyalties Mulla Mahamad, called Mula in the Jesuit letters, going as second in command only would go to show

that he retained the important position with which he was entrusted at the very commencement of the Bijapur invasion of the south. The important position that he occupied is vouched for by letters of the factors of the East India Company, in Madras and the letter of Revington in connection with Dandarajapuri on the Bijapur coast. But the Mahratta tradition, that Sir Jadunath lays aside almost with contempt, claims absolutely nothing more than that he occupied a position of confidence under the commander-in-chief. It was he that entrusted Shahaji with the administration of the great territory which ultimately was confirmed by the Sultan himself, and it was retained by Shahaji even when his patron Rustam-i-Zaman had fallen into disgrace and lived away from court. The Siva Bharata, says in a summary fashion much like the account of the court chroniclers, on which Sir Jadunath placed such high value, " afterwards along wfth the commander-in-chief, this great man, the strong-armed, mighty one, reached the Karnataka Mandala; he conquered successfully the ruler of Bindupur (Bednur) by name Virabhadra, the strong one. He also conquered the well-known Kenge Nayaka, the ruler of Vrishapattana (Basavapatan); the ruler of Kaveripattinam, the strong-armed Jagadeva; he likewise conquered the cruel Kantīrava, ruler of Srirangapattana. Then he overthrew the brave Vijayaraghav, the lord of Tanjore, as also the master of Jinjee, the great Venkata Nayaka. He followed with the overthrow of Tirumala Nayaka, the lord of Madura. Then follows the ruler of Piluganda by name, Venkata Nayaka, and then follows the brave Sri Ranga Raja, ruler of Vidyanagara (Vijayanagara), then the well-known Tamme Gauda of Hamsakootapura, in this

manner bringing under his control these and other kings. Raja *Shahaji made the commander-in-chief Ranadhoola delighted with his achievement.*" Then follows the statement in 2 *Slokas* that after a continuous fight for days and nights, "he took the delightful place, Bangalore, from Kempe Gauda, who delighted in war, which was presented to him for his own maintenance by the delighted Ranadhoola Khan. He, the victorious one (Shahaji) resided in the city called Bangalore." This is a literal rendering of *Slokas* 37 to 44 of adhyaya IX of Siva Bharata, a work composed, poetically of course, in the lifetime of Shivaji himself. This is confirmed by an account compiled in Tanjore in the days of Raja Sarfoji by his *Chitnis* in the Saka year 1725, Rudrodgari, month Chaitra, corresponding, as it is given there, to the Christian year A. D. 1803, March 25th. The account begins with a chronological discrepancy in this particular context where it says that he was despatched on this mission by Ali Adil Shah, whereas the invasion actually started under Muhammad Adil Shah years earlier. The object of the invasion is given as an effort to bring under Bijapur control those feudatories and states of the south which were likely to become friends with Aurangazeb, who was operating in the Dekhan, and whose attitude towards the southern states of Bijapur and Golkonda was anything but friendly. Here again the account says that "Shahaji went on the southern invasion with Ranadhoola Khan sent by Adil Shah. The rulers that he conquered in the south are given as the Raja of Bednur, Virabhadra Nayaka; Kenge Nayaka, ruler of Kongu; which may be an error, a copyist's error, for Kenge Nayaka of the territory of Kenge, Kenge being the place of birth of the ruler; Jagadeva Raya of

Kaveripattinam, Kanthirava of Srirangapatam, Vijayaraghava of Tanjore, Venkata Nayaka of Jingee, Rangasayi Nayaka of Vidyanagar, another form of the name Ranga Rayal, Tirumala Nayaka of Madura, Harikara Venkata Nayak of Valikondapuram, Danakoti Nayaka of Hamsakoota." Pleased with all these conquests, Ali Adil Shah is stated to have given to Shahaji the territory of Bangalore for his personal expenses. "Being pleased with the sight of Bangalore, the security of its fortress, and the salubrity of its climate, Shahaji made up his mind to fix his headquarters there." There is one of the Mackenzie Manuscripts noted by Wilson in volvme II page XLIV, which purports to be a geneological account of the Bhonsle Rajas of Tanjore. The claim advanced in favour of Shahaji here may be over-pitched to some extent. The account leaves many details to be filled in, and in that particular respect is not much worse than the Court chronicles so much valued by Sir Jadunath. In this case as in the other, historical research consists in exploiting all possible sources of information for obtaining the details of a reliable character to fill in the gaps, and work out a reasonable reliable account of the actual facts of the position. The mere issue of a testimonial that a certain record, or sets of records, is authentic and genuine because of some features of its character, viz., that it was an official account, that it was compiled in court, or that it is in a particular language will hardly constitute research work; nor will such contribute to the discovery of historical truth. The first account given above here is substantially the same as that given in our Ancient India published in 1911, but the particular thesis, published so long ago as 1900 actually, contains

the material taken from the works of a writer who was contemporary with Chikkadeva Raja Wodeyar, who followed not many years (a little over ten years) after the death of Kantthirava Narasa, who figures in these campaigns. The author was a playfellow and companion at school of the ruler, Chikkadeva Raja, and ultimately became his minister. He composed a work in poetry, Chikkadeva Raja Vijayam, in epic form, as also a prose work, Chikkadeva Raja Vamsāvali cast more in the form of history. Along with that is compared such information as the late compilation issued by the palace and referred to as the Palace History. It is mainly based on the second of the works above referred to and such other historical manuscripts as were available at the time before the whole library was burnt in a fire accident. The third source of information utilised is Wilks, who had access to sources such as Grant Duff had for the History of the Mahrattas; but, as in the other case, all of his sources are not at present available. The account was actually compiled for Wilks by a Hindu Brahman by name Nagar Puttaiya Pandit who occupied a high place in the Secretariat, and who exploited all the records in the archives at Srirangapattam to compile an account therefrom. Since then certain other Kanarese and Sanskrit sources have become available and Mr. N. Subba Rao, a research student working on the subject at the Mysore University utilises these, particularly the Kanarese sources. As far as I have been enabled to see these as exhibited by him in the columns of the Modern Review, they go merely to confirm the details actually given in Ancient India, which may call for modification of a detail here and a detail there. Historical

research consists really in the study of these various sources, estimating their historical value each by its real worth and combining the genuine results of historical criticism of all the sources for compiling a reasonable account of what actually took place.

We have the unrivalled means for doing this in the details that lie scattered in the correspondence of the Company's servants written from all over the Dekhan to their masters at home, English, Dutch and even Portuguese to some extent. The English records have been made available in ten volumes by the indefatiguable energy of William Foster, and the details that are contained there are not history by design. They are incidental references to the state of affairs of the territory surrounding the factories where their commercial operations put them. Their commercial interests required that they should note carefully the smallest changes in the rapidly changing times in order to safeguard their interests and their money to promote their trade and earn profits therefrom. They were not particularly concerned with furthering one party or condemning another. They had their own personal preferences and personal predilections which sometimes showed themselves, but generally they were mainly concerned with noting these as accurately as was humanly possible with a view to plying their trade safely and profiting by their business.

Judged by the combined results of all these sources of history, Shahaji the Mahratta appears as a man of ability, both as a warrior and as an administrator. He played first an important part in the conquests of the various petty states of the Karnatak for Bijapur.

Slowly but surely he was able to build from out of these conquests a pretty big government for himself certainly under the authority of his masters at Bijapur to begin with, but gradually to become more or less entirely his own in the inefficiency and division of interests that were the bane later of Bijapur history, with the Democles' sword of Mughal conquest hanging over the head of Bijapur. It is just possible, although it is not yet satisfactorily established, that he showed himself friendly to the interests of Sri Ranga Rayal once and that he tried to enter the service of the Qutub Shah another time. Shahaji was not the only man that was guilty of such charges. It seems to have been quite common at the time. The supreme example of Mirjumla in the same region offers an illuminating comparison. The position of Rustam-i-Zaman and Bulol Khan of Bijapur came very near. None the less, it would constitute treason notwithstanding the fact that such treason was in the air. The officers to whom Sri Ranga Rayal entrusted his affairs behaved no less badly in regard to this matter but that would not justify an act of treason morally; and moral justification or otherwise is not the function of the historian. When Bijapur fell, Shahaji's work was visible in the existence of the Maharatta state in the south nominally called Tanjore, but extending far into the plateau and constituting a comparatively large bit of the Karnatak. Shivaji had been only a feudatory of Bijapur so far as the territory in the Mahratta country was concerned, in spite of the fact that he made himself quite as independent as his father. The southern portion of his father's territory seemed to him more justifiably independent and could perhaps enable him to set up as a successor to the now vanished empire of Vijiya-

nagar with Sri Ranga Rayal, the last of its rulers. Shahaji therefore is entitled to be regarded as the founder of the Maharatta dominion in the south, which survived a number of generations after him before it reached complete extinction.

SOME NEW MANUSCRIPTS ABOUT SHIVAJI

By V. R. Ramchandra Dikshitar, Madras.

Summary :—

The author on the strength of some of the MSS. in the Tanjore library (referred to in the article by Mr. Sastry, pp. 1-31) discusses (1) the Kshatriya origin of Shivaji, (2) his character and characteristics and (3) his literacy or learning as he terms it. The author declares that in getting himself crowned, Shivaji simply followed the ancient Kshatriya tradition when he performed the ceremony with the help of shrotrīyas of distinction, such as Gagabhatta. "The real significance of the Gagabhatta episode has been left out of account by historians of Shivaji and a distorted interpretation that Shivaji, a plebian was promoted to the rank of a Kshatriya by an ambitious Brahman is given instead, with no authority to support such a statement.

From an old list of Shivaji's merits the author ascribes several important virtues to Shivaji and from two among them वरद्कावितारशक्ति and वि:पन्नता proceeds to

make statement about his learning and refutes Sir J. Sarkar's theory that Shivaji was unlettered and uneducated. Even from evidence from the enemy's camp (i. e. Khafikhan) Shivaji was never deliberately or wantonly cruel and it is a mistake to speak of Shivaji as an assassin and a freebooter. His heart ever burned with enthusiasm for active work combined with an intensely religious zeal.

It was by his order that Raghunath Pandita, son of Narayan, composed a work entitled Rajakosha Nighantu (Amarnath Records). It contains a list of synonymns of the King and things relating to King etc. in Sanskrit, Marathi, Telegu and Hindustani. There are given particulars as regards the 139 forts captured by Shivaji from a list from an old MS. book.

There is also given a short but thrilling account of Shivaji's attainments from a Sanskrit Manuscript in the Tanjore palace library entitled *Sahendra Vilasam.*

HISTORY IN MUHAMMAD NAMA

BY

PROF. BHAGWAT DAYAL VERMA, M. A., M. F., A. F.

PREFACE

The only book on the history of the 'Adil Shahi dynasty of Bijapur, which has held the ground yet is the *Basātin-us-Salātin* by Muhammad Ibrahim Zubairi which was written in 1824 with the help of, as he states in his book on p. 4, some sheets of paper written by Shaikh Abul Hasan and Ibrahim Asad Khāni etc.

'*Muhammad Nama*' is a contemporary history and it served as a source to Md. Ibrahim Zubairi although he did not know or acknowledge it.

In writing this article I have tried to give the full English translation of all the passages in *M. N.* which are of any historical importance. I have closely followed the order of events given in the original MS. I have added for the elucidation of several points, some relevant references from the histories dealing with South India. This is why some long extracts have been inserted here and there.

The space at my disposal was comparatively small and so all the sources could not be utilised here fully; and I was obliged to use abbreviations instead of the full titles of the books and some proper names and the foot-note-system also had to be dropped in despair in many places to expediate printing for which I beg the indulgence of the readers.

Both the Hijrī and the Christian years have been given side by side for facilitating reference.

I have been blessed with a friend without whose help and guidance I could not have done even so much. His saintly nature does not allow me to express my formal thanks to him in so many words; "let sacred silence meditate upon that sacred name."

I express my hearty thanks to Sir Jadunath Sarkar, who very kindly lent me his manuscript and thus gave me the chance of producing this article. My thanks are also due to the members of the committee in charge of the "Shivaji Tercentenary Memorial Series" for encouraging me in every possible manner.

Fergusson College, Poona.
Shiva-ratri, 26-2-1930. } **B. D. Verma** (Saksena).

ABBREVIATIONS

Af. K.= Afzal Khan, Muhammad Shāhi.
B. N. = *Badshah Nama* by Abdul Hamid Lahori. Bib. Indi. Series, *Calcutta*.
B. S. = *Basātin -u's-Salātin* by Muhammad Ibrahim Zubairi; lithographed edition, Hyderabad,
f. = Fort.
H. K. = *Haft Kursi* by Asad Khan Lāri. I. O. L. MS.
H. N. M. = *History of the Nayaks of Madura*; ed. S. Krishnaswami Aiyangar.
King = Muhammad Adil Shah.
Md. = Muhammad.
M. L. = *Muntakhab-u'l. Lubāb*, by Khafi Khan.
M. N. = Muhammad Nama.
M. K.= Mustafā Khan, Nawab.
R. K. = Randaula Khan.
R. Z. = Rustam-i-Zaman, title of Randaula Khan.
Sh. B. = *Shiva Bhārat* by Parmanand, in Sanskrit.

INTRODUCTION

Muhammad Nama is a history, in Persian, of the reign of Muhammad Adil Shah, King of Bijapur, who reigned from 1627 to 1656 A. D. About this history Mirza Ibrahim Zubairi, the author of the *Basātin-u's Salātin*, wrote a century ago that 'it was rare and might be unavailable. But fortunately one copy of the *M. N.* has been discovered by the great historian Sir Jadunath Sarkar in the Kapurthala Library.

The *M. N.* bears a colophon stating that 'this manuscript was finished on the 24th day of the month of Rabi-u's-Sāni, of the 24th year of the accession of King Shah 'Alam, on the third day after the event of the death of Zulfiqar-ud-Daula Mirza Najaf Khan Bahadur, who was the Bakhshi-ul-Mulk and the Mukhtar-i-Mahamm-i-Saltanat wa Wizarat. It was copied by Nek Chand Kāyeth Bhatnagar of Panipat, whose *nom-de-plume* was *Haqir*." The death of Mirza Najaf Khan occured in April 1782 which coincides with the 24th year of the accession of King Shah Alam II (A. D. 1759–1826). Mr. W. Francklin, in his book, does not give the date and day of the death of Mirza Najaf Khan, and incidentally this colophon provides us with the means of ascertaining them.[1] I have not been able to find any account of the copyist, Nek Chand, but the fact, the year, the titles of the famous Prime Minister[2] of Shah Alam I, mentioned in the colophon leave no shadow of doubt as to the authenticity of the manuscript.

---

1 '*History of the Reign of Shah 'Alam*' by W. Francklin p. 94.

2 The titles of Mirza Najaf Khan are given on pages 49, 66 and 91 of the book mentioned above.

Sir Jadunath Sarkar has got a copy of that manuscript with him and he had very kindly lent it to me. The MS. is a voluminous one: that of the Kapurthala Library has 490 pages and Prof. Sarkar's 470. I have been able to take down almost all the historical facts given therein, omitting the poems and the poetic descriptions of the battles, pilgrimages and marriages which do not possess a single idea of any historical importance. They are merely the florid expression, in the oriental style, of the flights of the imagination of a poet, whose prose savours of the affectation of poetry, and who was the son of a very verbose poet. The author, Zahūr, was the son of Zahūri, the poet laureate of the court of King Ibrahim 'Adil Shah II. The father and the son served the King and the prince respectively.

MUHAMMAD NAMA AND BASATIN-U'S. SALATIN

Although the author of the *B. S.* wrote on p. 4 that "in spite of a search I have not seen the *Muhammad Nama* as yet," He added:

"But some pieces of papers, containing the accounts and the events of the past, which were in the form of the rough notes, scattered, loose and unarranged, were lying with me. Some of them were written by Shaykh Abul Hasan and others by Ibrahim Asad Khani, etc. etc."

Now that the *M. N.* is before us, we are in a position to decide whether or not the *M. N.* was one of the sources of the *B. S.* By comparison, in many places, I have found out that the *B. S.* is a faithful copy, word for word, of the *M. N.*

For the examples, the reader is referred to my article " Muhammad Nama and Basātin-u's-Salātin, " published in the B. I. S. M. Quarterly, Vol. X, No. 1.

Most of the facts are the same in both the books, verbatim, but where the *M. N.* writes a simple phrase the *B. S.* expresses the idea with all its circumstances in a high flown language. In fine, both the books supplement and complement each other.

Md. Adil Shah was fortunate enough in securing peace on the norther frontiers with the Mughals which lasted for the last 20 years of his reign. Thus he could get time to send yearly expeditions to the South which brought him much wealth. This he utilised in erecting magnificent buildings, the greatest and the strongest of which is the Gol Gumbaz—one of the most wonderful buildings of the world.

The greatest blunder committed in his reign was that he did not fortify his kingdom against the inroads of the Mughals with whom he stood face to face on the frontier; and who could overrun his country at any time at their sweet will; and that he gave the colour of *Jihād* (a religious war against the non-muslims) to the conquests of South India, which was quite contrary to the wise policy of his illustrious father, Md. Ibrahim Adil Shah II. He, thus, sowed the seed of the wreck and ruin of the Adil Shahi empire and forged a link of the chain which finally fettered the last king of the dynasty, Sikandar Adil Shah.

The chief features of the *M. N.* are that it gives the dates of the social functions, the marriages, the yearly pilgrimages ('*Urs*) in some of which Zahur himself was present and the building of important palaces, which is not given in the *B. S.* and which will throw a

flood of light on the social history of Bijapur under the Adil Shahis. The *M. N.* possesses many literary merits as Zahur tried to rival with Abul Fazl in his style, who is the famous historian of the reign of Akbar the Great.

Then the *M. N.* has given a detailed account of the conquests of Randaula and Nawab Mustafa Khan in the Karnatak and Malnad, giving the names of many forts which have not been referred to by the *B. S.*

In conclusion, it may be noted that the *M. N.* will prove to be an important addition to the historical accounts of the Adil Shahis, Shahaji, the father of the great Maratha hero, Shivaji and the Nāyaks of the South India.

B. D. Verma (Saksena).

CHAPTER I

Early years of the reign

1. Birth and Accession :— King Muhammad Adil Shah, the greatest and the most glorious king of Bijapur, was born in Nauraspur in the month of Zhi Qadeh on Sunday night of the year A. H. 1022, (December 1613 A. D.)[1] The exact date is not given.

---

1 Usually the birthday-celebrations were held on the 1st Zil-Qa'ad but in one place it is mentioned that Md. Adil Shah went for a pilgrimage in 1055 A. H. on the 5th Zilqad and in the way he celebrated his birth day. By referring to the Calendar I found that 9th Zilqad of 1022 A. H. was Saturday i. e. Sunday night, because the day was counted from the evening, so I put the date of birth as Sunday night 10th Zilqad 1022 A. H. (11th December 1613 A. D.). *B. S. p. 344*, gives the date of death as the year 1067 A. H. on 28th Muharram, Tuesday, (25th November 1656) at the age of 47, which brings the year of birth down to 1020 A. H. *H. K.* p. 83 gives : Md. Adil Shah reigned for 30 years and 15 days.

The *Basātin-u's-Salātin* and *Haft Kursi* are silent on this point. A lady, Kishwar Jān *alias* Jiji Mān, was selected to work as nurse. The mother of Ibrahim Adil Shah II also was alive at that time and was called 'Bari Sāhebā'. At such a happy and auspicious time presents were received from distant places.

Ibrahim Adil Shah II fell seriously ill and as he loved Muhammad Adil Shah most, so he instructed Khawas Khan and Mirza Md. Amin to install him on the throne after his death.

The *B.S.* adds that he was treated by an European doctor, named Farmalobe, but the *M. N.* does not refer to it. He died on Wednesday, the 11th Muharram, A. H. 1037 (12th Sept. 1627) and was buried in Zuhrāpur.[1] Muhammad Adil Shah ascended the throne on the same day after two hours and a half.[2] The *B. S.* gives the chronogram *Kishwar Sitān* for the year of accession.[3] Daulat Khan and Mirza Md. Amīn Lārī helped him to come to the throne and were rewarded with the titles of "Khawās Khan" and "Mustafa Khan" respectively. Asad Khan Lārī in the *Haft Kursi* affirms that Muhammad Adil Shah was only 16 when he ascended the throne.

2. **War with Nizam Shah** :--In the first year of the reign Nizam Shah, with the intention of taking back

---

1 Zahur uses the epithet, '*Shah-i Firdaus Bargah*' i. e. 'the King whose court is, in the paradise, for the King Ibrahim Adil Shah II, and *Tajul-Mukha dirat* i. e. the crown of the veiled ones, for his queen, the mother of Md. Adil Shah.

2 The *M. N.* gives wrong years of the death (1027) and accession (1070). But these appear to be the mistakes of the copyist.

The B. S. gives the correct dates,--of death on p. 282, and of accession on p. 284.

3. The word "*Kishwar Sitan*" gives 1037 by the *abjad* system. 20 : 300 + 6 + 200 + 60 + 400 + 1 + 50 = 1037. (3) The *Haft Kursi*, p. 52.

his own territory[1] attacked the Bijapur kingdom, so a battle was fought at Kabas Darur (Kayj Dharur)[2] and the Nizam Shahi army was routed. But after a short time the Nizam Shahis came out of the ambush, pounced upon the Bijapuris and carried away Sa'ādat Khan and E'atemad Khan but treated them well.

After some time the Nizam Shahis appointed Hamīd Khan, who was once in the service of the Bijapuris, as the commander-in-chief. He came straight to Muhammadpur, unhindered, and encamped at the gate of Bahman Halli (on the north). Md. 'Adil Shah met them at the battle-field of Kudri Kannoor and again defeated them. But they attacked at night and carried away Ikhlas Khan with them, and in the morning Nizam Shahis were seen no more.[3]

3. **Revolt of Kadam Rao**:—When four months elapsed after this event,[4] Kadam Rao Nāyakwāri revolted, in the fort of Bankāpur and imprisoned the son of Mir 'Ali Reza who was working as *havaldar* in the absence of his father. Mir 'Ali Reza was called back from the conquest of Malnād and sent against him. The siege of Bankāpur lasted for twelve months and then on the 10th Rabi-u'l-awwal, 1038 (28th, October 1628) Kadam Rao was killed.[5]

---

1 The *B. S.* p. 284. 'Abdulhamid in the *Badshah Nama* I, P. 382, writes, " Adil Khan had given some of the Parganas of Bidar to bi-Nizam and had conquered after the death of (Malik) Amber (on 14th May 1626)". I think this was the cause of the attack.

2 The *B. S* gives '*Kays War*,' on p. 284, but it is a mistake.

3 This last sensence is not given in the *B. S.*

4 This interval of 4 months ought to be four days only, as it does not fit in with the next dates. The *B, S. P.* 285, gives " shortly afterwards " , which is probable.

5 If we deduct the twelve months of the siege and the four months of the interval from this date, then the date of this war falls somewhere

4. **Miscellaneous Notes**: (*a*) King's marriage came off on 18th Rajab (1041 A. H. ? 1631 A. D.) and the celebrations lasted for forty days.

(*b*) Qutub Shah (of Golkondah) had not sent the annual tribute and so some *Vizirs* were sent to him and he sent one lakh and fifty thousand *huns*.

(*c*) In the beginning of the year A. H. 1042, all the army and officers were ordered by the king to pitch their tents at Zuhrapur, and offer their prayers for the peace of the departed soul of his father. They started from Zuhrāpur on 5th Muharram A. H. 1042, (13th July 1632.).

4. **The Fort of Parenda gained.**:—On 10 Muharram 1042 (18th July 1632), the *Havaldār* of Parendā fort, Aqā Rezwān, whose title was Haybat Khan, revolted against his lord, Nizām and, Shāh sent a letter to Bijapur saying, "I present this fort to Your Majesty. Please send some one to take it in his charge." Accordingly Murwāri (Murāri Pandit), was sent with 10,000 *Huns* as a reward to Aqa Rezwān, who gave the key of the *f*. to Murāri when he reached the fort of Parenda.

5. **The Cannon Malik-e-Maidan brought**:—1042 (1632). Murāri brought the huge cannon, *Malik-e-Maidān* (in Marathi, *Muluka maidān*) from Parenda to Bijapur in the rainy season. While it was placed in a big boat on the breast of the river Bhinwra (Bhimra or Bhima), the boat sank down like lead under its unbearable weight, and it was, of course, with great difficulty that it was taken out, brought to Bijapur (100 miles

---

within July 1627 which ia untenable as the King ascended the throne on 12th Sept. 1627.

from Parenda) on 15 Safar 1042 (8 Sept. 1632) and was placed on a high tower. This speaks volumes for the native skill in engineering in the seventeenth century.[1]

CHAPTER II

Wars with the Mughals

1. **Battle at Dharur** :–On 10th Jamadi-u'l-Awwal 1041 (24th November 1631)Shaykh Mughanniya, ambassador of Shah Jahan, came and it was settled that the kingdom of Nizam Shah may be divided between the two sovereigns, Shan Jahan keeping the country beyond the river Kishna (Krishna). But when Shaykh Mughanniya was gone, the news came that Shah Jahan had broken the agreement and sent his army to the fort of Kebas Darur (Dharur) which is situated on this side of the river Krishna.[2] On hearing this the King ordered Malik Ambar Jan, havaldar of Bidar, to imprison the ambass-

---

1 B. N. I. B. p. 33, mentions this under 1043–(1633).

B. S. P. 295, gives additional information concerning the weight of "*Malik-e-Maidan*". Zahur in the *M. N.* merely praises in hyperbolic terms the bulk of the monstrous cannon but the *B. S.* gives its weight as 6 Khandi, i. e. 120 maunds, or as estimated by an European engineer, 3200 *ratals*. The *B. S.* lithographed edition gives 60 Khandi, but it is a mistake.

It was put up for auction as a useless thing in A. D. 1854, and the highest bid was Rs. 150 only. But fortunately this idea of disposing it off was given up and it serves as a thing of wonder for every traveller up to this day. Bashir-ud-din, *Waqeat-M. Bijapur*, II, p. 47.

2 *B. N., I. B.* p, 404 gives the cause of attack as follows :—" Because Adil Khan was young and inexperianced and a slave, named Daulat, was wielding all the power, they had thrown off the allegiance to the Imperial authority. This was why Yamin-ud-Daula Asaf Khan was sent on 19 Jamadi-ul-awwal 1041 (3rd December 1631) to bring him round and set him on the right track. A big army with numerous officers was placed at his disposal. *M. L. I.* p. 462.

ador *en-route* and to take all the presents which were sent with him to Shah Jahan. He was detained accordingly. Shah Jahan sent many letters but all were of no avail and so he was pricked at it and sent a large army under his father-in-law, Asaf Khan, with many nobles[1] When the Mughals came near Hasanābad, they began to plunder the country around it and harrass the *mujāwars* of the Rauza of Sayyed Md. Husāini Gaisudarāz, and encamped at the Hauz-e-Rang-rayzān which is at the distance of one league from Shāhpur[2]. All the people were terrified but Md. Adil-Shah met and defeated them.

2. **Skirmishes:**—The Mughals again attacked on 2 Sha'aban 1041 (13 February, 1632) but were defeated and five *Vizirs* of theirs were killed. Bijapur army lost Sikandar Ali, son of Pesh Jang Khan[3]. Thenceforth Mughals attacked the different doors but were thrown back every day.[4]. At last on 9 Sha'aban (20 February 1632) they attacked in full fury. A severe battle ensued, and the Mughals fought with intrepidity, yet they were again defeated. Asaf Khan sent a trustworthy courtier to negotiate, but this was a trick to escape with impunity[5]. Shaykh Dabir was sent to settle the terms of peace. After seven days the news came that Nawab Mustafa Khan was wanted to perform this important work. He went and it was decided that the Mughals should be paid 7 lakhs of *huns*

1 The names are the same which are given by the *B. N. I. B.* p. 405

2 They encamped beside a tank between Nauras and Shahpur. *B. N. I. B.* p. 413.

3 Nasiri Khan and Sikandar Ali, son of the uncle of Randaula were killed. *B. N.* I. B. p. 414.

4 This siege of Bijapur lasted for twenty days, *B. N.*, I. B. p. 416.

5 *B. N.* I. B. p. 415-17 does not refer to these reverses as they were humiliating to the Imperial forces.

by Md. Adil Shah, who wrote "I will pay at the point of my sword." The Mughals lost all hopes and being troubled with famine retired from the field. At this glad tidings Murāri was rewarded with a robe of honour and an army was sent under him to pursue the truants.[1]

3. Miscellaneous Notes :—Md. Adil Shah married the daughter of Sayyad Abdur Rahman-al-Husaini who was the blood brother of *Taj-ul makhaddirat* (his maternal uncle).

The King sent a message to ' Abdullah Qutubshah, king of Golkondah, requesting him to give his sister in marriage. He refused but agreed when the cuts of war were held out. The marriage came of with great *eclat* and Murāri treated Qutub Shah as an inferior, because he (Murāri) happend to belong to the bride-groom's party.

4. Mahabat Khan Sent to Deccan:—Shah Jahan imprisoned the crest-fallen Asaf Khan and called Mahabat Khan from Lahore. (where he was acting as a governor, *B. S.*) and appointed him the governor

1 The other side of the picture given in the *B. N.*, I, B. p. 414 is because victory attends upon the stirrups of the Imperial cavalier and defeat dogs the steps of the enemy, so every time many soldiers of the other party were killed, especially Sikandar Ali, son of the uncle of Randaula with some others left this world for the other.

In the beginning Shaykh Dabir, one of the confidants of Khawas Khan, came to settle terms of peace but he was thought unreliable and so Mustafa K. was called, who came with Khayriyat Khan Habshi, uncle of Randaula, for the important purpose of negotiations.It was decided that Adil Khan should pay Rs. 40 lakhs with other precious rarities, by way of a present. It was, however, known afterwards that Khawas Khan did not like those terms, and so after conferring with the nobles, Asaf Khan raised the siege for want of food, fodder and water. As the rainy season was approaching they retired to Sholapur, and upto that place about 15000 soldiers of the enemy (Bijapurians) were pursuing them.

of Burhanpur. Mahabat Khan started for Deccan and in the meanwhile Fateh Khan, son of Malik Ambar, who was at Daulatabad killed Nizam Shah and installed his 7 year-old son. ([1]Husain B. S. p. 296) on the throne. (Sir J. Sarkar calls him Bahadur Nizam Shah). When Mahabat Khan heard this, he thought it a good opportunity and left for Daulatabad. Md. Adil Shah also sent his army (under Randaula–*B. S.* p. 297) for invading Daulatabad. But Mahabat Khan preceded this army and entered the town of the fort of Daulatabad.

5. **Fateh Khan in Trouble.**—Fateh Khan was upset and sent a letter to Bijapur asking for help as he was besieged by Mahabat Khan and had no food and fodder to fall back upon and stating that he would entrust the fort to the Bijapuri officials if he was rescued.[1] On receiving the letter of Fateh Khan, Khawas Khan recommended Murari for the command of the forces and he was supplied with money and provisions to be given to Fateh Khan. When Murari reached Daulatabad the Bijapuri army which was already there became disaffected and thinking that the credit of victory would go to Murari they did not fight wholeheartedly.

Murari was haughty and rash by nature and so in spite of the repeated requests of Fateh Khan that he was in need of provisions very badly, Murari did not send any thing to him but demanded the keys of the fort from him.

6. **Daulatabad Capitulated to the Mughals.**—When Fateh Khan was disappointed through the conceit of Murari he opened negotiations with Mahabat Khan saying that he would hand over the *f.* to Shah Jahan if

1 Here *B. S.* adds that one Yakut Khan who previously belonged to Ahmednagar but had gone to the Moghuls, again came back to Fateh Khan with 4000 cavalry, fought with the Mughals and was killed.

Mahabat Khan promised to help him in every way. Mahabat Khan was overjoyed at the news and sent his son, Irādat Khan, with all the necessary gold and provisions.[1]

When the terms were settled Fateh Khan capitulated the *f.* to Mahabat Khan who took both of them with him and started for Burhanpur, leaving his son at Daulatabad. Because the Mughals had no provisions they had to kill their horses and camels and ate them up. The officials of Bijapur who had not fought, being dissatisfied with the command of Murari, pursued the Mughals. Mahabat Khan went on and on bribing the pursuers every now and then. He was honoured highly by Shah Jahan while Murari came to Bijapur, ashamed and sorrowful at his failure. *M. L. I,* p. 430 ascribes the loss of Daulatabad to the folly of Murāri.

7. **New Nizam Shah set up** :—After some time Murāri cherished a fond hope and with the help of Shahaji Bhosla he went to the fort of Junair and put the crown on the head of one of the descendants of Nizam Shah; and Khawas Khan also thought it advisable and regarded it a good move. He prevailed upon the King and Murari was sent with a big army to Junair, where he and Shahaji began to play havoc after enthroning the Nizam Shah.[2] *M. L. I.* p. 487. specifies that Sahu began to plunder the suburbs of Daulatabad.

8. **Mahabat Khan's return to Deccan** :—When Mahabat Khan heard of the new Nizam he asked

---

1 *B.S.* p 299. Mahabat Khan had sent a message to Fateh Khan through his son that after he had delivered the *f.* he and Husain Nizam Shah would be carried to Shah Jahan and royal favours would be showered on them, and that they would be restored to their previous positions.

2 Jedhe Shakavali (Pradip. p. 16) writes, Shahaji crowned Nizam Shah at Pemgiri (Shahagad) in August 1632 A. D. .

Dara Shikoh to come out of Burhanpur and attack the enemies. When they reached Parenda they besieged it and the Bijapuri garrison defended it very boldly. Rustam Zaman, Peshjang Khan, Farhād Khan and Ankus Khan were the chief generals on the Bijapur side. The siege lasted for 4 months and Mahabat Khan being disappointed raised the siege. (*M. L. I,* p. 500 states that the soldiers were disaffected at the command of Mahābat Khan and the two commanders also were disunited). Dara Shikoh left for North India under the pretext of a call from Shah Jahan. Bijapuris under R. Z. pursued the Mughals upto Burhanpur and killed many soldiers of the Mughal army.

9. **Miscellaneous Notes** :—Here the author of the *M. N.* adds a chapter:—" Taj Sultan Saheb, the wife of Ibrahim Adil Shah II' died in 1043 A. H. I. (1633-4 A. D.) and was burried in the rauza of Zuhrapur.

CHAPTER III

Civil War

1. **Nawab Khan Baba imprisoned** :—Khawas K. had a Brahmin named Murari (Murarpant of Marathi writers) as his Khāsnawis and had raised him to the post of Commander in Chief. Khawas K. had a brother named Husain who was a rascal and a rogue; his other relatives also were given high posts but they were incapable and so people cherished ill will against Khawas Khan. When 4 years elapsed Murari instigated Khawas Khan to put Nawab Khan Bābā into prison so that they might have all the power in their hands. Khawas K. sent his Maheldār to Nawab demanding the *sikkā* (seal) from him, which was not given. Khawas K. who wanted some excuse or other

for picking up a quarrel, sent Murari with an army against Nawab. He laid a siege around the house of the Nawab for 7 days and on the 8th day Khawas K. being incensed at the failure, sent Khās Khail of the King with Murari to arrest the Nawab who yielded when he saw Khās Khail. He was arrested by Murari along with Mirza Nuruddin Md. and Asad K. and after 3 days, were sent to the fort of Belgaum.

2. **Fall of Khawas K. and Murari** :—When Khawas K. imprisoned Nawab he became puffed up with pride and began to practise tyranny. The King now conferred with R. Z. decided to throw Khawas K. overboard and besieged the city. Khawas K. being hard-pressed sent Shaikh Dabīr as an ambassador to Shah Jahan, informing him that he would give the fort to him if he would come in time to render him assistance. He placed Murari at the head of an army to fight with the Bijapuri imperialists. R. Z. sent a message (which has been given in detail in the *B. S.* p. 310) to Khawas K. advising him to come round, but it was of no avail. Then the King called Ikhlas K. (originally Sidi Rayhan, Ruqqa Rasān), now entitled "Khan Muhammad Muhammadshahi" and asked him to do away with Khawas K. somehow or other. Accordingly this Khan took Karim Maheldar (Karim Sharzeh) and Husain K., (son of Mianji *Sar Shelk*) into his confidence and thought out the plan to murder Khawas K. They made themselves ready on Wednesday, 1038 A. H.;[1] and Karim Sharzeh rushed on Khawas Khan as a

---

1 *B. S.* also on p. 311 has given only this week day without the month and the date which, along with many other similar coincidences regarding phrases and sentences, clearly proves that either Md. Ibrahim Zubairi, while writing *B. S.*, had the *M. N.* before him and copied from that or he had some *M. S.* which was a copy of the *M. N.* though perhaps Md. Ibrahim

lion pounces upon a deer but he escaped with a wound and Khan Muhammad followed him and after all succeeded in killing him. His son, Husain K. also was pursued and killed. Only Dāud K., one of his sons, was pardoned. As soon as Khawas K. was killed there was a heavy downpour of rain as if the gods were propitiated at the murder of this fiend; and the famine, which was raging all round so long, subsided. [*B. S.* p. 312, Next day] the king sat on the throne and Muzaffar-Ud-din 'Khan Muhammad' was made the minister and the affairs of the kingdom were entrusted to the mature care of Nawab Khan Baba. Ahmad K. [son of Khudāwand K.,–*B. S.*] was made sar–sar–naubat.[1] Thus ended the civil war which had caused so much confusion in Bijapur and which served as a convenient excuse for Shah Jahan to invade Bijapur.

Khan Husain Fakhrābādi was sent to fetch Nawab Khan Baba from the *f.* of Belgaum [Naykāpur. *B. S.* p. 313] and he took 9 days to bring the Nawab to Bijapur. The King honoured him highly and appointed him to the post of the Prime-Minister (*Mansab-i-kar-i-Mulki*).[2]

---

could not distinguish that it was the *M. N.* He gives 1045 A. H. (1635 A. D.) instead of 1038 and gives a chronogram also. This chronogram has a small mistake which I could detect and the mistake has crept in because the lithographed edition of the *B. S.* was edited with the help of only one MS In the *B. S.* on p, 312 the chronogram means 'Rayhan (Sidi Rayhan) cut off his head," and by the *Abjad* system it does corroborate the year 1045 A. H. (1635–36 A. D.) It is also mentioned in the *B. S.* that Murari Brahman (Pandit) was killed one month after the murder of Khawas Khan but the *M. N.* is silent over the point, *H. K.* gives 1046 A. H. (1636 A. D.)

1 *B. S.* p. 312 has given the names of some other persons also who were honoured with titles. On p. 313, it is written that Khawas K. was in power for 8 years.

2 B. S. p. 314–15 gives an account of the last days of Murari.

CHAPTER IV

Treaty between Mughals and Bijapuris

1. **Shah Jahan comes to Deccan:**— After the defeat of Mahabat Khan at Parenda, Shah Jahan himself came to Daulatabad because Khawas K.'s letter had reached him through Shaikh Dabīr (*B. S.* p. 314 Shaikh Muhiuddin). Md. Adil Shah prepared for the defence but when he found that Shah Jahan did not like that blood-shed should take place he sent Nawab Khan Baba to settle the terms of peace.

2. **Terms of the Treaty as given in *M. N.*:**—It was decided that the royal relations should continue between the two kings and the country of Nizam Shah beyond the river Kishna should be in the possession of Shah Jahan, while that on this side should belong to Adil Shah (*B. S.* p. 315 has given only this one article) and that the annual tribute which was given by the old Deccani Kings to the Mughals should be discontinued and that as long as the world lasts the descendants of the Kings should live in peace and amity. Shah Jahan ordered that the terms of the treaty should be written on a gold plate and should be sent to Bijapur. When the ambassador of Shah Jahan brought that document, he was very much honoured and Shah Jahan left for Agra. *B. S.* p. 316 gives A. H. 1045 Zilhij (May 1636 A. D.) as the date. Because the *B. N.* I. B. pp. 167-75, gives in detail the terms of this treaty I append herewith a full translation of the same.

Prof. J. Sarkar in his '*History of Aurangzib*' I. p. 38–40, has given merely the substance of the portion of *B. N.* that appeared to him important, but I have tried, instead, to give a faithful translation of almost all the

matter contained in *B. N.* The matter shown within brackets has been omitted by Prof. Sarkar.

3. **Terms of the Treaty as given in** *B. N.* :— "Copy of the exalted Farman comprising of the conditions and the promises":—King Adil Khan should know that the application which he has sent to the court reached us and was read by us; because from its contents it can be known that he is very sincere and has accepted allegiance to us and from a letter which he has sent to his own Vakil who gave it to commander-in-chief, Khan-i-Khanan who has sent it to us, and from a letter of Makramat Khan also it has been known that Adil Khan has accepted every thing and all the conditions which were proposed. Taking all these facts into consideration, we pardon and overlook all the past faults of his and renew our kindnesses to him. Although heretofore also on account of the sincerity of the services of the late Adil Khan and his cordial loyalty towards us, we did not want that we may be unkind towards the present Adil Khan and may work havoc in his country, but because of some of his servants who were short-sighted, we were obliged to do all this. However, because he has come round from that wrong path quickly and has begun to understand his own welfare and to tread the straight path of rectitude and obedience we too bestow upon him all the country which he inherited from the late Adil Khan [Ibrahim II]; and out of the country of Nizam-ul-Mulk also Vanko [Vangi] and the forts situated therein and the fort of Sholapur with the Mahal connected with it which we had taken from the late Adil Khan and had given over to Nizam-ul-Mulk and Malik Ambar and the fort of Parenda with the parganahs connected with it and the

parganahs of Bhālki, Jitkoba [Chitgopa] and out of the country of Konkan that part which was under the sway of Nizam-ul-Mulk and the forts which are situated therein and the parganah of Chakanah. All these comprise 50 parganahs and yield an income of about 20 lakhs of *huns*. We bestow all that upon him according to the details given here. We fix hereby that the remaining country of Nizam-ul-Mulk may be joined to our dominions; and as long as he, his sons and grandsons will act up to the conditions laid down in this farman, which is tantamount to our deed of promise, no harm will accrue to his country from us or from the children of our illustrious sons or from our officers and this pact will be observed generation after generation and millenium after millenium.

Art. 1. :--" That you should be sincere and loyal to us and will not allow any changes or transgression to be made in the orders which have been put in black and white in this farman, and will act according to it; and will avoid doing anything to the contrary."

Art. 2. :--" That a Nizamulmulk should, on no account and never, intervene between us [and every Nizamulmulk who might have survived, should become Adil Khani,] and your servants should not interfere with the country which will be, now, annexed to our dominions and will not transgress the boundary which will be decided hereafter."

Art. 3. :--"The tribute of 20 lakhs of rupees, in the form of coin and kind, which you have accepted, should be sent quickly with Makramat K." Prof. J. Sarkar adds the sentence 'But no *annual* tribute was imposed." In *M. N.* it is expressly mentioned that 'Shah Jahan was requested to keep his hands off from demanding the

annual tribute which was paid by the former kings of Bijapur.* So there was no question of imposing a new tribute but on the contrary the old one also was discontinued.

Art 4. :— "[Because Qutub-u'l-Mulk has accepted every term which was communicated to him and has given up the party of the innovators and come into the fold of the blessed party of the Sunnis and believers; and on the pulpits situated in his country he has also introduced *Khutbeh* in the names of the four illustrious Caliphs as well as ours; and the faces of the silver and gold coins have been decorated with our name]. And sent about 50 lakhs of rupees as a present on the occasion of our coronation, so all these acts demand that some concessions should be extended to him also; therefore we decide hereby that every year upto this time he used to give 4 lakhs of *huns* to Nizam-ul-mulk but now he should send only 2 lakhs to us as an annual tribute and we remit the other 2 lakhs. You also should not injure his country as you are the greatest landlord of the Deccan and like an elder brother to Qutub-ul-mulk and will not force him to give you anything in the form of coin or kind [and will be contented with the transactions which existed between him and your ancestors from times immemorial.] "

Art. 5:—" The following fact also should be regarded as one of the articles of this treaty:—Sahu [and Rayhan Sholapuri] will not be allowed access to this court on account of the faults committed by them [and the requests made by you."].

"As regards the people of your Court we have promised that we will not call them nor will extend

any *qaul* (assurance) to them, and our princes also shall not do the same. It is incumbent upon you also that if any servant of ours deserts us and comes to you, you should not harbour him."

Art 6. :—"Because Sahu has no other place (of refuge), it is most probable that he will take to your service and will become subservient to you. In that case you should instruct Sahu quickly to empty the forts of Junair, Tribang, (Trimbak) [Rajdebher, Tringalwari and Beemgar] which are in his possession and should surrender them to our officers, [because we have ordered that nobody should interfere with the men and members of the family of Sahu and should allow them to shift every thing in those forts, except the cannons etc. which are the necessaries of the forts, to any place they like. Taking it for granted that he does not accept your service] then you should not allow him to come into your territory and if he does come you should arrest him or beat him off; and should inform my officers so that they also may try to extirpate him."

Art 7.:—"[The forts of Ausa and Udgir are under the Commanders of Nizam-ul-mulk and if these be obedient to you they should be asked to surrender those forts, with the cannons etc., which are the necessaries of the forts, to my officers and to shift the members and the property of their family to wherever they like. And if they be not obedient to you then you should inform my officers so that they may take the forts from them forcibly.]"

You should order that all these conditions and promises should be written down in a volume which may be ratified by your hand and seal and you should

swear by Qur'an before Makramat Khan and should send it on to us with him.

This farman which comprises our promise and qauls (assurances) will, God willing, be powerful and firm like the wall of Alexander. We decorate it with our own hand and mark of *Panjah*, and we think God and the prophet as witnesses to this and we ask it to be inscribed on a golden plate. You should prize it as a great boon which was not granted to any of your ancestors and should live in peace and safety.

M. L. gives the same account as given above in *B. N.* but has shortened the titles of Adil Shah.

Extract from the letter of Adil Khan to Shah Jahan after receiving the farman of treaty:—

"On the 2nd day of the arrival of your farman which is Monday, the 25th of Zilhij, the Khan was sent back and I sent with him the present of gems, weapons, elephants etc."

From this it can be inferred that the messenger of Shah Jahan reached Bijapur, with the imperial Farman on Sunday, the 24*th* Zilhij 1044 A. H. which corresponds with 31st May of 1635 A. D., and not with May 1636, given by *B. S.* if we are to rely at all on the week-day given in *B. N.* Prof. J. Sarkar gives 20th May for the event and probably follows *B. S.* and not *B. N.*

Jedhe Shakavali also gives Shake 1557 which corresponds with 1635 A. D. (1045 A. H.). *Haft Kursi* gives 1046 A. H. (1636 A. D.). It may be noted that the 24th Zilhij of 1045 A. H. is Friday, 24th May 1636 A. D.

4. Miscellaneous Notes:-Here the author of *M. N.* has devoted two chapters to the following events:—

(a). **Marriage:**–Md. Adil Shah married the daughter of Nawab Khan Baba named 'Taj Jahan Begam' 1042 A. H. (1632–3 A. D.) Monday night of the 11th day of the month mentioned above. (The month is not given anywhere in the preceding lines. By looking into the calendar the night of the 11th date of Rabi-ul-awwal, Sha'abān and Zilhij fall on Sunday.)

(b). **Pilgrimage (Urs)** :—In 1047 A. H. (1637–8 A. D.) Md. Adil Shah went to the gate of Bahman Halli. He started on Monday the 12th Zil–qa'ad (19 March 1638 A. D.) for the pilgrimage of the rauza of Hazrat Sayyad Md. Husaini Gaisu Daraz and on the 16th Zilqa'ad the '*Urs*' celebration came to an end and then he reached Md.-Pur on 10th Zilhij (15th April 1638 A. D.) The author of *M.N.*, Zahur bin Zahuri, was one of the participators in the pilgrimage and he presented a *Qasīdeh* regarding this occasion to the King.

CHAPTER V

Conquests of Rustam-e-Zaman

1. **The Nature of the Conquests:**—As the countries of Karnatak and Malnad were not conquered before by any Muhammadan king of the Deccan, Md. Adil Shah thought of bringing them under his sway in order to strengthen and glorify the Islamic religion in the dominion of the Hindus, (and to win for himself the titles of "*Mujāhid* and *Ghāzi*." *B. S.* p. 317).

In the year 1030 A. H. (1630 A. D.), [it ought to be 1045 A. H. (1635–36 A. D.) as given by *B. S.* p. 318] Randaula Khan, son of Farhad Khan, was honoured with the title of "*Rustam-e-Zaman*" (=R.Z.) and was made the commander-in-chief of the army and was sent to punish

Vira Bhadra who was in possession of the strong fort of Ikkeri. (*B. S.* p. 316) affirms that this campaign was taken up in the spirit of Jihad (i. e. a religious war) and Malik Rehan was a joint commander. When Rustam-e-Zaman reached the frontiers of Malnad (a hill country or *male-nad*, a country of heavy rains, in Canarese) all the people were terrified.

2. **Keng Nayak, a Traitor**:—Keng Nayak, the Rajah of Baswapattan (referred to by (*Shiva-Bharat*) also) who had an ill-will against Vira Bhadra, through the deplorable propensity of taking revenge, informed R. Z.—"I will help you in conquering the whole country; but you should first invade the fort of Ikkeri. I will show you a path by which you can reach Ikkeri quickly and Vira Bhadra will not be able to get the scent of your arrival and you will gain an easy victory over him, provided that you give me one lakh of *huns* in return for the services, recommending my case to the king." R. Z. agreed to this.

3. **Ikkeri Taken**:—Taking Keng Nayak with him, R. Z. reached Ikkeri. Vira Bhadra could not withstand the surprise attack and fled to the fort of Kasnauldurg. Ikkeri was captured and R. Z. halted there for one month and gave one lakh of *huns* to Keng Nayak as promised. Then he attacked the fort of Kasnauldurg where Vira Bhadra had taken refuge. Vira Bhadra saw that he could not resist so stupendous an army, so he yielded and gave 18 lakhs of *huns* with half of his kingdom to R. Z. who returned to Bijapur. In this manner the enmity of one Hindu chief brought about the fall of a brother chief, and gives a clue to the pitiable condition of politics in South India. The enmity and blind selfishness of the Hindu Nayaks

struck hard at the root of their existence. *H. N. M.*, p. 128. [*B. S.*, p. 318, says that Vira Bhadra revolted after 2 years and so Ikkeri was completely subjugated in 1047 A. H. (1637 A. D.)]

4. Second Expedition of R. Z. :—When some time passed over the capture of Ikkeri, R. Z. started again for the conquest of the South. He crossed the river Tumbhadra (Tungbhadra) and wanted to attack the fort of Tarpatri. The Rajahs of that neighbourhood, who are known as '*manaywārān*, sent a secret message to Keng Nayak saying, "If the fort of Tārpatri falls in the hands of the Muhammedans the whole country will be easily overrun by them. So you should make an effort to dissuade them from coming to this side."

Keng Nayak, accordingly, suggested to R. Z. that the way to Tārpatri was full of forests and dangerous hills ;[1] and that it would be proper to attack the fort of Panklore (Bangalore) where Keni Kondā (Kemp Gondā) was reigning in pomp, pelf and pride. In return for their help he wanted for himself the fort of Berī (Sera ?) which was under Kastūrī Rangā. R. Z. agreed to this proposal reluctantly and started towards Bangalore.

5. Sera Taken—He sent Afzal Khan in advance to capture the f. of Serā which lay *en-route* to Bangalore who acted accordingly. Kastūrī Rangā yielded, came out of the f. and conferred with Af. K. By chance, some untoward accident happened at the time of the interview and so Af. K. killed him then and there.[2]

---

1 The map of India, showing forest areas, gives a vast area of unsurveyed forests around Tadpatri.

2 This occurrence is a good indication of the character and mentality of Af. K. who after 20 years, tried to entrap Shivaji in a similar interview.

The defenders closed the gates and prepared themselves for defence. In the meanwhile R. Z. came up and a severe battle ensued. At last the besieged yielded and the fort of Serā was conquered and given over to Keng Nāyak as promised. R. Z. sent all the wealth and booty to Bijapur.

6. **Kemp Gondā Surrenders Bangalore**:— Then R. Z. started towards Bangalore and when he reached there a battle ensued. In 3 days he took the town. On seeing this, Kemp Gondā, the chief of Bangalore, won Keng Nāyak to his side who withdrew with 30 thousand cavalry. R. Z. went to his tent, promised him many royal favours and brought him round. Keng Nāyak requested him :—"It is not advisable to try to take this fort at this time, because most of us are wounded and exhausted while the enemy is greater in number. I will negotiate with the Rajah and bring him out of the fort." R. Z. allowed him to send his own ambassador in the fort and Kemp Gôndā gave the fort of Bangalore with all the property contained therein to R. Z., who appointed Shahji for the protection of the country and left him at Bangalore.[1]

R. Z. himself started to punish the Rajah of Seringpatan (= Shrirangpattan), named Kāntī Rāi.[2]

He besieged the fort for one month and then the Raja sent his ambassador with a message, saying, "Leave

1 *Sh. B.*, 9-43, states that Kemp Gonda, the Rajah of Bingrool (Bangalore) was expert in the art of fighting and after a bold stand lasting for many days he surrendered the fort of Bangalore.

2 In *H. N. M.*, p. 117, f. n., his name is given as Kantirava Narasa, who was the successor of Chamraja. He openly threw off the allegiance to the emperor of Vijayanagar. In *Sh. B.*, 9, 39, it is mentioned that Kantirava, the Raja of Shrirangpattan, was very cruel and was subdued by Shahji, which act of valour was much appreciated by Randaulah, (*i.e.* R.Z.)

this fort to me and I will give you 5 lakhs of *huns* as an indemnity." R. Z. granted this request.

As the rains were approaching he left Qāzī Sa'īd with the Kanarese chieftain, Keng Nāyak, in that place to bring the money and the presents; and he himself went back to Bijapur with his army.[1]

When the presents came into the hands of Qāzī Sa'īd he left for Bijapur and Keng Nāyak hastened to the fort of Basvāpattan saying, "Henceforth I will not remain under R. Z. and can no longer obey him". Then he set himself diligently to establish his authority by fortifying the fort of Basvāpattan, enlisting soldiers and making an alliance with the Rajahs of that land; and thus tried to throw off the yoke of the authority of Bijapur.

7. **Revolt of Keng Nayak**—When the King heard the news of the revolt of Keng Nayak he appointed R. Z. to punish him. R. Z. started for Basvāpattan and thinking of the 'divide-and-rule' policy wrote to Vir Bhadra, " If you will help me in defeating Keng Nayak, I will restore to you that dominion of yours which I gave to him after the victory of Ikkeri." Vir Bhadra, jumped at the idea and accepted the proposal. R. Z. sent a message to Keng Nayak for surrendering the fort but he was obstinate and obdurate. He appointed 70,000 foot for guarding the town. R. Z. exhorted his soldiers to fight bravely. In the morning they started towards the fort of Basvāpttan and encamped on a hill which was half a league from

1 While giving the chronology on p. 346, *B. S.* says that in 1048 A. H. (1638 A. D.) Bangalore and Sera were conquered; while in 1049 A. H. (1639 A. D.) Basvapatan was conquered, for which a chronogram is quoted, which gives 1049 by *Abjad* system.

the fort. Afzal K., Shahji Bhosla, Badāji and others, were stationed at the main gate; Sīdi Rayhan Sholapuri, Husaini Ambar K. and Peshjang K. at the second gate; Ali Khudāwand K., Md. Yāqut Sārni and Ankus K. at the third gate. The defenders fired 80,000 guns at the besiegers. After a fierce fight Afzal K. spurred his horse and crossing the hills and dales reached the main gate. He killed the guards and got possession of the *Qasba* at a blow. At this Keng Nāyak made three desperate attacks on Af. K. with his thirty thousand soldiers, but was defeated and forced to retire to the fort. Other officers were encouraged by this heroic feat of Af. K. and attacked from both the sides at the same time. Nearly 3700 *Kāfirs* (Hindus) were killed and at the fourth *Sā'et* (hour) of the day the *Qasba* was captured. (*B. S.*, p. 346 gives 1049 A. H = 1639 A. D. as the year of this event.) Keng Nāyak came out of the fort and expressed sorrow at his past deeds and gave 40 lakhs of *huns* along with the fort to R. Z. For some time he was kept in confinement but as he tried to bribe some guards he was put in an iron cage and sent to the city. When he was reduced to this all the Rajahs of Karnātak and Malnād submitted and the King sent robes of honour to all these *Vizirs.*[1]

8. **Revolt of the Rajah of Chiknayakan Halli:—** When the fort of Basvāpattan was conquered, R. Z. stayed there for some time and sent Afzal K. ahead with a big army. When he reached near Chiknāyakan Halli (30 m. s. w. of Serā), the Rajah was terrified

1 *Sh. B.* 9-37, alludes to this event thus. When Randaula (R. Z.) attackad Karnatak then Shahji defeated Keng Nayaka of Vrishapattan (Basvapattan).

and sent a message, "If you kindly allow me to keep the *Qasbā* I will leave my men therein and accompany you for your help." The *Qasba* was given to him in exchange for 20,000 *huns* and the fort was taken into possession.

9. Belur and Tumkur Conquered:-Then Afzal K. started for the fort of Belur (Velāpuri of Sanskrit writers with a very beautiful temple, 50 m. s. of Shimogā). In the meanwhile R. Z, started from Basvāpattan and reached Chiknāyakan Halli. He sent an army under *Vizirs* to help Af. K. who had laid siege round the fort of Belur. The name of the Rajah was Venkatpati (*Sh. B*, 9-39, Venkat Nāyak was the Rajah of Jinji), who put forth a bold stand. When Af. K. found that he would not be able to take the fort in that way, he ordered that the towers should be blown up, which was done accordingly.

After a protracted siege of 4 months the Rajah opened negotiations with R. Z. who gave him Sakrīpattan (20 m. s. of Belur) in exchange for his fort. All the property was attached and sent to Bijapur and the army took rest in the fort of Chiknāyakan Halli.

When Af. K. reached Tumkur he arranged a flank of elephants and began the battle. When the Rajah of Tumkur saw this commotion, he was terrified and gave up all his treasury to Af. K. In the meanwhile R. Z. came up, collected all the property of the Rajah of Tumkur and sent it away to the King.

10. Relations with the Rayal of Vellore:—After conquering Belur and Tumkur, R. Z. entered into a compact with the Rāyal of Vellore that both of them should carry on the conquest conjointly and that when

a fort was captured, its moveable property should belong to R. Z. and the immoveable to the Rāyal. They both agreed to this and a *chatra* was ordered for him from the King. But Rāyal thought of mischief, made common cause with the other Rajahs and hoisted the banner of revolt. When R. Z. saw that Rāyal had gone astray he took to the conquest alone and conquered many forts.

Rāyal again implored for peace and promised to pay 50 lakhs of *huns* as an indemnity but R. Z. did not pay heed to his words.

Then R. Z. made a treaty with Sri Rang Raj and called Madari from the fort of Kandal, set the *chatra* over his head and took him along with him. Then R. Z. attacked the fort of Bālāpur. After a siege of one month the Rajah yielded and gave the fort with its treasury to R. Z. The annual income of his country was 80 thousand *huns* and the *Qasbā* yielded ten thousand *huns*. Then he left an officer in charge of the fort of Bālāpur and went to the fort of Kolihal [Kunigal (?) 40 miles west of Bangalore]. The Rajah made a stand for 14 days with his 15,000 soldiers, but at last yielded. R. Z. appropriated all the wealth and gave the empty fort to Sri Rang Raj, as was agreed upon before, although Sri Rang Rāj had not helped him. Laden with gold and trophies R. Z. retraced his steps to Bijapur. [For Bālāpur, cf. Chp. VIII, last paras.]

11. Miscellaneous Notes—Here the author of *M. N.* has given some information on sundry topics :—

(*a*) *Fertility of Karnatak*:—The fertility of the countries of Karnātak and Malnad has been praised in exaggerated terms. The climate was exhilarating and

every *Qasbā* was thickly populated. The fields yielded abundant crops and everywhere gardens, meadows and orchards were to be seen with blossoming flowers and luscious fruits.

(*b*) *Badshahpur founded* :—In the year 1047 A. H. (1637-38 A. D.) the work of laying out of the foundations of Bādshahpur was taken up and 5000 engineers were engaged. It was finished in one year. Another building was built in 1052 A. H. (1642-3 A. D.) and named 'Dād-Mahal.'

(*c*) *Ali II's Education began* :—Ali Adil Shah II's education was begun in 1056 A. H. which is a mistake. *B. S.*, p. 363, gives 1052 A. H., 20th Shā'bān, Friday, 4th Nov. 1642, when he was 4 years, 4 months and 4 days old. Dr. Beni Prasād in his *Jahangir*, p. 14, writes :—"It was a time-honoured Mughal custom that a prince should be placed under the charge of tutors as soon as he was (according to the Muslim calendar) 4 years, 4 months and 4 days old."

Prince Alī was placed under the charge of Qāzi Sa'id for his tuition and Ahmad K. *Sar Sar Naubat*, was in charge of the celebrations.

(*d*) *Khan Baba imprisoned*:—The King sent Khān-e-Khānān to arrest Khan Babā who was afterwards imprisoned in the fort of Belgaum in 1055 A. H. (1645 A. D.), but he was called back and honoured after a month only.

12. Tikri Taken—In 1043 A. H. (1643 A. D.) The King sent R. Z. for conquering the fort of Tikri, as the greater part of Karnātak and Malnād was already brought under the Muhammadan sway. Tikri was surrounded by a thick forest and high hills, and so R. Z.

took with him Keng Nāyak, chief zamindar of that country, and being guided by him he surprised and captured Tikri. He left Khun Jān there as the *havaldar*, but he was weak and indolent, so Shivappā Nāyak (an enterprising chief of South Kanara) took the fort out of his hands and fortified it.

CHAPTER VI

Conquests of Khan-e-Khanan

1. **Tikri and Sagar Captured :**—When Md. 'Adil Shāh heard of the impudence and boldness of Shivappa he ordered that an army might be mobilised and he himself marched towards Malnād on *Salakh* (= last day) of the month after the lapse of 6½ hours of the night of Wednesday 1053 A. H. (3 Jan. 1644 A. D.). On the 10th Zilqad (11 Jan. 1644) he encamped at Bankāpur. All the Hindu Rajahs were terrified but Shivappa Nāyak fortified the fort and with a selected party he fled away into the hills and dales. At this the King gave the robe of the command to Nawab Khān Bābā (Mustafa Khan) and Muzaffaru'ddin Khān-e-Khānān ['canacan' of the Jesuit records]. When the army reached near the fort of Tikrī the soldiers began to plunder and when they reached near the *Qasbā* of Sāgar which is at a distance of one *Frasakh* (4 miles) from Tikri,[1] Khān-e-Khānān (hereafter abbreviated to K. K.) ordered that the moat should be crossed after filling it up with logs of wood and the walls should be scaled, which was done accordingly. They thus entered the *Qasbā* by the eventide and used the planks of shops

1 By looking into the map of India, showing forest areas, I found that unsurveyed forests lie to the west of Sagar and so I am inclined to place Tikri 4 miles to the west of Sagar.

as shields and attacked the gate of the fort. K. K. walked the distance of one *Farsakh* and stationed himself in front of the fort. The siege and the struggle lasted for 5 days and then a *damdamah* (a high platform) was prepared for mounting the cannons. The besieged then capitulated the fort; and gave the keys to Khān Bābā who was left there in charge of the fort, by K. K. who thought of going back to Md.-pur on the 13th Muharram [1054 A. H.] (13 Mar. 1644), and as the year [of accession] changed on the 10th Muharram (10 Mar.) he celebrated the *Nauroz* in the Dar-ul-Fateh, Bankāpur. Then the King reached Md.-pur on the 25th Muharram (25 Mar. 1644) and entered the city at a *shagun* (auspicious time) when 4½ hours of Monday had elapsed.

2. Ali II's Circumcision:—It took place on Monday, (date and month not given), of 1054 A. H. (1644 A.D.) *B. S.* p. 363 gives the time as Friday night of Rajab (date not given) of 1054 A. H. (Sept. 1644 A. D.) when the prince was in his 7th year. All the victorious *Vizirs* from Karnātak *viz.* Rahmat K. who was entitled 'Rustum-e-Zamān', Sīdi Rehān Sholāpuri, Farhad K., Peshjang K., Af. K., Md.Yaqut K. Sarni, K. Bābā and K. K. presented many valuable and rare things. Presents came from Shah Jahan and 'Abdullah Qutub Shah also. In the night of the 10th (month not given) Thursday, he was taken in procession to the city! (*B. S.*, p. 363, gives Friday night of Rajab. The Marathi translation of *B. S.* by Modak gives 6th Rajab.)

3. **K. K. Honoured:**—In 1054 A.H. (1644 A. D.) K. K. was given the robe of command and was sent to conquer those forts of Karnatak and Malnad (= K. and M.) which were not taken up to that

time. Sidi Rehān Sholapuri, Khas Khayl, '*Nusrat-intizam,*' Peshjang K., A'zam K. and other *Vizirs* were sent with him. As soon as K. K. reached K. and M., he took some forts in a short time and the King honoured him with the title of "Khan-e-Muhammad Muhammad Shahi."

4. **Pilgrimage** (*Urs*):—On the 5th Zilqa'd, 1055 A. H. (14 Dec. 1645) the King started towards the Rauzah of Sayyad Md. Husaini Gaisudaraz. He observed his birthday celebrations on the way. When he reached the bank of the river Bhinvra which is at a distance of two days' journey from the Rauzah he encamped there and it was as this time that the glad news concerning the capture of the forts of Nandbhal (Nadiyal Dt. Karnul) and others by K. K. reached him. He started thence on Monday [13 Zilqad, 22 Dec. 1645], for the Rauzah. On the 16th (25 Dec.) the *Urs* ended and he left for Md.-pur. [The *Urs* usually ended on 16th Zilqad.] When returning he stayed again on the banks of Bhinvra for two days and enjoyed the elephant-fight arranged in the river. Thence he came to Nusratabad, known as Sāgar, and stayed there for three days when the news of the capture of the forts of Khaljalm (?) and Kanigiri through the heroism of K. K. reached him.

5. **Nine Forts Conquered by K. K.**—When K. K. reached the fort of Nandbhal a battle ensued and it was taken in 4 days.[1]

---

1 Prof. J. Sarkar writes in his article "*Shahji Bhosle in Mysore*" in Mod. Rev., July 1929, p. 9, that K. K. reported the news *early in 1646*. The MS. does not give any date but I would place this reporting time somewhere at the *end of 1645*, because in the last section it is mentioned, of course on the strength of the MS., that the happy news reached the King in December 1645, between 14th and 25th.

Then nine other forts also were conquered one after the other. Their names are given as follows, but they have not been identified as yet:-- Nandbhāl, Sriwāl, Kopgondā, Obhali, Porlor, Parkanpulast, Kanīgiri, Kardelmast and Chābakalmarbast.

6. **King Returned to Bijapur** :--When the King heard these happy tidings he ordered that they should encamp in the expanse of Kokī (or Gogī), in the vicinity whereof the mausoleums of the Adil Shahi Kings, *viz*, Yūsuf, Ismāīl, Ibrāhim I, and Tehmāsp were situated. He stayed there for three days and started on Thursday. When he reached Rasūlpur the present sent by Abdullah Qutub Shah reached him. He returned to Md.-pur on 3 Zilhijje 1055 (11 Jan. 1646) the week-day given is Wednesday, which ought to have been Sunday.

CHAPTER VII

Important Events of the Reign

1. **Relations with the Mughals** :—Shah Jahan came to Daulatabād for conquering Md.-pur but a treaty was concluded and the annual tribute was discontinued.

2. **Asaf K. was defeated** :—Asaf K., the father-in-law of Shah Jahan, attacked Md.-pur but was defeated and obliged to go back to North India.

3. **Islam in Karnatak** : As the King thought of spreading and strengthening the true faith he brought Ram Raj and all other Rajahs of the South under subjection, and the strong temples, which the infidels (*Kafirs*) had erected in every fort, were completely depopulated. The whole country was conquered in 3 years and the citadel of dualism and idol worship was given such a

rude shock. that the knots of the sacred-thread-wearers of Sayt Band Rameshwar were severed.

4. **Prosperity of the Subjects** :--Every day some festival was observed and all lived in peace. At the time of the marriage with Tāj Jahan Begam (dr. of Khan Bābā) the *vakils* of Shah Abbās-al-Husaini also had accompanied the King in the night procession.

5. **Murder of Khawas Khan.**

6. **Fort of Sholapur**:—which was almost impregnable was surrendered by Sidi Rayhan who was taken in the imperial service.

7. **Imperial Treasury** :—was full of gold, silver gems and jewels and it did not suffer even by the reckless generosity of the King.

8. **Zahur Ordered to Write this Book** :—The King wished that the account of his reign may be immortalised in black and white for the benefit of the people, so in the year 1051 A. H. (1641 A. D.) the King told Nawab Khan Baba, "The chronicler of the account of the reign should be an expert wielder of a facile pen and Zahur, son of Zahuri, is capable of performing this onerous task." The Nawab, accordingly, summoned me to his house and communicated to me (Zahur) the happy news. He gave me 'the History of the Sultans of the Deccan' by Rafi'a-ud-din Husain Shirazi [perhaps it was meant to serve as a model] and asked me to write an account of the Kings of the Deccan in a scholarly and beautiful style. I did my work assiduously.

Once in an assembly of the King, where all the learned men were gathered together, mention was made of the wonderful command of the language put forth in *Akbar Nama* by Abul Fazl, the versatile histo-

rian and minister of Akbar the Great. Zahūr stood up and said, " *Akbar Nama* is really a specimen of literary productions, decorated with figures of speech and rhetoric, and written in a learned style, but my *M. N.* is characterised, from cover to cover, with the glorification of God and praise of the Prophet, not to be found in *Akbar Nama*, in addition to the literary merits and embellishments." Hearing this the king ordered that *Akbar Nama* should be fetched from the library and he resembled it to the " *Bhārat Nūmā* ", the book of the Hindus. He honoured and encouraged the author by saying, " Mullā Zahūr was created by God for writing *M. N.* and winning immortal name and fame thereby."

CHAPTER VIII.

Conquests of Nawab Mustafa Khan

I. The Nawab Starts.:— On the 1st day of the month of Jamādī-ul-Awwal, [1056 A. H.] (5 June 1646 A. D.) Nawāb Mustafa K. started from Md.-pur to conquer the countries of Karnātak and Malnād, and the King in order to give him a hearty send-off accompanied him upto the Kālā-Chabūtra, which was situated near Ibrahīmpur.

Thence on the 2nd day (6 June) the Nawāb (hereafter to be abbreviated into N. only) started and reached the bank of the river Krishna, and stayed there for some days. He had with him Rustam-e-Zamān [who, I think, was the son of Rustam-e-Zaman, (Randaula), the elder], Farhad K., Pesh Jang K. and others.

2. Gumti Fort Captured :—When they reached near Bakar-Kond, the news was brought that on the bank of the river Palrī there was a fort named Gumti where a party of the robbers lived and was laying that

part of the country waste. In order to extirpate them the army went there and besieged the fort. The robbers fought from the 2nd hour (*Sāet*) of the day to the third hour of the night but finally gave way, fled away, and the fort fell into the hands of N. Then he resumed his journey to Karnatak and reached Gadag Lakmeshwar and stayed there as it possessed an exhilarating climate.

3. **Revolt of Rustam-e-Zaman** :—Now he heard the news of the sedition of Rustam-e-Zaman. Although N. tried his best to set him right, he did not mend his ways. Rustam-e-Zaman had mismanaged the affairs of the property which was acquired by his father. So the imperial order came from the King that he should be arrested and his .property confiscated. N. was on the look out for a proper opportunity and meanwhile reached near Honhalli (12 m. west of Baswapattan) but *R. Z.* still persisted in his objectionable doings, hence the serious apprehensions were cherished against him. So the property of such a recalcitrant *Vizir* was taken into possession so cautiously that no loss was sustained and no bloodshed occurred. But through the intercession and importunities of the illustrious Nawab, he was pardoned and that property also was restored to him which he had inherited from his father.

4. **Local Chiefs' Help** :—N. left that place on *3* Ramzan (*3* October, 1646 A. D.) and in the vicinity of that place he met Asad-ul-Khawānīn and Shahji Raja, who were sent in advance to guard the boundaries of Karnātak. At this stage on the 4th Ramzan (4th Oct.) Shivappā Nāyak,[1] *Zamindar* of the

1 Sivappa Nayaka, the younger brother of Virabhadra Nayaka of Ikkeri, murdered the latter and himself became the ruler of Ikkeri. After this he sent some of his officers with presents to Chikkadeva Raya

country of Malnad, came to N. and supplied him for the conquest of the Karnatak 1000 horse and 2000 foot, and he stationed himself on the frontiers of the country of the Raja of Seringpatan with 1000 horse and 30,000 foot.

In the second stage Dad (or Dādu?) Nāyak, Rajah of Harpanhalli, joined N. with a contingent of 30,000 horse and 2000 foot. Then N. went on, being thus strengthened, encamped near Sakripatan (near the southern end of the Shimoga District, 22 m. south of Bellur) and here he was joined by Hashmi (Husaini, *Sh. B.*, 9–34) Ambar Khan, Jujhār Rāo, Abāji Ghātge, brother of Keng Nāyak and the *Desāis* of Lakmeshwar and Kopal. These *Desāis* brought with them the contingents of 300 horse and 20,000 foot.

Bālāji, son of Haybat Rao, sar simt of Muhammad Nagar (Malnād), also came here with his contingent. Then by forced marches they reached Shiva Ganga, which is a big temple of the Hindus, and it is situated on a mountain which is very high. It is wonderful that on the top of that stony mountain there is a fount of water which is sweet and lucid. N. went on and in

---

of Seringapatam requesting an alliance with him. But Chikkadeva Raya rejected the offer seeing the nature of Sivappa Nayaka's accession to power.

Wroth at this Sivappa Nayaka took up the cause of Sriranga Raya III, the nominal emperor of Vijayanagar, against Chikkadeva Raya. Sriranga Raya had by that time lost all his northern possessions like Chandragiri and Vellore on account of the invasions of the Muhammadans. He then retired to the territories of the Nayakas of Gingi, Tanjore and Madura. When these latter failed him he was wandering over the country for want of supporters. Sivappa Nayaka now came to his help and ceded to him the districts of Hassan and Belur. By the influence of the nominal emperor, Sivappa Nayaka got in return the help of the chiefs of Aigur, Tariyakere, Harpanhalli, Chintanakal, Maddagiri and Gadag. With the aid of these chiefs he made war on Chikkadeva Raya of Seringapatam. (S. Krishna Swami Ayyangar, 'Sources of Vijayanagar Hist.' p. 309.)

this journey the ambassadors of the *Manaywārs* of Madura, Tanji and Tanjawar, who were the viceroyalties of Rayal but had revolted against him, came and paid their homage to N.

5. **Manaywars** :—The word *Manaywār*, as given in the M. N., was the title of the Rajahs of the forts which were situated in the neighbourhood of the fort of Tarpatri, *viz*. Madura, Tanji and Tanjawar etc., They were very rich. The Rajah of Madura was the owner of mines and the port of Kahalpatan which yielded jewels and pearls respectively. [*Sh. B*. 9, 40, gives his name as Trimala Nayaka, and *H. N. M*. pp. 110–149, gives Tirumala Nayaka (c.1623–1659).] The Rajah of Tanji had 24 thousand ladies in his *harem*, and 5 thousand elephants and 3 lakhs of footmen in his army. The Rajah of Tanjawar also commanded nearly the same pomp and pelf. He was known as Chorangnat. *Sh. B*. 9, 39, gives his name as Vijaya Raghava, and *H. N. M*., p. 158, also corroborates it.

6. **Manaywars' Homage**—When Rāyal (Sriranga III, the last King of Vijayanagar) saw that his subordinate princes have sought refuge with N., he planned to put N. off the scent, defeat the *Manaywars* and to fortify his passes. He sent his spiritual preceptor Venkayyā (or Venkannā) Somāji to Nawab in order to open negotiations with him and attacked the Rajahs of Madura, Tanji and Tanjawar with twelve thousand horse, 3 lakhs foot and 100 elephants. The Rajah of Tanji was subdued but the other two gave him a stubborn resistance.

When N. heard this he did not listen to the treacherous words of the ambassador of Rāyal and marched on up to the Kanvi (=pass) which is near Vellore, adjacent to

the capital of Rayal. N., however, told him that whenever Rayal would stop fighting with the *Manaywars* and return to Vellore he would stop there and then and effect peace between them.

7. **Pretended Negotiations of Rayal:**—Although this Rayal was installed on the throne after the defeat of his father with the help of Bijapur arms, he forgot all the obligations, acted ungratefully and withheld the annual tribute. It was, therefore, thought proper to help the *Manaywars* against him.

When Rayal's ambassador heard this, he promised that he would dissuade Rayal from his intentions in one week. He succeeded in this and Rayal returned to his capital. Then the abmassador left N. and took Mulla Ahmad with him to settle the terms of peace, and promised to bring Rayal to meet N. in Bala-e-Ghat (uplands) near Nilipatan (?). N. asked Mulla Ahmad to come back soon, as he was staying on the mountainous country about seven *farsangs* (*i. e.* 28 miles) away from Vellore, and, through the dalliance, Rayal may fortify the passess and block their passage. N. did not like that Venkanna Somaji might be allowed to go with Mulla Ahmed, as his presence would be a source of security against troubles, but Shahji prevailed upon N. saying " He has sworn by God before me." N. insisted that the *Manaywars* were unprepared at that time and that by the departure of Venkanna Somaji all control over the opportunity would be lost. Shahji Rajah persisted that he would be responsible for all that and stood surety for his conduct. N., after all, reluctantly yielded.

8. **Rayal's Revolt** :—As soon as V. Somaji entered Vellore, Rayal through his suggestion, began the preparations for war; organised defence, fortified the

passes and gave rewards to the Muhammadan soldiers who were with him. The envoys of the rebellious ministers of Rayal sent a message, concerning the movements of Rayal, to N. who was not at all upset at this news and prepared himself to give the battle. When Rayal reached the top of the mountain he broached his intention to and dismissed the Mulla. N. did not say a word at this to Shahji Rajah, though he had stood security for that. He took an augury from the Quran as there were two paths to reach the country of Rayal. The augury turned out for going through the country of Jagdeva and N. acted accordingly and promptly. He reached within two stages of the country of Rayal through the country of Jagdeva and overran it though it was a very populated and fertile land. Jagdeva was a Zamindar with 30,000 foot. [*S. B.*, 11-4, calls him the Rajah of Cauveripattan]. Rayal was taken by surprise as he was under the impression that the imperial army had retreated, so he had to go with speed to the Kanvi *i.e.* pass, to block the path. N. who was staying at Masti (30 m. e. of Bangalore) went forward. On the 1st Zilhijje 1056 A. H. (29 December 1646), Asad-ul-Khawanin with his big army, other *Vizirs* and the contingents of the Desais of Gadag and Lakmeshwar reached the dangerous pass leading into the country of Jagdeva and after making short work of the Hindu guards stationed there, entered it. He encamped at the neighbourhood and stayed there for 20 days. In the meanwhile he fell ill and retired to Masti which was at a distance of 5 *farsakhs* (20 miles) from the tank, but the other *Vizirs* stayed on there.

When Rayal heard this, he came to Guriatam and then through Jagdeva's country he reached near the

strong fort of Kishandurg, and started thence with the vast army of one lakh foot and 12,000 horse. He reached within 5 *farsakhs* (20miles) of the imperial army and, as soon as Shahji Rajah and the chief secretary of Asad K. got the news they wrote to N. for the reinforcements which he sent forthwith under his *Sar-Khayl*, with the instructions that he was coming with all speed and till his arrival they should not engage in a battle. The *Sar-Khayl* had traversed only two stages, when a furious battle came off between Jagdeva and the Bijapur army and the scene of action was at a distance of 6 leagues (24 miles) from N. Jagdeva was defeated, his mother killed and he himself forced to take refuge in the fort. He wrote to Rāyal, "I possess 36 strong forts and so am not at all afraid. You too go to your country and be prepared." In the meanwhile N. reached there and distributed rewards to the deserving persons. He then marched on to the pass, and encamped at the tank where Asad-ul-Khawānīn had stayed, and thence passing beside the fort of Ankusgiri (40 m. s. e. of Bangalore), he encamped in front of the fort of Kishandurg on 4th Muharram 1057 (30th January 1647.) The fort was besieged and the town fell first and then after a whole day's close fight, Jagdeva Rao took the *Qaul* (assurance) from N. and capitulated the fort.

9. Jagdeva's Forts Captured:—Then N. sent a troop with the Desai of Gadag Lakmeshwar to the fort called Virabhadra Durg, the capital of Jagdeva Rāo (25 m. s. of Ankusgiri). First of all the Desai captured one gate and the next day Asad K. and N. also came up and a pitched battle book place. Finally being defeated the son-in-law and the brother of Jagdeva who were in the fort took the *qaul* (assurance) and gave the key of

the fort to N. They were rewarded robes of honour and Bālāji Haybat Rāo was left there as the commandant. N. stayed there for two days and left it on 12 Muharram (7 Febr.) He proceeded on and the Peswā (minister) of Jagdeva got alarmed, came forth, yilded and gave the keys of the strong fort Deva Durg to N.

There was a big tank and a beautiful garden in that fort and N. stayed there for five days. Hasan K. Mayāneh, Yaqub and Dilāwar Khan were sent ahead with one thousand horse. Then he started with the whole army, reached Anandbār, stayed there for a few days, got the fort there repaired, and went to Amrāvati which was at a distance of 3 leagues from Anandbār. A powerful citadel was built there by the order of N. who stayed there for some time to enjoy the bracing natural scenery and the gardens which had 20,900 cocoanut trees in them. He returned to Anandbār and sent Asad-ul-Khawanīn to the fort of Guriatam, who reached there with rapid marches. Some of the *Vizirs* were of the opinion that the fort was impregnable as it was very strong and was protected by two wide ditches, but Asad K. was undaunted and having put a flank of the elephants in front of the army, attacked the fort. The garrison opened fire but the Bijapuris succeeded in breaking open the first gate and finally captured the fort after a tough fight. Hori (?) Narayan, who had come with 4,008 elephants to help the enemies, had to go back disappointed when he found Husaini Ambar Khan besieging the fort. The glad news were sent to N. who started for the place next day.

Then Waranjpur (or Waranchur ?) which was at a distance of four *farsakh* from Guriatam, was attacked. The Raja broke the huge iron idols of the temple,

threw them in a well and fled away. N. entered the fort and ordered the idols to be brought out but one of them was too heavy to be hauled up.

10. Rayal Defeated :—N. stayed at a big temple one *farsakh* from Vellore. A pitched battle took place between N. and Rayal.

The general of the enemy's army was Dāmalwar (or Wāmlūr). On his right hand Bahlol K. Shahjahanī, while on the left Dilāwar K. and Ragho Brahman Nizamshahi were commanding the troops. This wing was faced by the forces under Shahji and other Hindu *Vizirs* supported by Asad K. (and Abdul Qadir, *B. S.*, p. 321), while the other wing by those under Sīdi Rayhan, *R. Z.*, and others. The two armies were filed thus.

Bahlol K.	Dāmalwar (centre)	Dilāwar K. and Ragho
|	|	|
Sidi Rayhan, R. Z. and others	Nawab M. K.	Shahji and other Hindu *Vizirs* supported by Asad K.

Dāmalwar was wounded with an arrow shot by N. and fled away after the loss of 5,800 soldiers. Asad K. was wounded severely but was saved. Bahlol K. was routed. The Bijapuris encamped there in triumph. Then the fort of Vellore was besieged and the turrets were shot down. The Rayal yielded, requested for pardon and agreed to pay 50 lakhs of *huns* and 150 elephants as a present. N. halted there for one month, and then resumed his campaign.

11. Other Forts Conquered:—N. returned to Waranjpur and observed the festival of the birthday of the Holy Prophet.[1]

Thence he went to Guriatam with Asad K. and ordered the fort there to be razed to the ground as it stood on the frontier of the country of Jagdeva. Then the fort of Ranpur (Ambur or Tunnur ?) which was situated on the summit of a mountain, was captured. In this battle a cannon ball was aimed at the tent of N. he escaped narrowly. He started for Anandbār and received a robe of honour from the King through E'atabar K. Then he received presents from the Rajah of Gangavati and captured the fort of Taranpur, which was under Jagdeva. At Kavlipatan (Cauveripatan) Bahlol K. Shahjahani took *qaul* (assurance) and joined the Bijapuri army. The forts of Hassan Raidurg, Raidurg, and Virbhadradurg (known as Fateh durg) were taken. As the Nayakwars, (or Bamakwars), by the order of Jagdeva, had captured Ratangiri, N. sent Abul Fateh, Sar Khayl, to that side who took Kanakgiri and then Ratangiri was capitulated. Then the fort of Melgiri, Arjunkot and Dhalenkot, built by Ram and Laxman, the great heroes, were captured, and the last was got repaired also.

At this stage N. received a Farman from the King for returning, so he left, by orders, Asad-ul-Khawanīn and Shahji Rajah with other *Vizirs* in that country. The King came up to the river Kishna to receive the victori-

1 This reference gives a clue to the dates of these events. The birthday of the Holy Prophets is generally observed from 12 Rabi-ul-awwal and in 1057 A. H., this date corresponded with 8 Apl. 1647 A. D. So we can conclude that in the beginning of the month of April, N. was at Waranjpur, and as he came here after halting at Vellore for one month (*i. e.* whole of March), so the date of the fall of Vellore can be put down somewhere at the end of the month of Feb. 1647 A. D.

ous Nawab who had come in triumph with innumerable booty and presents.

12. Pilgrimage (*Urs*), **when Nawab was with the King** :—In the year 1057 A. H. (MS. gives 1037 which is a mistake of the copyist), 9 Zi-Qa'ad (26 Nov. 1647) the king started for the pilgrimage of Sd. Md. Husain Gaisudaraz. Although every year the birthday celebrations were held on the 1st Zi-Qa'ad, this year they were celebrated on the way to the pilgrimage (*i. e.* on the 10th or 11th Zi-Qa'ad). Zahūr also had presented one congratulatory poem on that occasion.

On 16 Zi-Qa'ad, which was the night of illuminations a stone light-pillar was erected, and on 20 Zi-Qa'ad (7 December 1647) the king left for the city of Bidar, where he heard the news of the revolt of Abdullah Qutub Shah and appointed K. K. for punishing him who was terrified and sent presents. On 16 Zil-hijje 1057 (2 Jan. 1648) the King started from Bīdar and reached Hasanabad in 4 days where he stayed for five days (*i. e.* up to 11 or 12 January), nominated Nawab M. K. for the conquest of Karnatak again, started for Md.-pur and reached there on 1 Muharram (17 Jan.)

13. New Farmans Discovered :—In the B. I. S. Mandal, Poona, collection, there is an original Farman of Muhammed Adil Shah, addressed to Yeswant Rao (Jaswant Rao Wadwe, *Sh. B.* XII 18-47): "By our orders Nawab Khan Baba (36 epithets have been used) has written to him that he should go to Jangama Kanvi (to be referred to in *M. N.* later on) with his contingent, should join Maharaj Farzindī Shahji Bhosle (6 more epithets have been used) and being in agreement and concord with the Maharaj (*ba Mahārāj yek-dil wayek jehet budeh*) he should practise loyalty to Govt. It is

incumbent upon him to obey the Nawab implicitly and to reach the *Mahāraj* as soon as possible. 25 Zil.hijje 1057 A. H (11 Jan. 1648 A. D.)"

It can be safely concluded that this Farman was sent from Hasanabad where the King was staying with the Nawab. By the bye, it may be noted *Sh. B.*, XII-18, affirms that Jaswant Rao Wadwe was one of the party which attacked and arrested Shahji at Jinji, and the words of the Farman, "be in agreement and concord with him", quoted above, give a clue to the fact that he was not on good terms with Shahji and so would have surely accompanied the Nawab to arrest Shahji after six months, although *M. N.* is silent on the point.

There are two other important and original Farmans of Bijapur in the above collection. One is addressed to Jujhar Rao Ghantge and the other to Ambar Khan, dated 1st and 21st Jamadi-ul-awwal 1055 A. H. (16th June and 6th July 1645 A. D.) respectively. They are asked to help Peshjang Khan as the *Kafirs* (Hindus) had besieged Bālāpur (Mysore). (Cf. Chp. V—10).

[It may be noted here that though this event is mentioned in the *despatches* it is not referred to in the *M. N*, which proves that Zahur has not used all the despatches. Heaven only knows how many documents have been lost and so nothing can be asserted dogmatically by a cautious and true historian. (Cf. App. 1.)

CHAPTER IX

Relations with Shahji Rajah

1. The Nawab Starts Again :—Nawab M. K. started from Hasanabad (probably on 12 January 1648 as soon as the King left the place and not on 17

January when the King reached Md.-pur, as Sir J. Sarkar states).[1]

When he reached near Jinjee, Mir Jumla who was already there, thought of creating some mischief. N. wrote to the King for reinforcements and K. K., R. Z., Af. K. etc. were sent from Bijapur, but they had to return from half the way as Mir Jumla had entered into a peace with N. and retired. [*H. N. M.*, p. 129, has a different narration–"Golkonda had laid siege to Jingee. Tirumal Nayaka secured the help of the Bijapur army and marched to the relief of Jinji. But Golkonda came to an agreement with the Bijapur army and entrusting it with the siege of Jingi, withdrew to consolidate her recent conquests. This *volte face* on the part of Bijapur, and quarrels among the heterogeneous army of the besieged, upset all calculations and the Muhammedans took possession of Jinjee.]

2. **Shahji's Achievements** :—N. conquered in one day the forts of Jangama [Kanvi (=pass,) referred to in the Farman] and Trinomal. Here Zahur has given a long *Qasideh* (encomium) in honour of the unique victory.

[Be it noted that Shahji was the only great and experienced commander, hero of so many Karnatak battles, who was with the Nawab in this expedition, when he performed the feat of conquering two forts in one day, yet Zahur does not refer to the exploits of Shahji who was there as is evidenced by the genuine Farman discovered by me, and quoted above. (Any gentleman can get a photographic copy of that Farman

---

1 'Sir J. Sarkar, *Shahji Bhonsle in Mysore*,' Mod. Rev. July, 1929, p. 11. From this article which is a summary of some chapters of *M. N.*, I have taken the position of the forts, given in the brackets, mentioned in the chapters 5 and 8.

from me to satisfy his honest doubt and to pronounce his own judgment about it.)]

I think Zahur was so full of singing the encomiums of his patron, Nawab Khan Baba, who entrusted him with the work of writing *M. N.*, that he could not think of any other personages, "mentioned in the despatches." Zahur nowhere states that he bases his statements on '*despatches*' faithfully and truly. I beg, therefore, to differ from Sir J. Sarkar when he says without a qualifying word in his article in *Mod. Rev.*, July 1929, p. 10, that "In all these wars Shahji did not take any part beyond what has been mentioned above. His achievements, if any, did not deserve to be *mentioned in the despatches.*" (Italics are mine). I would put it thus: In all these wars Shahji might have taken more prominent part but unfortunately either the *despatches* have not been unearthed yet or lost, and the account of these wars which is before us was written by a poet, a protege of Nawab M. K.

Shahji, moreover, belonged to the party of Khawas Khan and Murari, the enemies of Nawab M. K., who at last threw him into prison at Belgaum. Whenever the star of Nawab was in ascendancy, that of Shahji was in decline. Under these circumstances although the achievements of Shahji might have been mentioned in the despatches, yet *Zahur has not referred to them* in his *M. N.*

3. Conquest of Jinji:—After putting down the revolt of Mirjumlah Qutub Shah, the Nawab reached Jinji. He found it a very formidable, almost an impregnable fort. The description of the strength, height and fortification of the fort is given in an exaggerated language.

4. **Arrest of Shahji**:-- (*a*) *According to M. N.* "As the siege lingered on Shahji Rajah who always changes sides like the dice of the gamblers, sent his chamberlain to the Nawab, requesting his permission to go to his own dominion, so that his soldiers may get some rest.

The Nawab replied that it amounted to creating disturbance if he were to break off at that critical time. Thereupon Shahji Rajah again sent a word to him that in the camp,grain was very dear and the soldiers could no longer put up with hardships and trouble, and that under those circumstances there was no need of taking any permission and that he would leave for his country without any premission.

When the Nawab found that Shahji Rajah was bent on kicking up a row, and through fox-like cunningness wished to mar the game, he used extreme prudence and skill and imprisoned him in such a manner that out of his ministerial property not a single *tasu*[1] was lost, and all his wealth and property was taken into possession by the imperial authorities." No date is given.

(*b*) *According to B. S., p. 325.* :—" When the siege of Jinji was going on some incidents happened which became the cause of disunion and disaffection between the Nawab and Shahji Rajah. Shahji, turning his head aside from obedience to the Nawab, practised opposition. It came to such a pitch that the Nawab thought of plans to arrest him. One day he made Baji Rao Ghorpade, Yeswant Rao[2] and Asad Khan ready

1 In the manuscript one word is illegible and I have deciphered it as "*yek tasu*" a two barley weight ; an insignificant part of a thing.

2 Sir. J. Sarkar, in his "*Shivaji*," 3rd Ed. p. 36, translates "Jaswant Rao Asad Khan," but this, in my opinion, is wrong. The

(*Contd. on next page.*)

and entered (I read *khazid*) the camp (of Shahji) early in the morning. By chance Shahji, having passed that night in banquet and enjoyment, was sleeping at that (soothing) time of the dawn. As soon as he came to know about the arrival and intention of Baji Rao and Yeswant Rao, he came out of his tent in great confusion, jumped on his horse and spurred it on alone in order to carry himself to a place (of safety). Baji pursued him close and quick, arrested him, brought him before the Nawab and kept him in confinement. Three thousand horse which accompanied him dispersed and much plunder happened in the camp." No date is given.

(c) *According to Shiva Bharata, Chapter 12 :—*

"Early in the morning when the sun was peeping out and the bracing breeze was blowing Dilāwar K. Mas'ūd K., Ambar K., Rajahs of Adoni and Karnpur, Farhad K., Khairat K., Yaqut K., Azam K., Bahlol K. Malik Raihan K., Ballal, son of Haybat Raja/(=Rao), Sidhoji, Mambāji Pawar, Mambāji Bhosla, and some other nobles, besieged the camp of Shahji. As they had kept awake last night they had no idea of such a surprise attack and were unprepared, and so there was great disorder and tumult in the camp. M. K. himself was commanding the forces. Then Khandoji, Ambaji, Manaji, Baj Raj Ghorpade, Yeshwant Rao Wadwe, and others entered the camp of Shahji and thus awakened him. Shahji ordered all his nobles to be prepared.

---

lithographed edition of *B. S.* reads, " Yeswant Rao " and "Asad Khan" in two places, on pp. 325 and 327, which is quite clear and there is no need to change it. Moreover the contemporary Farman referred to in Chp. VIII which was written before six months does not call Yeswant Rao as 'Asad Khani.' *Sh. B.*, 12-18, also calls him ' Jaswant Wadwe ' and not ' Asad Khani. '

Then Shahji rode on a powerful horse and attacked Baj Raj Ghorpade. The faithful nobles of Shahji tood on all sides to protect him, then, a close fight began and Shahji exchanged blows with Baj Raj Ghorpade and in the end swooned, fell down wounded and was arrested by Baj Raj (Ghorpade) himself."

5. **Jinji Captured** :—The Nawab imprisoned Shahji Rajah by the order of the King Muhammad Adil Shah and again busied himself with the siege. He fell a victim to a serious disease and died after some time. So Muzaffar-uddin Khan-e-Khanan was instructed by the King to take his charge immediately and to postpone the conquest of the country of Tarpatri, (*B. S.*, p. 326, Nandīhal) for which he was sent. The Khan accordingly reached Jinji, and eventually stormed the fort. Afzal Khan played an important part in this battle. K. K. took the treasures of the Rajah of Jinji in his possession and sent them with innumerable property and riches to the Court. Zahūr wrote a long *Qasideh* in honour of the victory, which is given in *M. N.*

B. S., p. 328-329, gives an additional information :— The Rajah of Jinji, Rūp Nayak, was very proud and wealthy. In this siege the Rajahs of his neighbourhood did not help him and after a protracted siege he yielded for want of food and fodder and entrusted the fort to the Bijapuris on Wednesday, 22 Zī-hijje, 1058 A. H. (28 December 1648 A. D.). The country which had nothing except idol-worship and infidelity for thousands of centuries was illuminated with the light of Islam through the endeavours and good wishes of the King. The treasures, gems, jewels and other property worth four crores of *huns* was added to the imperial treasury.

Mosques were erected in the cities which were full of temples and the preachers and criers were appointed in order to propagate the Muhammadan religion.

6. **Shahji Brought to Bijapur** :—When Jinji was captured the Khan sent Afzal Khan with 89 elephants loaded with the booty, and Shahji Rajah also was sent with him with fetters on his feet.

B. S., p. 327 mentions : 'The King sent Afzal K. from Bijapur to fetch Shahji (from Jinji) and an eunuch, Malik Eatabar K., to confiscate the property of Shahji. They were still in the way when the Nawab M. K. breathed his last on Thursday, 3 Zi-qa'adeh 1058 A. H. (9 Nov. 1648).'

The King received Afzal Khan with great *eclat* in the Kalyan Mahal when the *Nauroz* (*jashn*) was being celebrated.[1] [*Nauroz* fell on 10 Mar. 1649].

Shahji Raja who was brought in chains. was sent to the prison of example, and at this kind treatment of the King towards Shahji, the nobles and the residents of the city were surprised, because they thought that Shahji Rajah deserved capital punishment and no favour in the form of a guard or watch. As he was put in confinement, they thought that he might be pardoned and liberated, Some of the councillors did not like his release in the least as he was very cunning and resourceful. Another party was unanimous that to bestow

---

1 This reference in *M.N.* gives us a clue to the date when Shahji was brought to Bijapur. The *Nauroz jashn* (festival) was generally observed in the month of March, so we can safely conclude that Shahji was brougnt to Bijapur in March 1649 A. D. *Haft Kursi*, p. 57, states that Shahji was brought to the court in 1058 A. .H (1648 A. D.)

2 It may be noted here that '*the prison of example*' (Zindane-'ibrat) does not mean the prison of modern times, but an ordinary confinement without fetters, as Shahji occupied a high rank in the peerage of the Adil Shahi government. This was why the people were surprised.

liberty on that treacherous and reckless fellow would tantamount to trampling the tail of a snake, or opening the knot of the tail of a scorpion with one's own hand with full knowledge of and after seeing clearly (the danger involved in the adventure). It is not the way of the wise to regard a porcupine as a heap of mud and a wasps' abode as a fit pillow for the head.

7. **Release of Shahji**:-- The King, who was ever ready to pardon the crimes of the created beings, entrusted Shahji Rajah to Ahmad Khan, *sar sar naubat*, with the instructions that if Shahji would give up to the imperial authorities the strong fort of Kondwāna (which fell into his hands in the period of anarchy which follwed the fall of Nizām Shahi), with the forts of Kundarpi and Bangalore, he would be honoured with his former position.

Khan Ahmad Khan accordingly carried Shahji to his own house and kept him in confinement. Then he broached to him the glad tidings of the royal kindnesses and left no stone unturned in sympathising with him and soothing his heart. When Shahji saw that his black deeds had brought forth white flowers on account of the showers of royal favours, he agreed readily to obey implicitly. He sent letters to his two sons, who were firmly seated in the above mentioned forts: "As soon as these few sentences reach you, you should deliver the forts of Kondwana, Bangalore and Kundarpi to the trusty agents of the Emperor." They abided by this behest of their father immediately.

The King called Shahji Rajah in his presence and honoured him with the robe of *vizārat*, and restored to him his former country. *Sh. B.*, 15-(37-39), says that Shahji was asked to write to his sons for restoring the

forts of Sinhagarh (Kondāna) and Bangalore; and *Jedhe Shakavali*, for the fort of Kondana only.

8. **Sir Jadunath Sarkar's Views Examined**:—Sir J. S. in his *Shivaji*, 3rd ed., writes on p. 36, "Shahji was brought in chains to Bijapur and kept in prison along with his eldest son." On the next page he writes, "in Murad's letter of 31 Oct. 1649, Shambhuji and other sons of Shahji are spoken of as sharing his captivity."

But I think he was misled by the sentence "*Sambha jyu waghaireh pisran niz ba tawajjuh-e-wala nijat yafteh...*" (Sambhaji etc, your sons also will get freedom through our patronage). The word "*nijat*" does not mean here 'release from imprisonment' which Sir J. S. has represented. It means simply "freedom from anxiety and trouble." [Cf. the letters of Murad, given in App. 2.]

The sons of Shahji were apprehensive of the fate of their father who was still in the midst of his enemies and because he was then the foremost Hindu noble of Bijapur, he was the *cynosure* of the spiteful eyes who had seen him in the prison of example (*Zindān-e-ibrat*). The *M. N.* itself states in so many words: "Shahji sent letters to *his two sons* who were firmly seated (quite safe) in the above-mentioned forts." In the beginning of this very letter of 31 October, Murad writes that he had received Shivaji's petition (some time back and not recently) for the release of his father (and not for that of his brothers). Had his brothers also been in prison at Bijapur that fact also must have been referred to in this sentence. But it was not so. In the face of these contemporary documents Sir J. Sarkar's interpretation is untenable.

Unfortunately for the Maharashtra and, for the matter of that, for India, Sir Jadunath Sarkar, on the

basis of some arguments, wrote a strong and 'sweeping criticism against the Marathi histories and documents.

In the foot note appended to p. 36 of his *Shivaji*, 3rd ed., he writes :

"The *Jedhe S.* gives 16th May 1649 as the date of this release (of Shahji), but it is inconsistent with Murad's letters cited above, except on the suppositions that Shivaji never replied to Murad's repeated letters [as Rajwade imagines, ix c, 4-5] and that the Mughal viceroy of the Deccan did not hear of Shahji's release at Bijapur for six months after the event, though Shahji was then the foremost Hindu noble of Bijapur. Therefore, either these Persian letters (preserved at Satara) were forgeries, or Jedhe's early dates are unreliable. I am inclined to place the event at the very end of the year 1649. The *Jedhe S.* says that the price of Shahji's freedom was the restoration of Kondana (*Shiva Bhārat* adds, Bangalore also) to Adil Shah."

Then he quotes passages regarding the death of Shambhuji, the birth of his son, and last of all *Sh. B.*'s account of the victories of Shambhuji and Shivaji over the Bijapur armies. He disbelieves these and writes. "*All these sources are unreliable.*"

In my opinion *Jedhe's* date of the release of Shahji is correct.

Shahji was brought to Bijapur in March and during the interval of two months the procedure of sending the letters to his sons and the restoration of the forts must have been finished as they were very anxious to see their father free, and Shahji might have been released on 16th May 1649. There is nothing conflicting between this date and the letters of Murad. The reference of the forts which were demanded as 'the price of Shahji's

freedom also is correct as it is supported by the *M. N.* which he calls "earliest and most correct account." When *Shiva Bhārat* is correct in so many places, as is evidenced by the references culled in the present pamphlet of mine, I am led to believe that the account of the victories of Sambhaji and Shivaji too is correct, although it is not given in the *M. N.* We cannot expect Zahur, its author, who was a poet first and a historian afterwards, to speak of the humiliating reverses which his patron's (Nawab M. K's) forces experienced at the hands of the enemies.

Then on p. 38, Sir J. S. writes; "It is, therefore, historically true that the release of Shahji was due to the friendly mediation of Sharza Khan and the bail of Randaula Khan." In the 3rd ed. he gives no authority, but in his first ed. p. 48, he holds that the account (given above) by Malhar Ram Rao (*Chitnis Bakhar*) is right. But this view is wrong as the *M. N.* does not refer to it, and as Sir J. S. himself admits that 'the *Chitnis Bakhar*' is a 19th century fabrication.

It is not always safe to say that the Persian histories are reliable and that the Marathi histories are unreliable. The *M. N.* itself has got so many wrong dates, but we do not reject the whole of it on that score.

6. **Miscellaneous Note** :—The King married the daughter of Shah Bani-al-Husaini and her name was Hazrat Begam Sultan. She gave birth to a son on 3 Jamadi-ul-awwal 1059 (6th May 1649).

CHAPTER X

Conquests of Khan Muhammad

1. **Abdulla Qutub Shah's Request** :—A letter came from him to the effect, "I will give you 4 lakhs of *huns* and four precious rubies, if you will allow me to

conquer the fort of Kundi Kotah and the country of Kokabwars." The King granted his request.

Accordingly Abdullah Q. Shah sent Mir Jumla to Kundi Kotah and he captured it. Then he marched on the fort of Chandra Gutti and captured it too. Being puffed up with pride at these successes he trespassed the proper limits and began extending his hand here and there. So Md. Adil Shah sent Khan Md. (K. M. hereafter) to punish Mir Jumla and to regain the forts.

2. **K. M. Starts**:--K. M. reached Chandra Gutti and thought of attacking Mir Jumla, who took refuge in a castle and sent Md. Khan Lodi against the Bijapur army under Baji Ghorpade, only to be defeated. Mir Jumla then sued for peace and his petition was accepted. K. M. captured the fort of Pul-Konda and then halted at Qasba Rud.

3. **Ambar Kala Killed**:--An order came from the King that Ambar Kala who is a vizir of Sidi Rayhan should be imprisoned or killed. Ambar Kala himself came to see K. M. with a contingent of 7000 horse and asked his permission to go to the fort of Sera. Daulat Khawas Khan was asked to arrest him but in the affray which followed Amber Kala was killed.

Then K. M. captured the fort of Pul-Konda and gave it the name of 'Takht-e-Mubarak.' Sidi Rayhan revolted with the Rajah of Mysore but could not effect anything.

Now, K. M. wished to return to Bijapur, but the King sent Sayyad Nurullah, son of Sd. Ali Md.-al-Husaini (author of the '*Tarikh-e-Ali Adil Shahi*') who was Sar Khayl-ul-Mumālik, with robes of honour for K. M. When Sayyad reached the fort of Mudkal there

was a heavy rainfall and some thieves entered his tent but he killed them all.

In the meanwhile K. M. had started from Pulgonda and came up to Badkot where Sayyad met and prevailed upon him with great difficulty to give up his idea of going back to Bijapur. Then Sayyad Nurullah arranged a feast and left for Bijapur.

4. **Wars with Mysore:**–K. M. intended to put down. the revolt of the Rajah of Mysore He conquered all the forts in the country of Jagdeva which were taken by Mysore. Then he attacked Kishangarhi which was well fortified by the Rajah of Mysore. In this siege Bahlol Khan Shahjahani brothers distinguished themselves by scaling the walls. After conquering this fort, K. M. attacked the fort of the Rajah, who fled away with his life. Then K. M. captured four other forts.

In the meanwhile a farman came that Shrikraj (Srirang Raj III) Raja of Vellore had sent Mir Jumla to the Mughals for help with costly presents and so he should be punished.

K. M. started for Vellore and sent Sidi Masud against Dās Rāj, the *Peshwah* of Mysore, at Cauveripattan who was defeated. Srirangraj could not fight with K. M. and so fled away and Vellore fell before the Bijapur arms. The Rajah of Bedrah was asked by K. M. to give money for the presents of the King. He said, "First defeat the Rajah of Mysore and then I will give you presents." K. M. attacked the Rajah of Mysore, who sent Balaji Haybat Rao, (formerly of Bijapuri service) against K. M. Sidi Masud killed Balaji. Then the Raja sent a message for peace and his request was granted. He promised to give yearly tribute and his

treasury. K. M. took precious and rare presents from the Rajahs of Mysore and Bedrah and prayed for the long life and victory of the King.

End of Md. Nama

M. N. ends here abruptly. A colophon is given which is already quoted in the introduction. For the remaining portion of the reign of Md. Adil Shah we find some account in the article of Prof. Heras, "*Some Unknown Dealings between Bijapur and Goa*" describing the events from 1654 to 1656. *B. S.* gives an account of his administration.

Death of Md. Adil Shah

"Sultan Muhammad died at the ninth *tās* (hour) of day, on Tuesday, 28th Muharram, 1067 A. H." (*B. S.*, p. 344.) In Khare's *Jantri*, this date coincides with Thursday and not Tuesday, and with 6th Nov. 1656 A. D. and not with 4th Nov. as given by Sir J. Sarkar in his *Shivaji*, III ed., p. 48. So if the weekday is to be taken into consideration, the date of death falls on 4th Nov., and if the date, 28th Muharram, on 6th Nov. 1656 A. D. Sayyad Nurullah in his "*Tarikh-e-Ali Adil Shāhi*" writes that he died on Tuesday 26th Muharram, 1066 A. H., and three chronograms are given.

This date corresponds with 15 Nov. 1655, but the day is Thursday. The chronograms give 1077, 1068 and 1067 A. H. as the Year, and so I think the correct date is Tuesday, the 26th Muharram, 1067 A. H. = 4 Nov. 1656 A. D.

